श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

तन्त्रसारः

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्यसंवलितः

डा. परमहंस मिश्र

Reckee - Delhi
09899348277

महतो अमरेश पूज्य मानो
आनिष्पं तिष्ठस्य [illegible] कुसुम
बहिर्अन्तर अपीह दृश्यमाना
स्फुरसि दृष्टु शरीरैव शाश्वत।

TANTRASĀRA

।। श्रीः ।।

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
२६१

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-
श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

तन्त्रसारः

'नीरक्षीरविवेक'-हिन्दीभाष्यसंवलितः

प्रथमः खण्डः

(अध्यायाः १ - ७)

भाष्यकार
डॉ० परमहंस मिश्र

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263
ई-मेल : csp_naveen@yahoo.co.in

पुर्नमुद्रित संस्करण 2008
मूल्य : 150.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए, बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : 23856391

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001
दूरभाष: 2420404

मुद्रक
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-110027

विषयानुक्रमः

आमुख

अपने देश में षड्दर्शन ही अधिकतर प्रसिद्ध हैं। प्रायः लोग यह जानते ही नहीं कि, छः दर्शनों के अतिरिक्त भी कुछ हमारे यहाँ चिन्तन हुआ है या नहीं। कश्मीर में त्रिक या प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से जिसका प्रचार हुआ, उससे प्रायः लोग अनभिज्ञ हैं। किन्तु निष्पक्ष रूप से यदि देखा जाय, तो कहना पड़ेगा कि, यह भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का चूड़ामणि है।

अधिकतर संस्कृत के पण्डित भी इस विषय में कुछ नहीं जानते, हिन्दी की बात ही न्यारी है।

इस शास्त्र के सबसे बड़े प्रतिपादक महामाहेश्वर श्री अभिनव गुप्त हुये हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अभिनव गुप्त' में लिखा है कि अभिनव गुप्त द्वारा लिखित ग्रन्थों की सूची ४४ तक पहुँचती है। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। नाट्य, काव्य, तन्त्र, मन्त्र, दर्शन के वह अद्वितीय पण्डित थे।

उनके समान पण्डित न तो भारत में, न किसी अन्य देश में आजतक कोई हुआ।

शैव दर्शन, नाददर्शन, मन्त्र, सत्तर्क, सहज विद्या, सौन्दर्य बोध, काम-कला, योग इत्यादि का अपूर्व समन्वय है। उन्होंने तन्त्रालोक नामक ग्रन्थ में १२ खण्डों में शैव दर्शन के सभी पक्षों पर अद्भुत प्रकाश डाला है।

उन्होंने यह अनुभव किया कि इतने विशाल ग्रन्थ को लोग न तो पढ़ सकेंगे, न समझ सकेंगे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

"विततस्तंत्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः शृणुत॥"

अर्थात् "तन्त्रालोक एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें सबका प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिए मैंने सरल शब्दों में तन्त्रसार की रचना की है।" इसमें सन्देह नहीं कि तन्त्रालोक का सारा सार 'तन्त्रसार' में आ गया है।

इस तन्त्रसार में उन्होंने 'गागर में सागर' भर दिया है। 'शिव' उपेय है। वैसे तो शिव सबके भीतर विद्यमान हैं। केवल अविद्या के कारण जीव उसे 'उपेय' समझता है। किन्तु जब तक अविद्या है, तब तक अविद्या को हटाने के लिए 'उपाय' की आवश्यकता हो ही जाती है। शैवागम में चार उपायों का वर्णन है। इतने उपायों का वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। तन्त्रसार में अभिनव गुप्त ने सबसे पहले उपायों की व्याख्या की है। उनकी व्याख्या कितनी विशद है—यह एक छोटे से उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

वेदान्त ने ब्रह्म की प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन उपाय बतलाया है। यह शैवागम के शाक्तोपाय से कुछ-कुछ मिलता है। परन्तु वेदान्त ने यह स्पष्ट नहीं किया कि, मनन किस प्रकार निदिध्यासन में परिणत हो जाता है, मनन और निदिध्यासन में साधक की मानसिक दशा में क्या परिवर्तन होता है। इस समस्या का समाधान शैवागम में ही मिलता है।

सभी साधनायें एक तथ्य से सहमत हैं। मन विकल्पात्मक है, शिव वा ब्रह्म निर्विकल्पक है। अतः विकल्पात्मक मन के द्वारा निर्विकल्पात्मक ब्रह्म या शिव या निर्वाण का अनुभव असम्भव है। वेदान्त की मान्यता है कि मनन के द्वारा ब्रह्म को ज्ञान सम्भव है। किन्तु जब मन का स्वभाव ही विकल्पात्मक है, तब मनन के द्वारा निर्विकल्पात्मक ब्रह्म का ज्ञान कैसे सम्भव है?

इस समस्या का समाधान केवल अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक और तन्त्रसार में दिया है। विस्तारभय से हम मूल श्लोकों का उद्धरण यहाँ नहीं दे रहे हैं।

अभिनव गुप्त का कहना है कि, जब हम सविकल्पक मन के द्वारा ब्रह्म या शिव वा मनन करने लग जाते हैं, तब विकल्प का संस्कार, शोधन, परिमार्जन प्रारम्भ हो जाता है। स्वरूप चिन्तन की विकल्प परम्परा धीरे-धीरे (संस्कारयुक्त) और परिमार्जित होने लग जाती है और अन्ततोगत्वा जब वह स्फुटतम अवस्था में पहुँच जाती है, तब—

"ततः स्फुटतमोदार-ताद्रूप्यपरिबृंहिता।
संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम् ॥" (तंत्रालोक ४, ४)

संवित् विमल निर्विकल्प रूप में परिणत हो जाती है। "इत्थं विचित्रैः शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः (यत्) अनपेक्षितविकल्पं स्वाभाविकं परमार्थतत्त्वं प्रकाशते" (तन्त्रसार–पृ० ३७) अर्थात् अब विकल्प शुद्धविद्या (स्वरूपविमर्शात्मक ज्ञान) का अंश बन जाता है और उस परमार्थतत्त्व को प्रकाशित करता है, जिसमें विकल्प की कोई गति नहीं है।

एक और उदाहरण लीजिए। यह बहुत से शास्त्रों का सिद्धान्त है कि, ब्रह्म नादरूप है और उसी से सारी सृष्टि होती है। भर्तृहरि के वाक्यपदीय का पहला ही श्लोक कहता है—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ-भावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

अर्थात् ब्रह्म का न आदि है, न अन्त है। उसका कभी क्षरण नहीं होता। उसका स्वरूप शब्द अर्थात् नाद है। वही नाद विषयों के रूप में विविध प्रकार से प्रकट होता है और उसी से जगत् की सृष्टि होती है। इस सम्बन्ध में दो स्वाभाविक प्रश्न उठते हैं।

१. क्या नाद जो शिव में उद्भूत होता है, वैसी ही ध्वनि है, जैसी हम साधारणतः सुनते हैं। २. यह नाद सर्जनात्मक किस प्रकार होता है?

इन प्रश्नों का उत्तर तन्त्रसार के एक ही वाक्य में विद्यमान है। "आमर्शश्च अयं न सांकेतिकः, अपितु चित्स्वभावतामात्रनान्तरीयकः परनादगर्भ उक्तः, स च यावान् विश्वव्यवस्थापकः परमेश्वरस्य शक्तिकलापः तावन्तम् आमृशति" (तं० सा० पृ० १२) वह शैवी नाद लौकिक ध्वनि के समान कृत्रिम नहीं है। जैसे मनुष्य "मैं" बोलता है, वैसे शिव "मैं" नहीं बोलता। शिव का "स्वरूपविमर्शात्मक अहं" वह चेतना है, जिसके गर्भ में परनाद है। वह अमायीय, अकृत्रिम नाद है। यह पहले प्रश्न का उत्तर है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि, वह स्पन्दन स्वरूप है। वह सर्जनात्मक विसर्ग है। वह शक्ति स्वरूप है। विश्व को व्यवस्था के लिए जो कुछ शक्ति समूह है, वह उस नाद में निहित है।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा कि 'तन्त्रसार' एक असाधारण ग्रन्थ है। अभी तक इसका अनुवाद प्रोफेसर न्योली द्वारा इटालियन भाषा

में हुआ है। फ्रेंच में इसके कुल पाँच आह्निकों का अनुवाद सुश्री सिलवर्न ने किया है। संसार की किसी अन्य भाषा में इसका अनुवाद अभी तक नहीं हुआ है।

यह बड़े हर्ष का विषय है कि डॉ० परमहंस मिश्र ने इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसपर वही लेखनी उठा सकता है, जो इन सबके मर्म को अच्छी तरह समझता हो। आप संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित और सिद्ध कवि हैं। उन्होंने इसका अनुवाद मात्र नहीं किया है, अपितु 'नीरक्षीरविवेक' भाष्य लिखकर अपने नाम को चरितार्थ किया है। उन्होंने मूल संस्कृत का तो अनुवाद किया ही है, प्राकृत के श्लोकों की जो संस्कृत छाया है, उसका भी अनुवाद कर दिया है। अनुवाद की भाषा संस्कृत-गर्भित है, परन्तु उन्होंने पारिभाषिक शब्दों का अर्थ भी दे दिया है। इससे अनुवाद की भाषा समझने की कठिनाई बहुत अंश तक दूर हो जायगी। उनके इस अनुवाद से मातृभाषा के शब्द भण्डार में दर्शन के बहुत शब्द आ जायेंगे। आशा है इस ग्रन्थ को हिन्दी पाठकों द्वारा समुचित आदर मिलेगा।

जयदेव सिंह

प्रास्ताविक

अभिनवगुप्त का भारतीय मनीषियों में अपना विशिष्ट स्थान है। मम्मट ने भरतमुनि के रससूत्र की अभिनवकृत व्याख्या को ही सर्वोच्च मान्यता दी है। अभिनवगुप्त के आलंकारिक, दार्शनिक और आगमतन्त्र-विषयक पक्ष पर तथा इनकी कृतियों और काल के विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है।

तन्त्रालोक के ३७ आह्निकों का संक्षेप स्वयम् अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार में किया है। तन्त्रसार में २२ आह्निक हैं। तन्त्र-जगत् में इस ग्रन्थ का वही महत्त्व है जो वेदान्तदर्शन में 'वेदान्तसार' का है। इसके भी प्रारम्भ के ७ आह्निक तन्त्रदर्शन की शैव धारा के महत्त्वपूर्ण अध्याय हैं। उन्हीं ७ आह्निकों का भाष्य इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में प्रस्तुत है।

वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान शीर्षक के अन्तर्गत बौद्ध तन्त्रों का विभाजन किया गया है। वर्षोदय की प्रक्रिया में कालचक्रयान का सहज दर्शन किया जा सकता है। स्वच्छन्दतन्त्र के सप्तम पटल में भी आध्यात्मिक काल के रूप की यही प्रक्रिया विवेचित है। वज्रयानी बौद्ध तन्त्र हो, शैव, शाक्त या कौलिक तन्त्र हो, सर्वत्र उनकी बाह्य और आन्तर उपासनापद्धति में कालचक्र का, सहज अथवा अनुपाय प्रक्रिया की स्थिति का आकलन साधक को सहज सम्भाव्य है।

त्रिपुरा सम्प्रदाय की तिथि-नित्याओं की उपासना में भी कालचक्र के माध्यम से साधक सहज स्थिति तक पहुँचता है। तन्त्रसार के कालाध्व और देशाध्व सन्दर्भों की यही महत्ता है कि इसके माध्यम से साधक विश्वमयता का आकलन करता हुआ विश्वोत्तीर्ण हो जाय।

षडध्वशुद्धि प्रक्रिया का विवेचन द्वैतवादी सिद्धान्त शैवागमों का अपना विषय है। इसकी परिणति अद्वैतवाद में होती है। वहां शब्दत्रिक और अर्थत्रिक के भेद से इनका निरूपण किया गया है, जबकि अभिनवगुप्त के कालाध्व और देशाध्व विभाग के अन्तर्गत इन्हीं त्रिकों का वर्णन स्वतन्त्र पद्धति से किया गया है।

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की मान्यता है कि रहस्य को एकाएक प्रकट नहीं कर देना चाहिए। साथ ही इसको अत्यन्त गुप्त भी नहीं रखना चाहिये क्योंकि उसके अनधिकारी के हाथ में पड़ने और नष्ट होने का भय बना रहता है।

इन दोनों के बीच का रास्ता यह निकाला गया है कि, रहस्यात्मक विधियों का निरूपण एक ही स्थान पर न कर उनका अलग अलग सन्दर्भों में वर्णन किया जाय। ऐसा करने से अनधिकारी सामान्य जन के पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा और सुबुद्ध अधिकारी व्यक्ति इन सन्दर्भों की कड़ियों को जोड़ कर इनका रहस्य भेदन कर सकेगा।

तन्त्रालोक और तन्त्रसार में वाम, दक्षिण, कुल, क्रम और षडर्ध आदि रहस्याम्नायों की विधि समझाने के लिए आचार्य अभिनवगुप्त ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनेक ग्रन्थों के इधर हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत हुए हैं, पर तन्त्रसार की कोई व्याख्या संस्कृत या हिन्दी में उपलब्ध नहीं है।

यह प्रसन्नता की बात है कि, तन्त्रसार जैसे गम्भीर ग्रन्थ को राष्ट्रभाषा के माध्यम से समझाने का प्रथम प्रयत्न इस शास्त्र के अधिकारी विद्वान् डॉ० परमहंस मिश्र कर रहे हैं। यह मणिकांचन संयोग ही माना जायगा कि आप 'मधुमयं रहस्यम्' जैसे कविता संग्रहों के रचयिता होने के साथ-साथ 'प्रसाद और प्रत्यभिज्ञादर्शन' जैसे उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक और साहित्य के सौहित्यवर्द्धक शोधप्रबन्ध के भी रचयिता हैं। गायन्त्री मन्त्र के मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र पर इनका एक महाकाव्य भी शीघ्र ही प्रकाश्य है।

प्रारम्भ में ग्रन्थ के प्रत्येक वाक्य का सरल अनुवाद कर देने के बाद 'नीरक्षीर विवेक' नामक हिन्दी भाष्य में इन्होंने पारिभाषिक शब्दों के निगूढ अभिप्रायों को प्रस्फुटित करने का सराहनीय प्रयास किया है।

हमारा निश्चित मत है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन को हिन्दी भाषा के माध्यम से समझने वाले जिज्ञासु अध्येताओं के लिये यह ग्रन्थ परमोपयोगी सिद्ध होगा।

यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में रखने के योग्य है, जिससे शैवदर्शन के स्वाध्याय में महनीय योगदान हो सकेगा। मैं ग्रन्थकार को अपना हार्दिक्य अर्पित करते हुए साधुवाद दे रहा हूँ और इस ग्रन्थ के प्रचार-प्रसार की कामना करता हूँ।

व्रजवल्लभ द्विवेदी
पूर्व सांख्ययोग तन्त्रागमऽविभागाध्यक्ष
वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी

नीर-क्षीर-विवेक-विमर्श

हमारी व्यष्टि सत्ता, विराट्, विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण सत्ता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह अन्तर जो दीख पड़ता है, इसका कारण भी विचित्र है। आप देखते हैं—एक व्यक्ति विभूति रमाकर, जटाधारण कर कुछ दूसरा ही हो जाता है। एक पुतले की बड़ी सी बनावट में खड़ा वामन विराट् लगने लगता है। वैसे ही यह परम शिवरूपी चतुर शिल्पी है। यह सर्वकर्तृत्व सम्पन्न है। सब कुछ कर सकता है। सर्वज्ञ है। सब कुछ जानता है। यह पूर्ण है। इसमें कहीं कोई कमी-अभाव नहीं है। यह नित्य है। अकाल पुरुष है। काल इसको कीलित नहीं कर सकता। यह सर्वव्यापक है। कहीं है और कहीं नहीं है, ऐसी बात नहीं है अपितु कण-कण में व्याप्त है। इसके साथ ही इसमें एक विलक्षण बात है। यह 'स्व'-तन्त्र है। स्वतन्त्र का भाव 'स्वातन्त्र्य' कहलाता है। स्वातन्त्र्य के कारण स्वेच्छा से यह सारा खेल खेलता है।

खेल अकेले खेलने में आनन्द नहीं आता। आपने सुना है—गुना है—रासलीला का रहस्य। यमुना के पुलिनों पर पूनम के प्रकाश में महारास रचाने वाले योगीश्वर कृष्ण के चिदानन्दमय महोल्लास की तरह परम शिव भी स्वातन्त्र्य के बल पर विश्व का महारास रचा रहा है। इसके पास 'माया' नामक एक शक्ति है। वह मंच बन जाती है और एक विश्व विस्तार का महोत्सव प्रारम्भ हो जाता है। अनादि काल से यह महोत्सव चलता आ रहा है—प्रतिक्षण इसकी प्रक्रिया का प्रकर्ष अनुभूतिगम्य है। अनन्त काल तक यह चलता रहेगा। उत्पत्ति और अन्त की कल्पनाहीन कहानी का 'कथ्य' ही तन्त्र है।

तन्त्र शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से बना है। इस शब्द के प्रबन्ध, स्वराष्ट्र चिन्तन, अर्थसाधन, सैन्य, धन, गृह, कर्त्तव्य, कारण, व्यवहार, नियम, औषधि, शास्त्र, जीविका, बुनाई-कढ़ाई, व्यवसाय, कुटुम्ब, प्रतिष्ठा आदि पचासों अर्थ हैं। इन अर्थों के सन्दर्भ किसी जागृत जाति की

जिजीविषा और अध्यवसाय से सम्बन्धित हैं। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य 'तन्त्र' का दार्शनिक स्वरूप है। जब 'तन्त्र' दर्शन बन जाता है और जब साधक इस तन्त्र को जीने लगता है, तो उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसका यह 'वामन' 'व्यष्टि' अस्तित्व 'विराट्' की समष्टि का सामरस्य बन जाता है। उसका 'स्व' 'सर्व' बन जाता है। पशु ही पशुपति बन जाता है।

'पशु' पारिभाषिक शब्द है। पाश से बद्ध पशु कहलाता है। पाश पाँच माने जाते हैं। वही पाश हैं, कञ्चुक हैं, मल हैं, अज्ञान हैं, और आवरण हैं। वही पाँचों खेल ही खेल में परम पुरुष को अपनी ओर रिझा लेते हैं। वे जानते हैं—हम अपना काम कर रहे हैं, पर यह सब 'उसी की इच्छा' से सम्पन्न होता है। परिणाम सुनिये—कला के सम्पर्क से सर्वकर्त्ता अल्प-कर्त्ता बन जाता है। 'विद्या' के सम्पर्क से 'सर्वज्ञ' अल्पज्ञ बन जाता है। नियति के सम्पर्क से सर्वव्यापक शरीरवान् बन जाता है। 'राग' से पूर्ण अपूर्ण बन जाता है और 'काल' से वह नित्य अकाल पुरुष अनित्य बन जाता है। इन्हीं आवरणों को तोड़ डालिये—आप अपने को पशु से पशुपति बना लीजिये-यही यह तन्त्र कहता है।

पशुभाव व्यक्ति भाव है। वामन भाव है। शिव भाव (पशुपति भाव) विराट् भाव है। आपके सोचने की दिशा बदल जायेगी, आप बदल जायेंगे और यह विश्व आपके लिए समरसता की सरस उर्वर भूमि बन जायेगा। कौन कहता है—यह संसार मिथ्या है? आपको इस वेदान्त सिद्धान्त की निःसारता स्वयं समझ में आ जायेगी। सोने की ईंट से बना आभूषण स्वर्ण के अतिरिक्त नहीं है। स्वर्ण ही है। परमशिव ही विश्व है। पाशबद्ध था—अब पाशमुक्त है। स्वयं शिव हूँ—यह दर्शन आपके हृदय के अमृत-सिञ्चित थाले से उगेगा, पल्लवित—पुष्पित होगा और उसमें जीवन्मुक्ति का फल लगेगा। यह निश्चय है। यही तन्त्र का दर्शन है।

यह दर्शन शाङ्कर वेदान्त दर्शन से भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें चित् (ब्रह्म) को निष्क्रिय मानते हैं। जबकि यह दर्शन चित् को प्रकाश विमर्श मय मानता है। शंकर क्रिया को अविद्या या माया का कार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में मायोपहित ईश्वर ही क्रिया करता है। पर इस दर्शन में परमेश्वर स्वातन्त्र्य-शक्ति-सम्पन्न होने से स्वतःस्वेच्छया सर्व कर्तृत्व

सम्पन्न है। इसमें माया भी परमेश की शक्ति होने के कारण सत्य ही मानी जाती है।

शंकर जगत् को मिथ्या मानते हैं। इस दर्शन के अनुसार शिव ही विश्वरूप में व्यक्त है। वह विश्वोत्तीर्ण है और विश्वमय भी है। जीव दशा में भी शिव अपने पाँचों काम करते रहते हैं। मोक्ष दशा में भी विश्व निरस्त नहीं होता अपितु शिव के विमर्श के रूप में अकृत्रिम अहं के रूप में उल्लसित अनुभूत होता है। इस दर्शन के अध्ययन के बाद सारे रहस्य स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं।

तन्त्र के इस दर्शन को अपनी मान्यतायें हैं। सांख्य दर्शन २५ तत्त्व मानता है। यह दर्शन ३६ तत्त्व मानता है। (५ महाभूत+११ इन्द्रियाँ +५ तन्मात्रायें+२ बुद्धि-अहंकार+२ प्रकृति+पुरुष+६ कंचुक+५ शुद्ध विद्या, ईश, सदाशिव, शक्ति और शिव) सांख्य का पुरुष अन्तिम तत्त्व है। वेदान्त यही मानता है। इस दर्शन के विद्वान् जानते हैं कि आत्म गोपन कर परिमित प्रमाता बनने वाला सकल और अणु ही वह पुरुष है, जो पाशबद्ध है।

यह दर्शनप्रजातन्त्र के अनुकूल समाज में समरसता की प्रतिष्ठा करता है। इसके अनुसार घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जातिवाद ये आठ पाश हैं। इनका परित्याग अनिवार्यतः आवश्यक है। इसमें शूद्र को भी दीक्षा प्राप्ति का अधिकार है। यह विप्र है और पापरत है। वह शूद्र है और पुण्यकर्मा है। इसमें जाति कहीं आड़े नहीं आती। शुद्धि भी वस्तु का धर्म नहीं है अपितु एक मानसिक धारणापूर्ण दुराग्रह है। इस प्रकार समाज और दर्शन दोनों क्षेत्रों में यह सामरस्य का प्रतिपादन करता है। इसमें तत्त्व का साक्षात्कार अनायास सम्भव है। इसीलिए यह एक व्यावहारिक दर्शन के रूप में प्रसिद्ध है, जो सुगमरूप से अद्वैत तत्त्व को प्रत्यक्ष करदेता है।

'तन्त्रसार' नामक यह ग्रन्थ श्रीमन्महामाहेश्वर आचार्यवर्य श्रीमान् अभिनव गुप्त के विशाल महाग्रन्थ 'तन्त्रालोक' का सार संक्षिप्त रूप है। उन्होंने प्रारम्भ में ही कहा है—

"विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारं ततः श्रृणुत॥"

अज्ञान बन्ध का हेतु है। उसे शास्त्र 'मल' कहता है। पूर्ण ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान और मल निर्मूल हो जाते हैं। सारे मल के ध्वस्त हो जाने पर आत्मसंवित् का उदय होता है। इससे मुक्ति सुलभ हो जाती है। यही ज्ञेय तत्त्व तन्त्रसार का प्रतिपाद्य विषय है। इस रूप में सम्बन्ध, अधिकार और प्रयोजन रूप अनुबन्ध की चर्चा भी की गयी है।

अणु के शिव-साक्षात्कार की प्रक्रिया दो प्रकार की मानी गयी है। १—निरुपाय और २—सोपाय। निरुपाय विज्ञान 'शक्तिपात' पर निर्भर है। सोपाय विज्ञान में क्रिया की प्रधानता में आणव समावेश, ज्ञान की प्रधानता में शाक्त-समावेश और इच्छा के प्राधान्य में शाम्भव समावेश के माध्यम से तत्त्व का साक्षात्कार इस दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

शिव की ५ शक्तियाँ हैं। 'चित्' उसकी प्रकाश शक्ति है। 'आनन्द' उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति है। 'इच्छा' उसकी चमत्कार शक्ति है। 'ज्ञान' उसकी विमर्श शक्ति है। 'क्रिया' उसकी सर्वाकार में स्फुरित होने की शक्ति है।

वह ५ कर्म करता है १—सृष्टि, २—स्थिति, ३—संहार, ४—तिरोधान और ५—अनुग्रह। उसके ५ रूप हैं—१—सर्वकर्तृत्व सम्पन्न, २—सर्वज्ञ, ३—पूर्ण, ४—नित्य और ५—सर्वव्यापक। अणु में और शिव में परमार्थतः परमैक्य साधक यह दर्शन अपनी सुगम सरल उपासना पद्धति से भी संवलित है।

मालिनी विजय तन्त्र इस दर्शन का उपजीव्य ग्रन्थ है। 'शिव सूत्रों' पर आधारित यह 'शिवदृष्टि' है। स्वच्छन्द तन्त्र इसका उल्लास है। तन्त्र शास्त्र का चूड़ामणि 'तन्त्रालोक' है। तन्त्रालोक के आह्निकों का भी केवल २२ आह्निकों में व्यक्त यह 'तन्त्रसार' ग्रन्थ है। तन्त्रालोक शैवागम का विश्वकोष है। कुल, क्रम और त्रिक सभी पद्धतियों की कड़ियों को जोड़कर शैवागम का यह अमूल्य ग्रन्थ निर्मित है।

'तन्त्रसार' के मात्र ७ आह्निकों का भाष्य इस खण्ड में किया गया है। इनमें विज्ञान भेद, अनुपाय प्रक्रिया, शाम्भव, शाक्त और आणवोपाय प्रक्रिया, कालाध्वा और देशाध्वा विषयों का निरूपण किया गया है। केवल सात आह्निकों का पृथक् प्रकाशन अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इस

दर्शन के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर दिया गया है। कोई अध्येता यदि इतने का भी मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय कर ले, तो मेरा पूर्ण विश्वास है कि, वह इस दर्शन के रस का सहज रूप से पान करने में समर्थ हो सकता है।

परमाम्बा की परमानुकम्पामयी प्रेरणा से ही भाष्य प्रणयन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। इस दर्शन में यत्रतत्र रहस्यमयी प्रक्रिया का सांकेतिक प्रकाशन है। उसे स्पष्ट कर दूध का दूध और पानी का पानी बनाने के कारण ही इस भाष्य का नाम 'नीर-क्षीर-विवेक' भाष्य रखा गया है।

मेरी स्वात्म सरस्वती का यह स्वरस आत्मोपासना की रहस्य रश्मियों से देदीप्यमान है। ऐसे प्रसङ्ग जिनके विषय में मुझे स्वयं सोचना पड़ता था—उनका स्पष्टीकरण अदृश्य अनुकम्पा से ही सम्भव हुआ है। मैं हिन्दी के रहस्यानुध्यायी अध्येताओं का ध्यान इधर आकृष्ट करता हूँ कि, वे इस रहस्यात्मकताको जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करेंगे।

तन्त्रसार के निर्माण काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी नामक अपने ग्रन्थ में ग्रन्थकार का एक महत्व-पूर्ण वाक्य है। वह लिखते हैं—

"अन्त्ये युगांशे तिथि शशि जलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।"

अर्थात् कलियुग के ४२वीं शती का पूर्वार्द्ध में अर्थात् (४११५ ई० सं० १०१४) के मार्गशीर्ष के अन्त में विवृतिविमर्शिनी प्रकाशित हुई। इस वाक्य से तन्त्रसार के निर्माण का समय भी कलि सं० ४११५ के बाद ही माना जा सकता है। तन्त्रालोक में प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी के अनेक वाक्य यत्र-तत्र उद्धृत हैं और 'तन्त्रसार' तन्त्रालोक का ही संक्षिप्तसार रूप है।

मैंने अपने नीरक्षीर विवेक भाष्य के लिए जिस पुस्तक को चुना है—वह वि० सं० १९७४ तदनुसार १९१८ ई० में काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि ग्रन्थांक १७ प्रतन विद्याप्रकाश (रिसर्च) कार्यालय के अध्यक्ष महामहोपाध्याय पं० मुकुन्द राम शास्त्री द्वारा मुद्रापित प्रति है। यह मुझे अत्यन्त शुद्ध प्रतीत हुई है। हिन्दी में यह पहला अनुवाद है। संस्कृत में भी इसकी कोई टीका मुझे नहीं मिली। प्रस्तुत भाष्य का आधार भगवती चिति संवित् ही हैं।

मेरा यह प्रयास हिन्दी भारती के लिए अर्पित है। उसकी कृपा से यह हिन्दी साहित्य के आकाश में आलोक का प्रसार करेगा। हिन्दी साहित्य की मनीषा को मनोज्ञता से भरने का एक पुण्य कार्य परमेश्वर की कृपा से हुआ है। हिन्दी हमारी माँ है; मातृभाषा है और 'संस्कृत' मातृत्व की प्राणवत्ता का पीयूष है, मातृका शक्ति की उत्स है। संस्कृत की यह धारा आगम धारा है। वैदिक धारा निगम धारा है। आगमिक धारा का यह अमृत प्रवाह परमशिव को आत्मसात् करता है। हिन्दी आधुनिक भाषा है। इसकी कौन कहे, स्वयं संस्कृत वाङ्मय भी शैवदर्शन के इस पीयूष महाप्रवाह की वारिधिसमृद्धि से बहुलांशतया वंचित है। इसके प्रचार से नैर्गमिक मनीषा हल्की न सिद्ध हो जाय; इस लिये निगम-परम्परा अपनी षड्दर्शन की डफली में एकाङ्गी राग बजाती रह गयी और भारतीय जनता हिमवान् के कश्मीर शृङ्गों से प्रसृत पार्वती प्रसाद-पीयूष न पी सकी-इसे मैं दैव दुर्विपाक ही मानता हूँ। उसी पीयूष के प्रवाह को मैं हिन्दी के समुद्र से सम्पृक्त कर रहा हूँ। इसका मुझे हर्ष है कि, परमशिव का यह उल्लास परमहंस की अन्वर्थता से स्वतः उल्लसित है। नीर-क्षीर-विवेक 'हंस' का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। इसमें कुछ परम-शिव का 'परम' भी मिला है या सर्वथा सराबोर है—यह स्वाध्यायी सुधीवृन्द जाने।

भाषा इसकी संस्कृत-गर्भित है। यह अनुवाद हिन्दी साहित्य की शब्द-समृद्धि में सहायक बनेगा—यह विश्वास है। पारिभाषिक शब्दों का अर्थ परिशिष्ट में दिया गया है। इससे सामान्य अध्येता भी सन्तोष का अनुभव करेंगे।

श्री ठा० जयदेव सिंह इस परम्परा के मनीषी मर्मज्ञ हैं। उन्होंने अपना आशीर्वाद दिया—प्रोत्साहन दिया—भाषा में परिष्कृति की प्रेरणा दी, एतदर्थ मैं अपनी श्रद्धाका सुमन उनके वत्सल व्यक्तित्व पर अर्पित करता हूँ। उन्होंने आज्ञा दी है—'तन्त्रालोक' का हिन्दी भाष्य करने की। इस पर मुझे वाल्मीकि रामायण का वह प्रसंग याद आ रहा है, जब स्वयं ब्रह्मा ने वाल्मीकि से कहा था—'रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम'। ....'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' इत्यादि। यह आदेश मैंने शिरोधार्य किया है। यह आशा और विश्वास है कि कालाध्वा का प्रमाता इसके समय की व्यवस्था करेगा।

श्री पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी विद्वद्वरेण्य, मनीषी-मूर्धन्य और विश्वविश्रुत अदूष्यवैदुष्य-विभूषित सरस्वती के वरद पुत्र हैं। उन्होंने मेरी बात मान कर अपने औदार्य का वरदान दिया है—हार्दिक्य प्रदान किया है और योगीश्वर की तरह अर्जुन के बालसख्य को सौख्य प्रदान किया है। यह परमशिव को परानुकम्पा है।

महामनोषी 'पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा' के प्रणेता शिवरूप पं. रामेश्वरजी झा ने इस सम्पूर्ण कृति को सुना था और आशीर्वाद दिया था। उन्होंने इस कृति को प्रकाशित देखने की इच्छा भी प्रकट की थी। पर यह सम्भव न हो सका। प्रकाशन में विलम्ब समय सापेक्ष है। श्री देववाणी प्रेस के सञ्चालक रवीन्द्रनाथ इस प्रक्रियामें विलम्ब से ही उपलब्ध हुए। प्रकृति ने यह कार्य इनसे पूरा कराना था, तो दूसरा इसका श्रेय कैसे ले सकता।

अन्त में परमाम्बा के पदारविन्दमकरन्द-समुद्र में स्वात्मस्पन्दन की लघुलहरी का विलापन करते हुए विराम—

विजयदशमी २०४२ वै०	विदुषां वशंवद
२२-१०-८५	**डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस'**

ओम् तत्सत् स्वात्मसंविद्वपुषे शंभवे नमः

अथ

तन्त्रसारः

श्रीमन्महेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तविरचितः

नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी-भाष्य सहितः

प्रथममाह्निकम्

विमल-कलाश्रयाभिनव-सृष्टि-महा जननी-
भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्त - रुचिर्जनकः ।
तदुभयात्मस्फुरित भावविसर्गमयं
हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥१॥

विमल कलाश्रया अभिनव सृष्टि महा जननी, भरित तनु पञ्चमुख-गुप्तरुचि जनक इन दोनों के उभय-यामल प्रभाव से स्फुरितभाव-विसर्ग-मय अनुत्तर अमृत शरीररूप मेरा हृदय संस्फुरित हो ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार यद्यपि ३६ तत्त्वों में परिगणित तत्त्व, मल नहीं हैं फिर भी ये महाप्रभावशाली अशुद्ध अध्वा के, संसार के अंकुर के कारण और अज्ञान[1]रूप माने जाते हैं। ये अवच्छेदक होते हैं और आणव, कार्म तथा मायीय तीन भेदों की भीषणता से सारे संसार को प्रभावित करते हैं। जो इनसे रहित हो जाता है, बचा रहता है, वही विमल है। विमल आप्त होता है। वह समस्त धर्मों का साक्षी होता है।

कला यद्यपि किंचित्कर्तृत्व प्रदायिनी प्रत्यात्मभिन्ना कंचुक की एक अवस्था मानी जाती है पर यहाँ कला का तात्पर्य पर-विमर्शमात्र-स्वभाव-सम्पन्न कर्तृत्व शक्ति से है। वही विमल रहती है। विमल कला का

१. तन्त्रालोकः आ० ९।१२०

आश्रय ग्रहण करनेवाली या विमलकला-स्वातंत्र्य-शक्ति की आश्रयभूता पराशक्ति रूपा जननी परम्बा भगवती चिति है। उसका आश्रय ग्रहण करनेवाला आश्रयता को प्राप्त कर लेता है।[1]

अभिनव शब्द श्लिष्ट है। अभिनव अभिनवगुप्त ग्रंथकर्त्ता भी हैं और अभिनव शुद्ध अध्वा[2] भी होता है। अभिनव सृष्टि से इसीलिये अभिनव गुप्त की रचना, क्रियाशीलता, कृतित्व तथा आद्या सृष्टि की शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या की ५ अवस्थायें—ये दो अर्थ उत्पन्न होते हैं। रचना में भी और इस आद्या सृष्टि में भी परिपूर्णार्थलक्षण तेज (मह) वाली जननी परमाम्बा भगवती चिति विद्यमान है, यही ग्रन्थकार का अभिप्रेत अर्थ है।

ग्रन्थ के आरम्भ में जननी का स्मरण ग्रन्थकार की मातृभक्ति का परिचायक है। माँ धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष सबकी मूल कारण होती है। चाहे वह परमाम्बा जगदम्बा हो या वात्सल्यमयी जन्मदात्री माँ हो—दोनों के गर्भ में ही प्राण धारण किया जाता है और इन्हीं दोनों से पोषण होता है।[3] इसलिये मातृभक्त अभिनव गुप्त परमाम्बा के स्मरण के साथ ही साथ अपनी पूजनीया माता 'विमला' देवी का भी स्मरण करते हैं और कृति में तेजस्विता की आकांक्षा करते हैं।

माँ के बाद पिताका स्थान होता है। शक्ति से ही शिव में शिवत्त्व उद्भूत होता है। विमल कलाश्रया माँ के स्मरण के अनन्तर नरसिंह गुप्त पिता के स्मरण के व्याज से ही परमपिता पंचकृत्यकर्त्ता परप्रकाशक रूप-परमेश्वर का स्मरण भी वे कर रहे हैं।

सभी आकांक्षाओं से परिपूर्ण, दूसरे की तनिक भी अपेक्षा न रखने वाला, स्वतंत्र स्वभाव-सम्पन्न शक्तिमान् ही भरिततनु हो सकता है। शिव, मंत्रमहेश, मंत्रेश्वर, मंत्र और विज्ञानाकल—ये कारण-पंचक कहलाते हैं। अथवा चिद्, आनन्द, एषणा, ज्ञान और क्रिया रूप से वे पंचरूप[4] परमेश्वर

१. त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति। दुर्गा सप्तशती अ० ११ श्लो० २९

२. तन्त्रालोक: भाग ६ पृ० ५६ पं० ७, आ० ९।६६

३. गर्भधारणपोषाभ्यां सर्वेभ्यस्त्वं गरोयसी। धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलं मातर्नमोस्तु ते।

४. तं० आ० ९।५०

शिव इन्हीं ५ मुखों अर्थात् शक्तियों या स्वरूप दशाओं में गोपन-स्वभाव कान्ति को धारण करते हैं। गुप्त शब्द से गोपनस्वभाव, सुरक्षित या प्रस्तुत प्रबन्ध में अनुवर्त्तमान अर्थ लिया जा सकता है। रुचि कान्ति और स्वभाव दोनों अर्थों में प्रयुक्त है।

ऐसे अन्यानपेक्ष परमस्वातंत्र्य स्वभाव, पंचकृत्य कर्त्ता परमशिव, पाँच शक्तियों से इस निखिल में (विश्व में या प्रबन्ध में) अनुवर्त्तमान हैं। परम-कान्ति या परमाभिलाष सम्पन्न उन्हीं परमपिता परमेश्वर का स्मरण ग्रन्थकार इस पंक्ति में करता है और अपनी पितृभक्ति का परिचय देता है। शक्ति और शिव के सामरस्य को माँ और पिता के रूप से वह स्वीकार करता है।

शक्ति और शिव के सामरस्य से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। सामरस्य ही उभययामल दशा है। मातृत्व और पितृत्व के पारस्परिक सामरस्य से स्फुरित, दूसरे की बिना अपेक्षा किये उल्लसित, यह भाव-सत्तारूप विसर्ग ही ग्रन्थकार का हृदय है। विसर्ग बाह्य की उल्लिल-सिषा से सम्भूत विसर्ग[1] है। यही हृदय[2] है। बोधभूमि है। परमात्मा का अनुत्तर विसर्ग शिवशक्ति का सामरस्यात्मक विमर्श होता है। वही 'अहं' का आदिभाव है। यही विसर्ग आणव, शाक्त और शाम्भव भेद से तीन प्रकार का भी माना जाता है। हृदय कमल के कोश में ही चिति-चेत्य सामरस्य विसर्गमय विमर्श सम्भव है।

वही कमल जब स्फुरित होगा, तभी विश्व उसके मधुरमादकमकरन्द रस का आस्वादन कर सकेगा, उसकी सुरभि से विश्व आमोद मुग्ध होगा और पराग राग रूषित एवं रंजित होकर प्रसन्न होगा। इसीलिये इस प्रथम मङ्गल श्लोक में कवि (मनीषी) अपने अनुत्तर अमृत कुल (शरीर-अमाकला रूप) के, हृदय के स्फुरित होने की आकांक्षा करता है। बिना हृदय के संस्फुरण के कुछ हो ही नहीं सकता। संस्फुरित होने की आकांक्षा में भी परानपेक्षा का महाभाव भरित है। शिवशक्ति साम-रस्य का अनुत्तर विसर्ग यह हृदयपद्मकोश भी स्वातंत्र्य सम्पन्न होकर ही स्फुरित हो! यह रहस्य यहाँ उद्घाटित हो जाता है।

१. तन्त्रालोक: अ० ३।२०८-२१९, पृ० १९८-२०५

२. तन्त्रालोक: आ० ३।२१०-२१५, ई० प्र० वि० १।५।१८

इस प्रकार इस मङ्गल श्लोक के द्वारा आचार्यवर्य यह प्रदर्शित करना चाहते हैं कि यह हमारा सारा अध्यवसाय, यह महाप्रयास और यह निर्मिति सब कुछ स्वतः स्फुरित है। अनुत्तर विसर्गमय है। इसमें मेरी हेय अहंकृति नहीं वरन् परम शिव के सामरस्य का ही परामर्श है।

विततस्तन्त्रालोको विगाहितुं नैव शक्यते सर्वैः ।
ऋजुवचनविरचितमिदं तु तन्त्रसारः ततः शृणुत ॥ २ ॥

तन्त्रालोक वितत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित आकर ग्रन्थ है। उसका अवगाहन सब लोगों के द्वारा अशक्य है। श्रीमदभिनवगुप्त के हृदय में लोककल्याण की कामना है। वे यह चाहते हैं कि सर्वसाधारण भी आगमिक ज्ञान के प्रकाश से परिचित हो। इसी उद्देश्य से 'तन्त्रसार' नामक यह ग्रन्थ विरचित हुआ। इसके ऋजु सरल वचन बड़े ही सुबोध हैं। शास्त्र के अवगाहन के लिये तर्क आदि शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक होता है। जो व्यक्ति, सामान्यजन, कठिन तार्किक बुद्धिवादिता से अपरिचित हैं, उनके लिये ऋजुवचन विरचित तन्त्रके सार सर्वस्व सरल ग्रन्थ की आवश्यकता होती है। इस ग्रन्थ से इस लक्ष्य की पूर्त्ति हुई है। सब इसे सुनें।

भगवान् व्यास को यह दुःख था कि उनकी बातों को कोई नहीं सुनता[१], किन्तु श्रीमदभिनव गुप्त के वक्ता को मानो लोग सुनने के लिये घेरे हुए हैं। इसीलिये श्रु धातु के लोट् लकार के मध्यम पुरुष के बहुवचन का प्रयोग कर श्रोताओं को शान्तभाव से इस आगमशास्त्र के सारसर्वस्व को सुनने का आवाहन किया गया है। सुनने मात्र से, परामृत परामृष्ट तत्त्व से व्यक्ति के अस्तित्व को पुलकित करने वाला यह पर शास्त्र है—यह अर्थ भी इससे ध्वनित है।[२]

श्रीशंभुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम् ।
अभिनवगुप्तहृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेशपूजनहेतोः ॥३॥[३]

गुरुदेव श्री शंभुनाथ रूपी भास्कर के चरण में निपात से अपगत संकोच

१. तं० पृ० २०५, प० १३
२. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष : नहि कश्चित् शृणोति मे—महाभारतम्
३. तन्त्रालोकः आ० १।२१

(संकोचरहित विकसित) श्री अभिनव गुप्त के हृदय कमल को शिवपूजन के लिये चयन करें।

श्री शंभुनाथ ग्रन्थकर्त्ता श्रीमदभिनव गुप्त के त्रिकशास्त्र के उपदेष्टा गुरु हैं। गुरु से ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है। अतएव गुरु भास्कर, सूर्य के समान होता है, जिससे अन्धकार का अपाकरण और आभा का विस्तार होता है। भास्कर की किरणें ही उनके चरण हैं। किरणें विश्व में प्रसरित हो जाती हैं। प्रभा के विस्फार से विश्व का संकोच अपगत हो जाता है।

गुरुदेवरूपी दिवाकर के चरणों की प्रतिष्ठा उनके हृदय में है। श्रद्धाभरितभाव से अभिनव गुप्त ने उसे हृदय में प्रतिष्ठित किया है। परिणामतः उनके हृदय कमल का कोश, जो पहले संकुचित था, मुकुलित था, अब विकसित हो चुका है। ज्ञान और क्रिया के प्रभाव के कारण स्वस्वरूप के विकास से, प्रत्यभिज्ञान से विद्योतित हो उठा है।

पूजा में विकसित पुष्प ही चढ़ाये जाते हैं। ग्रंथकार का विकसित हृदयकमल त्रिक शास्त्ररूप में प्रस्तुत है।[१] हृदय में और शास्त्र में जो विकास है, उसमें गुरुकृपा और स्वरूप विमर्शमय संविद्प्रकाश ही कारण हैं। कृपा के विमर्श से ही प्रकाश के स्वात्मप्रत्यभिज्ञानमय पर-परामर्श का उदय होता है।

आराध्य में आदरपूर्वक लय को पूजा कहते हैं। चिदात्मा शिव के साथ भाव-संहति ही पूजा है। निर्विकल्प परम व्योमरूप परमशिव में आदर पूर्वक लय ही पूजा[२] है। विमर्श की दृढ़ता ही पूजा है।[३] उस परम शिव-महेश की पूजा के लिये, स्वात्मतया प्रत्यभिज्ञान के लिये, अभिनव गुप्त के हृदयकमल का चयन करने का निर्देश श्रोताओं, साधकों, जिज्ञासुओं अथवा अनुयायियों से वे पूर्वकारिका की तरह लोट् लकार में ही, विधि-वाक्य के रूप में ही कर रहे हैं।

ग्रन्थकार का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति इस शास्त्र का अध्ययन करेगा, उसे स्वात्मप्रत्यभिज्ञान अवश्यंभावी है। महेश्वरता की प्राप्ति उसे

१. हृदयं शास्त्रात्मसतत्त्वं । तं० आ० १ पृ० ५१ प० १०
२. तं० आ० ४।१२१–१२४
३. तंत्रसार: आ० १३

अवश्य हो जायेगी। संसार का सबसे बड़ा लाभ भी तो यही है। उसे प्राप्त कर लेने के बाद किसी अन्य लाभ की आकांक्षा ही नहीं रह जाती।[1]

इन तीन मङ्गल श्लोकों के द्वारा श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने मुख्य रूप से इन बातों की ओर संकेत किया है :—

१—कार्य के प्रारम्भ में भगवती चिति और चिदात्मा शिव का स्मरण समस्त विघ्नों का विनाशक है। माता-पिता में भी वही भावना रखनी चाहिये जो शक्ति और शक्तिमान् परमेश्वर के प्रति होती है।

२—तन्त्रालोक महान् ग्रन्थ है। वह सर्वजनसुलभ एवं सहज बुद्धिगम्य नहीं। इसीलिये तन्त्रसार ग्रन्थ का निर्माण किया गया। यह ऋजुवचन विरचित शास्त्र है।

३—श्रीमदभिनवगुप्त के स्वात्मप्रत्यभिज्ञानरूप इस शास्त्र के अध्येता को भी महेश्वर का प्रत्यभिज्ञान अनिवार्य है। इनके गुरुदेव का नाम भी शंभुनाथ था।[2]

इह ज्ञानं मोक्षकारणम्, बन्धनिमित्तस्य अज्ञानस्य विरोधकत्वात्। द्विविधं च अज्ञानम्, बुद्धिगतं पौरुषं च। तत्र बुद्धिगतमनिश्चय-स्वभावम्, विपरीतनिश्चयात्मकं च। पौरुषं तु विकल्पस्वभावं संकुचितप्रथात्मकं, तदेव च मूलकारणं संसारस्य इति वक्ष्यामो मलनिर्णये।

ज्ञान मोक्ष का कारण माना जाता है क्योंकि बन्ध निमित्तक अज्ञान का वह विरोधी है।

अज्ञान दो प्रकार का होता है। १. बुद्धिगत और २. पुरुषगत। बुद्धिगत अनिश्चय स्वभाववाला होता है और विपरीत निश्चयवाला भी होता है। पुरुषगत अज्ञान विकल्पस्वभाव वाला एवम्— संकुचित प्रथावाला होता है। यही अज्ञान संसार का मूल कारण होता है। मल निर्णय के प्रकरण में श्रीमदभिनव गुप्त इसका सविशेष कथन करेंगे।

इस त्रिकशास्त्र में ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानते हैं। ज्ञान वास्तव में पूर्ण प्रथात्मक होता[1] है। यह परास्थिति है। इसमें पूर्णकात्म्य[2] प्राप्त हो जाता है। पूर्णकात्म्य ही मोक्ष[3] है। ज्ञान मोक्ष का कारण है किन्तु इस मान्यता का आधार दूसरा ही है। कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे स्वर्ण गोलक से स्वर्ण के आभूषण अथवा मृत्तिका से घड़ा रूप कार्य उत्पन्न होते हैं। यह कार्यकारण भाव ज्ञान और मोक्ष में नहीं है। यहाँ फिर क्यों ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है? इसका उत्तर स्पष्ट है। ज्ञान बन्ध-निमित्त अज्ञान का विरोधक है। इसलिये ज्ञान में मोक्ष की कारणता स्वतः आ जाती है। हेतु और फल, कारण और कार्य का यह भाव ज्ञान और मोक्ष के सम्बन्ध में नहीं ग्रहण किया जा सकता। ज्ञान विश्वभावैकभावात्म स्वरूप-प्रथन[4] मात्र है। विश्व में जितने भी नील-पीत, सुख-दुःख आदि भाव हैं, उनका एक भावरूप में अर्थात् चूंकि प्रकाशमान होने के कारण सभी पदार्थ प्रकाशमात्र रूप हैं। इस-

---

१. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता

२. जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ भगवत्या सह शंभुनाथ एकः।
यदुदीरित शासनांशुभिर्मे प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रमार्गः॥ त०आ० १।१३

१. श्रीमदभिनव गुप्त की शास्त्रप्रक्रिया पूर्णांथा प्रक्रिया है। इस अनुत्तर त्रिकार्थ प्रक्रिया भी कहते हैं। तं० आ० १।१५ तथा भाष्य। तं० आ० १।१८, तं० आ० १ पृ० ४५ पं० १-८।

वेदाच्छैवं ततो वामं, ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मत ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥

तंत्रालोकः आ० १ पृष्ठ ४९ पं० ७-८

१—अनुत्तर-पर, २—इच्छा-परापर तथा ३—ज्ञानोन्मेष-अपर भेद से अथवा भेद, भेदाभेद और अभेद इन तीन प्रकार के शास्त्रीय सिद्धान्तों के द्वारा प्रत्यभिज्ञादर्शन को षडर्ध दर्शन या त्रिकदर्शन कहते हैं। तन्त्रालोक आह्निक तीन के श्लोक २४१ से २५० तक स्वर प्रकरण के प्रसङ्ग में भी इस त्रितय की चर्चा है।

२. तं० आ० १।२७५

३. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः। तं० आ० १।१५६

४. तं० आ० १।१४१

लिये परप्रकाश रूप में) सर्व को समाहित करनेवाले महाभाव रूप में, आत्मरूपता का अविकल्प भाव से साक्षात्कार ही स्वरूप का प्रथन है। स्वरूप का प्रथन ही मोक्ष है। विश्व परमेश्वर का प्रकाश-विस्फार है। इस रूप से उसे न जानना ही बन्ध है। इस रूप से जानना और वही हो जाना मोक्ष है। इसी तात्पर्य से बन्ध निमित्त अज्ञान का विरोधी होने के कारण ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा गया है।

नैयायिकों के अनुसार ज्ञान–आदि मोक्ष से भिन्न माने जाते[१] हैं; वैसा दृष्टिकोण यहाँ नहीं है।

वास्तव में विश्वभावैकभावात्मकता तभी हो सकती है, जब व्योम, विग्रह, बिन्दु, वर्ण, भुवन और शब्द के विमर्श से पर विमर्शैकसार शिवैकात्म्य प्राप्तिरूपा दशा उपलब्ध हो जाय।[२] शिवैकात्म्य भाव, ज्ञान का ही महाभाव है। यहाँ बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, विकल्प का उन्मूलन हो जाता है, शुद्ध शिव रूप आत्मदर्शन हो जाता है[३]।

मोक्ष सभी शास्त्रकारों का मान्य सिद्धान्त है। संसार मोक्ष का प्रतिपक्षभूत होने के कारण हेय है। संसार का निमित्त मिथ्याज्ञान ही है! अथवा प्रतिकूल तत्त्वज्ञान भी संसार का निमित्त हो सकता है। आत्मसाक्षात्कार से अज्ञान का अपगम होता है और अज्ञान के अपगम से ही मोक्ष। द्वैत प्रथा ही अज्ञान है। अज्ञान तुच्छ होता है और बन्ध का कारण बन जाता है।

चिति का व्यापार सर्वसामान्य में शाश्वत रूप से सम्भव है। जो चेतित करता है, वही चेतन है। वह पूर्ण ज्ञानवान् है और व्यापारवान् है। वहाँ ज्ञान भी है और क्रिया भी है। चेतन का भाव ही चैतन्य है। चैतन्य में स्वभावतः पूर्णज्ञानत्व और पूर्णक्रियात्त्व है। यही स्थिति पारमैश्वर्य दशा है। इसे ही दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य कह सकते हैं।

इसी प्रकार 'ज्ञप्तिर्ज्ञानं' ज्ञप्ति भी ज्ञान है और 'ज्ञायतेऽनेनइतिज्ञानम्' जिससे ज्ञात होता है, वह भी ज्ञान है। क्रियात्व और करणत्व

१. न्यायसूत्रम् १।१।१, तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः १,१।२

२. तं० आ० १ पृ० १०३ पं० १-२।

३. तं० आ० १।५० पृ० ८८ पं० १-५, १०-१२, पृ० ८९, पं० ३-५।

दोनों व्यापार, ज्ञान में अनुस्यूत हैं। 'चेतयते इति चित्' इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह सिद्ध है कि चेतन में कर्तृत्व विद्यमान है। चिति क्रिया का कर्त्ता वह है। चैतन्य भाव-प्रत्ययान्त शब्द है। भावप्रत्यय से नित्यत्व और व्यापकत्व आदि गुणों का आक्षेप नहीं होता। जब हम 'चैतन्यम् आत्मा' यह परिभाषा करते हैं, तो इसके अनुसार कर्तृत्व रूप चैतन्य एवं कर्मरूप द्वैत प्रथा का स्वतः उद्भावन हो जाता है। ज्ञान में भी क्रियात्त्व और करणत्व की विद्यमानता के कारण कर्तृत्व एवं कर्मत्व, क्रियात्व और करणत्व रूप द्वैत का भाव स्वतः उपस्थित हो जाता है। इससे परमशिव की पूर्णता का बोध नहीं हो पाता; उसको पूर्ण ख्याति नहीं हो पाती और द्वैतप्रथा रूप अज्ञान का उज्जृम्भण होने लग जाता है। यहाँ ज्ञान अपूर्ण ज्ञानरूप रह जाता है। यही अपूर्णमन्यता की स्थिति है। अपूर्णमन्यता मायीय, कार्म और आणव मलों के रूप में, बन्ध रूप में, विकल्पित होती है। इसीलिये अज्ञान को बन्ध का कारण कहते हैं।

अज्ञान[१] दो प्रकार का होता है। १. बुद्धिगत (बौद्ध) और २. पौरुष[२]। बुद्धि अन्तःकरण के अन्तर्गत आती हैं। अन्तःकरण के बाद ही शरीर बनता है। शरीर भुवनाकार होता है। भुवन के अंकुर का कारण ही अज्ञान होता[३] है। इस प्रकार का अज्ञान ही बौद्ध अज्ञान है। बौद्ध अज्ञान कर्म के कारण बनते हैं और कर्म भी बौद्ध अज्ञान के कारण बनते हैं। वस्तुतः अज्ञान संसारोत्तर कालिक होता है। इसी के अभाव से मोक्ष सम्भव है।

यह भी विचारणीय है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के उपरान्त जो ज्ञान होगा, वह भी बौद्धज्ञान ही होगा। बौद्धज्ञान भी विकल्प रूप ही होता है। अन्तर केवल यही है कि, यह विकल्प शुद्ध होता है। यह संसार भी विकल्प रूप ही है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रश्न पुनः उपस्थित हो जाता है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति मात्र से मोक्ष नहीं मिल सकता क्योंकि तदनन्तर उदित बौद्धज्ञान भी विकल्प रूप ही होता है और विकल्प ही संसार है।

१. तं० आ० १।२२ पृ० ५४ पं० १३, १।२३ पं० १५, पृ० २५ पं० १-६

२. तं० आ० १।३६-४०

३. तं० आ० १।२३ पृ० ५४ पं० १५

दीक्षा आदि के द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर यदि बौद्ध ज्ञान उदित हो जाये, तब जीवन्मुक्ति के प्रति वह भी कारण बन सकता है। केवल बौद्धज्ञान से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। हाँ दीक्षा में बौद्धज्ञान की प्रधानता अवश्य है।[१]

पौरुषज्ञान के उदित हो जाने पर अन्य निरपेक्ष मुक्ति सम्भव है।[२] प्रकाशानन्द घन आत्मा का तात्विकरूप पूर्ण ख्याति[३] है। पूर्णख्याति पौरुषज्ञान के उदित होने पर अवश्यंभावी है। पूर्णख्याति ज्ञानमात्र ही होती है। इसी के प्रथन को मोक्ष कहते हैं। इसलिये ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, यह प्रथमतः निर्देश किया गया है।

बुद्धिगत अर्थात् बौद्ध अज्ञान अनिश्चय स्वभाव वाला होता है। जब तक 'स्व'भाव की तात्त्विकता का ज्ञान नहीं होता, तब तक अनिश्चय बना रहता है। अनिश्चय का तात्पर्य निश्चयाभाव या विपरीत निश्चय दोनों अज्ञानावस्थाओं से है। अनात्मा में आत्मा का अभिमान ही विपरीत निश्चय है। 'मैं इसको इस प्रकार जानता हूँ' इस प्रकार के अध्यवसाय से सम्पन्न बुद्धि मनुष्य में जाग्रत होती है। यह बुद्धि का अध्यवसाय माया, कला, विद्या, राग, नियति और कालनामक छः कंचुकों के कारण होता है। यह आविल भाव माना जाता है। इससे ज्ञत्त्व और कर्तृत्व प्रतिनियत प्रतीत होते हैं। इससे अणु में चित् की छाया का संक्रमण होता है। चिच्छाया के प्रतिबिम्ब रूप बुद्धि-जन्य ज्ञान को अज्ञान ही कहते हैं। यही बौद्ध अज्ञान है।[४]

पौरुष अज्ञान विकल्प-स्वभाववाला और संकुचित प्रथात्मक होता है। यही संसार का मूल कारण होता है। इस सिद्धान्त का विशिष्ट विवेचन मल निर्णय प्रकरण में किया गया है। बौद्ध अज्ञान का कार्य पौंस्न अज्ञान है। यह पौंस्न अज्ञान कभी-कभी प्राच्य अनुभव-जन्य स्वप्न की तरह बौद्ध अज्ञान का कारण भी बन जाता है।[५]

१. तं० आ० १।८३
२. तं० आ० १। ५७ पं० ८-९
३. अख्यात्यभाव एव पूर्णं ख्यातिः। सैव प्रकाशानन्द-घनस्यात्मनस्तात्त्विकं स्वरूपम्। तत्प्रथनमेव मोक्षः। तं० आ० १, पृ० ५७ पं० १०-१३
४. तं० आ० १।३९-४०
५. तं० आ० १ पृ० ७७ पं० १०-१७

"तत्र पौरुषम् अज्ञानं दीक्षादिना निवर्त्तेतापि; किन्तु दीक्षाऽपि बुद्धिगतेऽनध्यवसायात्मके अज्ञाने सति न सम्भवति—हेयोपादेयनिश्चयपूर्वकत्वात् तत्त्वशुद्धिशिवयोजनारूपाया दीक्षाया इति।

इस स्थिति में पौरुष अज्ञान दीक्षा[१] आदि के द्वारा भले ही निवर्त्तमान[२] हो जाय, किन्तु दीक्षा भी, बुद्धिगत अनध्यवसायात्मक अज्ञान के रहते नहीं होती।

क्योंकि हेयोपादेयनिश्चयपूर्विका होने कारण दीक्षा तत्त्व शुद्धिमयी शिवयोजनारूपा होती है।

अज्ञान का प्रभाव पहले बुद्धि में होता है। षट्कंचुकों के प्रभाव के कारण बौद्ध अन्तरङ्ग अज्ञान उदित होता है। चिच्छाया का प्रतिबिम्बन बुद्धिदर्पण में होने के कारण बौद्ध अज्ञान उत्पन्न होता है।[३] तत्पश्चात् काम शोक, भय उन्माद आदि के आवेश के कारण पुरुष इन्हीं में तन्मय हो जाता है, उन्हीं का अनुसन्धान करने लगता है। उन-उन विषयों के साक्षात्कार के कारण उन्हीं में रम जाता है। इस दशा में यह अज्ञान पौरुष अज्ञान बन जाता है। यहाँ विकल्प भी अविकल्परूप दृढ़ हो जाता है। इस पौरुष अज्ञान की निवृत्ति दीक्षा से होती है।[४] पशु-संस्कारक्षीण हो जाता है। अणु अपनी 'पर' स्थिति, परमशिवत्त्व को पा लेता है। निर्विकल्प विकस्वर विज्ञान का उदय हो जाता है किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि बुद्धिगत अनध्यवसायरूप अज्ञान के रहने पर दीक्षा भी सम्भव नहीं है। बौद्ध अज्ञान के रहते क्या हेय है (what is avoidable) और क्या उपादेय है (what is eccaptable) इसका ज्ञान नहीं होता। हेयोपादेय विज्ञान[५] के अनन्तर गुरुदेव की शरण में साधक पहुँचता है[६], तत्त्वशुद्धि होती है और शिवत्त्व की उपलब्धि होती है।[७]

१. दीयते ज्ञान सद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥ तं० आ० १ पृ० ८० पं० १-२
मालिनी विजयोत्तरतन्त्रम्, अधिकारः ९, अधिकारः ११
२. तं० आ० १।३　　३. तं० आ० १ पृ० ७७ प० १-२
४. मालिनी विजयोत्तर तं० अ० १।४९-६३
५. मालिनी विजयोत्तर तं० अधिकारः १ श्लोक १४।१६, ४०, ५०
६. तदेव आ० १।४४
७. ,, आ० १।४५-४६। तं० आ० १ पृ० ८० पं० ७-१५

तत्र अध्यवसायात्मकं बुद्धिनिष्ठमेव ज्ञानं प्रधानम्, तदेव च अभ्यस्यमानं पौरुषमपि अज्ञानं निहन्ति, विकल्पसंविदभ्यासस्य अविकल्पान्ततापर्यवसानात् ।

अध्यवसायात्मक बुद्धिनिष्ठ ज्ञान ही प्रधान होता है[1]। वही अभ्यस्यमान होकर पौरुष अज्ञान को नष्ट करता है। क्योंकि विकल्प संविद् के अभ्यास का ही अविकल्पान्त भाव में पर्यवसान होता है।

अज्ञान की तरह ज्ञान भी दो प्रकार का ही होता है। १. बौद्ध और २. पौरुष। इस दो प्रकार के ज्ञान में बुद्धिनिष्ठ बौद्ध ज्ञान का ही प्राधान्य है। पौरुष अज्ञान के समाप्त होने पर पौरुषज्ञान उदित होता है। पौरुषज्ञान की अवस्था में पशुसंस्कार क्षीण हो जाते हैं और एक विलक्षण निर्विकल्प ज्ञान का उदय हो जाता है। ज्ञान की यह निर्विकल्पकता जब तक बुद्धिनिष्ठ नहीं होती, तब तक पौरुष ज्ञान के पौरुष अज्ञान में परिणत होने की आशङ्का रहती है। इसलिये बुद्धिनिष्ठ बौद्धज्ञान की प्रधानता स्वतः सिद्ध है। अध्यवसाय बुद्धि का ही लक्षण[2] है। अध्यवसाय से पशु का आणवमल समाप्त हो जाता है। निमित्त के नष्ट होने पर नैमित्तिक का भी विनाश हो जाता है, इस सिद्धान्त के अनुसार आणव मल के नाश हो जाने पर कार्म और मायीय मल भी समाप्त हो जाते हैं। मल की समाप्ति के अनतन्र पाशमुक्त पुरुष में परमचिदैकात्म्य, पराहन्तापरामर्शात्मक, निर्विकल्प, कृत्रिम अहंकार आदि विकल्पों से विलक्षण पौरुषज्ञान उदित होता है। परिणामतः विकस्वर आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। यही आत्मज्ञान वास्तविक बौद्धज्ञान है। इससे बौद्ध अज्ञान विनष्ट हो जाता है और जीवन्मुक्ति करतल स्थित हो जाती है[3]। बौद्धज्ञान से आत्मसंस्कार होता है। संस्कार अध्यवसायात्मक ही होता है। बौद्धज्ञान ही अभ्यास द्वारा पौरुष अज्ञान का भी विनाश कर देता है। समस्त विकल्प संविद् को अभ्यास के बल पर 'यह सब मेरा ही विभव है (सर्वो ममायं विभवः)' इस प्रकार अविकल्प संविद् में पर्यवसित कर जीवन्मुक्ति सरलता पूर्वक प्राप्त की जा सकती है। दीक्षा भी बौद्धज्ञान पूर्विका ही विमोचिका होती

१—तं० आ० १।४५
२—तं० आ० १ पृ० ७६ प० ५
३—तं० आ० १।४४

है। अभ्यास के बल पर विकल्प संविद् का पर्यवसान अविकल्प संविद् में होता है। इसलिये पौरुषज्ञान की अपेक्षा बौद्ध ज्ञान की प्रधानता स्पष्ट है।[1]

विकल्पासंकुचितसंवित्प्रकाशरूपो हि आत्मा शिवस्वभाव इति सर्वथा समस्त-वस्तुनिष्ठं सम्यङ्निश्चयात्मकं ज्ञानमुपादेयम्। तच्च शास्त्रपूर्वकम्। शास्त्रं च परमेश्वरभाषितमेव प्रमाणम्। अपरशास्त्रोक्तानामर्थानां तत्रवैविक्त्येन अभ्युपगमात्, तदर्थातिरिक्त-युक्तिसिद्धनिरूपणाच्च। तेन अपरागमोक्तं ज्ञानं तावत्[2] एव बन्धाद्विमोचकम्, न सर्वस्मात्। सर्वस्मात्तु विमोचकम् परमेश्वरशास्त्रम्, पञ्चस्रोतोमयम्, दशाष्टादशवस्वष्टभेदभिन्नम्।

विकल्पों से असंकुचित संविद् प्रकाशरूप आत्मा ही शिवस्वभाव है। सर्वथा समस्त वस्तुनिष्ठ सम्यक् निश्चयात्मक ज्ञान ही उपादेय होता है। वह ज्ञान भी शास्त्र से होता है। शास्त्र भी वही प्रमाण है, जो परमेश्वर भाषित है। अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थों का इस सम्बन्ध में वैविक्त्य से अभ्युपगम होने के कारण तथा इस शास्त्र में उन अर्थों के अतिरिक्त युक्तिसिद्ध निरूपण के कारण (वे प्रमाण नहीं हैं।)। इससे अन्य शास्त्रों में उक्तज्ञान उतने ही बन्धों से विमुक्त कर सकता है। सभी बन्धनों से नहीं। सभी बंधनों से परमेश्वर शास्त्र ही मुक्त कर सकता है। यह पंचस्रोतोमय है तथा दश, अष्टादश और वस्वष्ट (चौसठ) भेद युक्त[3] है।

विकल्प बौद्ध अज्ञान की अवस्था में ही होते हैं। जैसे बुद्धि में आत्मग्रह। आत्मा में बौद्ध-अज्ञान के उपचित हो जाने पर संविद् में संकोच उत्पन्न होता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर निश्चय रूप से

१—तं० आ० १।४५
२. तं० आ० १।३३
३. तं० आ० १।१८

विकल्प का उन्मूलन हो जाता है[१] और उस समय संविद् में संकोच नहीं रह जाता। ऐसी संविद् का प्रकाश ही आत्मा है। संविद् प्रकाश के प्रसार में ही शिव का 'स्व' भाव उल्लसित होता है। उसी समय आत्मा को शिवत्त्व की उपलब्धि हो जाती है। इसलिये यह स्पष्ट हो जाता है कि विकल्प हेय है और समस्त वस्तुमात्र में अच्छी तरह दृढ़ता पूर्वक (सर्वं ममैवायं विभवः) शिवत्त्व का ज्ञान ही उपादेय है। हेयोपादेयविज्ञान के उभय पक्ष की जानकारी होने पर ही यह निश्चय होता है कि सर्वत्र शिव संविद् का प्रकाश ही प्रसरित है। शिवत्त्व की उपलब्धि ही इसकी उपादेयता है।

यह भी तथ्य और सत्य है कि यह ज्ञान भी शास्त्र से ही हो सकता है। अनुमान आदि के द्वारा इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता कि, संसार हेय है, ज्ञान ही, जीवन्मुक्ति ही अथवा शिवत्त्व ही उपादेय है। शासु अनुशिष्टौ धातु से सर्वधातुभ्यःष्ट्रन् इस उणादि सूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय के सहयोग से निष्पन्न शास्त्र शब्द का अर्थ ही अनुशासन का मूल साधन है। शास्ति अनेन इति शास्त्रम् इस विग्रह के अनुसार शास्त्र द्वारा ही ज्ञान का अनुशासन भी हो सकता है। ज्ञान को शास्त्रपूर्वक कहने का यही तात्पर्य है।

शास्त्र भी अनेक हैं। किस शास्त्र के द्वारा हेयोपादेय विज्ञानसिद्ध जीवन्मुक्ति सम्भव है—इस जिज्ञासा के समाधान के लिये ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमेश्वर भाषित शास्त्र ही इसमें प्रमाण हैं। यह गहन शास्त्रमार्ग भगवान् शंभुनाथ द्वारा प्रवर्त्तित है। उनकी उक्तिरूप शासन-किरणों के द्वारा ही यह अभिव्यक्त है। भगवान् द्वारा उक्त होने के कारण इसमें संशय विपर्यास आदि अनपेक्षित विकल्पों का अभाव है। परपरामर्शसारबोधात्मिका परावाक् में सर्वभाव निर्भर यह शास्त्र परबोधात्मरूप ही उज्जृम्भित होता है। पश्यन्ती दशा में वाच्यवाचकविभागावभास-रहित असाधारण अहं प्रत्यवमर्श रूप से अन्तःकरण में उदीयमान होता है। वहाँ प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहन्ता से आच्छादित होकर ही स्फुरित होता है। मध्यमा दशा में, वाच्यवाचक-विभागावभास दशा में वेद्यवेदक रूप वाच्यार्थ-प्रपञ्च का उल्लास होता है।

१. बोद्धाज्ञाननिवृत्तौतु विकल्पोन्मूलनाद्ध्रुवम्।
तदैव मोक्ष इत्युक्तं धात्रा श्रीमन्निशाटने ॥ —तं० आ० १।५०

इस स्थिति में परमेश्वर ही चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप पाँच मुखों के द्वारा इस शास्त्र का आसूत्रण करते हैं। बैखरी दशा में उसी का स्वर-व्यंजन-संहति रूप स अभेद, भेदाभेद और भेद-वादिता की स्फुटता के साथ अभिव्यंजन होती है। इसलिये पारमेश्वर शास्त्र ही प्रमाण हैं, अन्य शास्त्र नहीं। इसका कारण है। बौद्ध या वैष्णव शास्त्रों में जितने अर्थ अनुशिष्ट हैं, उनमें हेयोपादेय[१] विज्ञान के सम्बन्ध में बड़ा ही अन्तर है। अर्थों के विविक्त विवेचन से बुद्धिभेद ही हो सकता है—एकनिष्ठता नहीं आ सकती।

बौद्धवैष्णवादि शास्त्रों में प्रतिपादित अर्थों से विलक्षण युक्तियों के द्वारा सिद्ध समस्त बाह्यान्तरवस्तुनिष्ठ, विकल्पों से असंकुचित पूर्णप्रथारूप, शिवतत्त्व रूप, वस्तुतत्त्व के निरूपण के कारण भी पारमेश्वर शास्त्र ही प्रमाण हैं!

इसलिये उन-उन बौद्ध वैष्णव आदि आगमों में प्रतिपादित ज्ञान एक सीमा के अन्तर्गत ही बन्धन से विमुक्त कर सकते[२] हैं, सभी प्रकार के पाशों से वे मुक्ति नहीं दिला सकते अर्थात् बौद्ध विचारों से सम्भवतः बौद्ध और वैष्णव विचारों से सम्भवतः वैष्णव ही मुक्त हो सकते हैं! सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति प्रदान करने की शक्ति बस पारमेश्वर शास्त्र में ही है।

उदाहरण रूप से हम योगाचारवादियों के मत की समीक्षा कर सकते हैं। योगाचारवादी कहते हैं कि राग आदि से कलुषित चित्त ही संसार है। इससे विमुक्त हो जाना ही मोक्ष है[३]। 'रागाद्यकलुषोहं भवामि' यही उनका ज्ञान है—यही उनका मोक्ष है, अर्थात् प्रकृति से ही प्रभास्वर चित्त के अनाद्य विद्या के वशीभूत हो जाने के कारण, रागादि आगन्तुक मलों से आवृत हो जाने के कारण संसार का आविर्भाव हो जाता है। इस स्थिति में भावना के अनुष्ठान से आगन्तुक मलों का अपाकरण किया जा सकता है। और अविनश्वर ज्योति रूप 'स्व' रूप की अभिव्यक्ति हो जाती है।

१. मालिनी विजयोत्तर तंत्रम् अधिकारः १।१५-१६
२. तं० अ० १।३२
३. रागादिकलुषं चित्तं संसारस्तद्विमुक्तता।
संक्षेपात्कथितो मोक्षः प्रहीनावरणैर्जिनैः। तं०आ० १ पृ० ६४ पं० १२-१३

यही मोक्ष है। विचारणीय बात है कि इस मोक्ष में भावना ही कारण बनती है। जैसे तिल आदि, पुष्पों से वासित होकर सुरभित होते हैं। कुसुमों के अभाव में वासन क्रिया का वैलक्षण्य तिल में नहीं हो सकता, उसी प्रकार भावना भी सातत्य और अभ्यास के अभाव में प्रभास्वर चित्तक्षणों को उत्पन्न कर सकने में असमर्थ है। मलयुक्त चित्त समल चित्त क्षणों को उत्पन्न तो कर सकने हैं, अपने प्रतिकूल प्रभास्वर चित्तक्षणों को उत्पन्न करने में वे समर्थ नहीं हैं। इसलिये भावना भावित चित्त-शुद्धिरूप मोक्ष भले ही योगाचार वादियों को मुक्त कर दे; सब प्रकार के प्ररूढ़ पाशों से मुक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार, माध्यमिक, बौद्ध, वैष्णव, सांख्यवादी विचारकों के विचार हैं। कोई बुद्धितत्त्व से नीचे संसार की शान्ति को और कोई बुद्धि तत्त्व से ऊपर पुंस्तत्त्व (सांख्य) की प्राप्ति को ही मोक्ष कहते हैं।

चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप ईश, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोररूप पंचवक्त्र से निष्पन्न होने के कारण यह शास्त्र पाँच स्रोतों वाला है। ईशान, तत्पुरुष और सद्योजात इनसे ईशान-तत्पुरुष, ईशान-सद्योजात और सद्योजात तत्पुरुष यह द्व्यात्मक त्रिक् उद्‌बुभूषु और उद्भूत भेद से छः प्रकार का है। भेद-प्रधान ५×२=दश भेदों वाला प्रतिभासित होता है। भेदाभेद प्रधान ६×३=अठारह रुद्रभेद और अभेद प्रधान ६४ भेद भैरव के होते हैं। इस प्रकार पाँच स्रोतों वाला यह शास्त्र दश, अष्टादश और ६४ चतुःषष्टि भेदों में भेद, भेदाभेद और अभेद रूप से विख्यात हैं।[१] ये सभी परम अद्वय तत्त्व के अमृत से परि-प्लावित हैं।

ततोऽपि सर्वस्मात् सारं षड[२]र्धशास्त्राणि। तेभ्योऽपि मालिनीविजयम्। तदन्तर्गतश्चार्थः संकलय्याशक्यो निरूपयितुम्। न च अनिरूपितवस्तुतत्त्वस्य मुक्तत्वं मोचकत्त्वं वा। शुद्धस्यैव ज्ञानस्य तथा रूपत्वात् इति।

१. तं० आ० १ पृ० ३६ ४१
एकैकं पञ्चवक्त्रं च वक्त्रं यस्मात् प्रभिद्यते।
दशाष्टादशभेदस्य ततोभेदेस्त्वसंख्यता॥ तं० आ० १ पृ० ४४ पं० १४-१५

२. तं० आ० १ पृष्ठ ४५ पं० १-८, आ० १।१४

उक्त परमेश्वर शास्त्रों में सबके सार निष्कर्ष रूप षडर्धशास्त्र (त्रिकदर्शन या प्रत्यभिज्ञादर्शन शास्त्र) हैं। इन शास्त्रों का भी सारवस्तु मालिनीविजय नामक शास्त्र है। उसके अन्तर्गत वर्णित अर्थों का संकलित निरूपण अशक्य है। जो वस्तुतत्त्व अनिरूपित है, उसमें मुक्तत्व या मोचकत्त्व गुण नहीं हो सकता है। केवल शुद्ध ज्ञान ही ऐसा होता है।

शैव सिद्धान्त के परमाद्वयवाद के प्रतिपादक, शिवसद्भाव संवलित लाभ के संवाहक इन ५, १०, १८ और ६४ तथा असंख्य भेदों से विभासित शास्त्रों की अनन्तता के कारण इनके सार रूप ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। यों तो तंत्रालोक भी जो शैवदर्शन का आकर ग्रन्थ है, असंख्य शैवशास्त्रों का सार[१] ही है। वह पूर्णार्थी प्रक्रिया का प्रख्यापक महान् ग्रन्थ[२] है। उसमें भी अनुत्तर षडर्ध क्रम दर्शन की महत्ता का प्रतिपादन है। ५, १०, १८ और चौसठ भेदों से भिन्न शिव शासन का सार निष्कर्ष षडर्ध (त्रिक) शास्त्र ही है—यह सर्वस्वीकृत तथ्य है। षडर्धशास्त्रों का सार श्री मालिनीविजयोत्तर शास्त्र है। मालिनी—आद्या शक्ति पर विजय अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पद्धति से सभी स्रोतों से समुत्तीर्ण होने की प्रक्रिया के कारण मालिनी विजय शास्त्र की महत्ता है।[३]

मालिनीविजयोत्तर तंत्र में प्रतिपादित अर्थ भी विभिन्न रहस्यों से अनुप्राणित हैं। सबका एकत्र संकलन करना और संकलित कर उनका निरूपण करना एक अशक्य कार्य है। जिस वस्तु तत्त्व का निरूपण नहीं किया जाता, तब तक तात्त्विकता का प्रकाश प्रसारित नहीं होता। निरूपण के अभाव में उससे अज्ञान का निराकरण नहीं हो सकता। जब तक अज्ञान का निराकरण नहीं होगा, ज्ञान या मुक्ति असम्भव है। न तो वह शास्त्र स्वयम् शास्त्रीय दुराग्रहों से मुक्त हो सकता है और न ही उसमें मोचकत्व की, मलों से, पाशों से अपाकृत करने की ही शक्ति आ पाती है। निरूपण के अनन्तर वस्तुतत्त्व के प्रकाश में ज्ञान का उदय होता है और ज्ञान ही जो वैपरीत्य, संशय या भ्रान्ति से रहित अर्थात् शुद्ध केवल

१. अभ्युष्टसन्ततिस्रोतःसारभूतरसाहृतिम्।
विधायतंत्रालोकोऽयं, स्पन्दते सकलान् रसान्। तं०आ० १पृ० ३० पं०१-२

२. तं० आ० १।१४

३. तं० आ० १।१८

संविद् प्रकाशानन्द चिद्रूप होता है—स्वतः मुक्त अर्थात् दुराग्रहों से रहित रहता है, उसीमें मोचक धर्म भी आ जाता है। ज्ञान होने के साथ ही एककालावच्छेदेन मुक्ति हो जाती है।

संसार में जितने भी नीलपीत रक्त आदि पदार्थ हैं, सुख दुःख आदि भाव हैं, वे सभी बाह्य रूप से परस्पर व्यवच्छेदक होते हैं, भेद के अवस्थापक होते हैं और भावों में भ्रान्ति की भीति उत्पन्न करते हैं। उनके इस बाह्य रूप के अतिरिक्त उनका एक आभ्यन्तर स्वरूप भी होता है। इन पदार्थों और भावों के बाह्यान्तर अनुसन्धान से एक विचित्र तथ्य सामने आता है और समस्त आवरणों का निराकरण होकर एक अविकल्प स्थिति की अनुभूति होती है। उस दशा में अपूर्णता अख्याति विकल्प, संकोच आदि सभी वैपरीत्य का ह्रास और पूर्णताख्याति अविकल्पासंकुचितपूर्ण प्रथात्व संवलित शिवतत्त्व का अभ्युदय होता है। यही शिवतत्त्व का पुरुषार्थ है। इसका ज्ञान ही मोक्ष है। यही शुद्धज्ञान है। इसी अर्थ को लक्ष्य कर यह प्रतिपादित किया गया है कि शुद्धज्ञान ही मोचक होता है।

स्वभ्यस्तज्ञानमूलत्वात् परपुरुषार्थस्य तत्सिद्धये इदम् आरभ्यते—

> अज्ञानं किलबन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत्स्मृतं,
> पूर्णज्ञानकलोदये तदखिलं निर्मूलतां गच्छति।
> ध्वस्ताशेषमलात्मसंविदुदये मोक्षश्च तेनामुना,
> शास्त्रेण प्रकटीकरोमि निखिलं यज्ज्ञेयतत्त्वं भवेत्॥

परम पुरुषार्थरूप मोक्ष यद्यपि ज्ञानमूलक है फिर भी उसमें अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसीलिये शास्त्रकार का कथन है कि परपुरुषार्थ के स्वभ्यस्तज्ञानमूलक होने के कारण उसकी सिद्धि के लिये इस शास्त्र का आरम्भ किया जाता है—

अज्ञान निश्चय ही बन्ध का हेतु है। शास्त्र में उसे मल कहते हैं। पूर्णज्ञान की कला के उदय हो जाने पर मल का, अज्ञान-का समूल उन्मूलन हो जाता है। अशेष मलों के ध्वस्त हो जाने पर

एक संविद् रूप ज्ञानात्मक प्रकाश का उदय होता है। उसी से मोक्ष की उपलब्धि होती है। इसी से मैं इस तंत्रसार शास्त्र के द्वारा निखिल ज्ञेय तत्त्व के रहस्य को प्रकट कर रहा हूँ। यह शास्त्र भी ज्ञेयतत्त्व रूप बने।

एक बार पढ़, सुन या कह लेने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष परमपुरुषार्थ है। चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में मोक्ष ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसीलिये वह परम पुरुषार्थ है। उस महत्त्वपूर्ण सर्वोत्कर्षेण विश्रुत पुरुषार्थ की प्राप्ति अनायास नहीं हो सकती। साधारण पुरुषार्थ अर्थ की, काम की एवम् सर्वधारक पुरुषार्थ धर्म की प्राप्ति के लिये महान् अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में सर्वोत्कृष्ट परमपुरुषार्थ की उपलब्धि सहज संभाव्य कैसे हो सकती है? इसीलिये सुष्ठुरूप से, सम्यक् रूप से अभ्यस्त ज्ञान की उपलब्धि के मूल में मोक्ष का निवास माना जाता है। ज्ञान के अभ्यास में सतत-चिन्तन का भाव निहित है। 'करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान' के अनुसार पाशबद्ध जडमति पशु भी सु (सम्यक्) जान (ज्ञानी) हो जाता है। स्वभ्यस्त ज्ञान सहजज्ञान में परिणत हो जाता है और सहज ज्ञान ही मुक्ति है।

—:❀:—

उपोद्घातः

तत्र इह स्वभाव एव परमोपादेयः, स च सर्वभावानां प्रकाशरूप एव, अप्रकाशस्य स्वभावतानुपपत्तेः। स च नानेकः, प्रकाशस्य तदितर-स्वभावानुप्रवेशायोगे स्वभावभेदाभावात्। देशकालावपि च अस्य न भेदकौ, तयोरपि तत्प्रकाशस्वभावत्वात्, इति एक एव प्रकाशः, स एव च संवित्। अर्थ-प्रकाश-रूपा हि संवित् इति सर्वेषामत्र अविवाद एव।

इस दर्शन में स्वभाव ही परम उपादेय रूप से मान्य है। 'स्व' भाव सभी भावों का प्रकाशरूप ही है। अप्रकाश को स्वभाव नहीं माना जा सकता। वह अनेक नहीं होता। प्रकाश का प्रकाशेतर स्वभाव में अनुप्रवेश नहीं होता। अतः स्वभाव भेद नहीं हो सकता। देश और काल (Space & Time) भी प्रकाश के या स्वभाव के भेदक नहीं हो सकते। कारण, वे भी स्वप्रकाश स्वरूप ही हैं। इससे यह सिद्ध है कि प्रकाश एक ही है। वही प्रकाश संविद् है। अर्थप्रकाश-कारिणी संविद् होती है—यह सर्ववादिसंमत सिद्धान्त है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सबसे बढ़ कर उपादेय 'स्व' भाव ही है। स्व भाव क्या है—इस सम्बन्ध में विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जितना भाव, व्यापार, क्रिया या सत्तात्मक अस्तित्व है, सबका प्रकाश ही स्वभाव है। नील पदार्थ-गत नीलत्व उस पदार्थ का रूप नहीं है, वरन् प्रकाश ही उसका रूप है। वह प्रकाश ही नीलिता में प्रकाशित है। जो पदार्थ अप्रकाशरूप है वह स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकता, प्रथित नहीं हो सकता, उसका प्रख्यान नहीं हो सकता। इसलिये उसके स्वभाव की उपपत्ति भी नहीं हो सकती। वह अनेक नहीं होता है। एक ही होता है। प्रकाशरूप से एक होने के कारण इसमें अनेकत्व का अनुकल्पन नहीं हो सकता। प्रकाश का स्वभाव प्रकाशित होना ही है। प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी स्वभाव का प्रकाश में अनुप्रवेश नहीं होता। इतरस्वभावानु-प्रवेश का योग यहाँ हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में स्वभाव में भेद का योग भी नहीं हो सकता। एक घड़ा है। उसमें घड़े का आकार है। घड़े में घटाकार का अनुप्रवेश है। घटाकाराकारित स्वभाव वाला घड़ा है। घड़े में मिट्टी के आकार का अनुप्रवेश है। घड़े का आकार और मिट्टी का आकार दो इतर पदार्थ हैं। यहाँ इतर स्वभावानुप्रवेश है। इस लिये दोनों के स्वभाव में भेद है किन्तु प्रकाश रूप से घटाकारित्व भी प्रकाशस्वभाव है और मिट्टी का आकार भी प्रकाश स्वभाव है। फलतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश एक ही होता है।

देश और काल पदार्थ के व्यवच्छेदक होते हैं। एक देश में, एक स्थान पर एक समय में एक ही घट है। यदि अनेक स्थानों पर अनेक काल में अनेक घड़ों का अवस्थापन किया जाय, तो भी सर्वत्र सदैव घटत्व का

प्रकाश ही प्रसरित होगा। घड़ा पदार्थ का प्रकाश ही उसका स्वभाव है। देश और काल भी स्वयम् प्रकाशरूप ही हैं। प्रकाश रूप से ही कलित है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकाश एक ही होता है। प्रकाश ही 'संविद्' है। 'संविद्' अर्थ प्रकाश रूपा ही होती है। पदार्थ का प्रकाश संविद् प्रकाश है। घड़ा नीला है। यह पीताम्बर है। इन वाक्यों में नीलत्व और पीतत्व की जानकारी घड़े के अथवा वस्त्र के स्वभाव की जानकारी नहीं है। प्रकाश सम्बन्ध से प्रकाशमान नीलत्व और पीतत्व का परिज्ञान प्रकाश के कारण ही होता है। इसलिये प्रकाश ही परमार्थ है, स्वभाव है या संविद् है। इस विचार से किसी का कोई मतभेद नहीं है क्योंकि अप्रकाशरूप पदार्थ प्रकाशमान नहीं हो सकता। बिना चूना किया हुआ घर उज्ज्वल धवल सौध नहीं कहा जा सकता। इसलिये सर्व-वस्तु सद्भाव प्रकाश रूप ही है और यही प्रकाश संविद् है।

स च प्रकाशो न परतंत्रः। प्रकाश्यतैव हि पारतंत्र्यम्। प्रकाश्यता च प्रकाशान्तरापेक्षितैव, न च प्रकाशान्तरं किंचिदस्ति इति स्वतंत्र एकः प्रकाशः। स्वातंत्र्यादेव च देशकालाकारावच्छेदविरहात् व्यापको नित्यः सर्वाकारनिराकारस्वभावः। तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्द शक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः, प्रकाशरूपा चिच्छक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकार-योगित्वं क्रियाशक्तिः इत्येवं मुख्याभिः शक्तिभि र्युक्तोऽपि वस्तुतः इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः, स एव स्वातंत्र्यात् आत्मानं संकुचितम् अवभासयन् अणुरित्युच्यते।

वह प्रकाश परतंत्र नहीं होता। प्रकाश्यता ही पारतंत्र्य है। प्रकाश्यता प्रकाशान्तर की अपेक्षा रखती है। प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसलिये प्रकाश को, एक और स्वतंत्र मानते हैं। स्वातन्त्र्य के कारण एवं देश और काल के अवच्छेद से रहित होने के कारण यह व्यापक है, नित्य है और सर्वाकार निराकार स्वभाव वाला है। प्रकाश का स्वातन्त्र्य ही आनन्द शक्ति है, उसका चमत्कार इच्छाशक्ति, प्रकाश रूपता

ही चिच्छक्ति, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्ति और सर्वाकार योगित्व ही क्रियाशक्ति है। इस प्रकार इन मुख्य शक्तियों से युक्त होने पर भी वस्तुतः इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों से युक्त अनवच्छिन्न प्रकाश निजानन्दविश्रान्त शिवरूप ही है। स्वातन्त्र्य के कारण अपने को संकुचित अवभासित करता हुआ वही अणु कहलाता है।

जो प्रकाश है, वह सबको प्रकाश प्रदान करता है।[1] प्रकाशन क्रिया का कर्त्ता ही प्रकाश है। वह पर प्रमाता रूप है। उसे अनुत्तर भी कहते हैं। कर्त्ता होने के कारण वह स्वतंत्र होता है।[2] उसके परतंत्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वह भैरवीय परम तेज प्रमाता और प्रमेय रूप विश्व को प्रकाश प्रदान करता है, प्रकाशित करता है। विश्व की प्रकाश्यता प्रकाश पर निर्भर करती है। प्रकाश्यता ही परतंत्रता है। प्रकाश्यता को पर-प्रकाश की अपेक्षा होती है। प्रकाश के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। स्व भित्ति में स्वेच्छा से[3] सब कुछ प्रकाशित करने के कारण प्रकाशन-क्रिया-कर्तृत्व प्रकाश में ही निहित है। प्रकाश स्वतः सर्वत्र प्रकाशमान है। अतएव वह स्वतंत्र है, एक है, परप्रमातृरूप परमेश्वर शिव है। स्वात्म-व्योम में अनर्गल परमेशान परमेश्वर ही समस्त सृष्टि, स्थिति और संहार के आडम्बर का प्रदर्शक है।[4] वही स्वतंत्र है। वही प्रकाश है।

अपनी स्वातंत्र्यशक्ति के कारण ही देश, काल, आकार की विभाजक रेखायें उसे अवच्छिन्न नहीं करतीं हैं। वह नित्य है, अनपेक्ष है और स्वतंत्र है। इसलिये उसे देश, काल[5] और आकृति की सीमायें नियंत्रित नहीं कर सकती हैं।[6] समस्त विश्व का आकार उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह सर्वाकार स्वरूप है। वह आकार रहित भी है। साकार निराकार उभय प्रकारक स्वभाव सम्पन्न वह परमेश्वर चिद्-अचित्-[illegible]रु-वैचित्र्य का अवभासक है, विभु है और सर्वव्याप्त है।

---

१. तं० आ० ३।२ (यः प्रकाशः स सर्वस्य प्रकाशत्वं प्रयच्छति ।)
२. स्वतंत्रः कर्ता अष्टाध्यायी १।४।५४
३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र—१-२
४. तं० आ० आ० ३।३
५. तं० आ० ६।७ पृ० ५ पं० १०-११ ६. १-१५
६. तं० आ० १।५९-६१

उसकी स्वातंत्र्य शक्ति को, उसके चमत्कार वैचित्र्य को, उसकी प्रकाश रूपता को, उसकी आमर्शात्मकता को और उसकी सर्वाकृति सम्पन्नता को इस तरह समझा जा सकता है।

वर्णमाला का प्रथम अक्षर 'अ' है। इसके दो रूप हैं। १. अ—(अनुत्तर) और २. आ—(आनन्द)। अनुत्तर और आनन्द दोनों प्रकाश हैं; शक्ति पुंज हैं। स्वातंत्र्य शक्ति के कारण ही अनुत्तर प्रकाश आनंद रूप में प्रसृत होता है। आनन्द शक्ति में उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का विस्फार ही विद्योतित है। प्रकाश और विमर्श रूप अनुत्तर स्तर के संघट्ट से ही 'आ' रूप द्वितीय वर्ण, आनन्द के उत्स का उदय होता है।[1] इसी से विश्व का निर्माण होता है। भौतिक दार्शनिक चर्याक्रम में स्त्री-पुरुष के संघट्ट में आनन्दवाद का उदय होता है और फिर विसर्ग होता है।

इच्छा शक्ति प्रकाश का ही चमत्कार है। प्रकाश में एक विशिष्ट धर्म होता है। जिसे अहम्प्रत्यवमर्श कहते हैं। अहम्प्रत्यवमर्श के द्वारा प्रकाश में विभुत्व नित्यत्व आदि का आक्षेप हो जाता है। उसी धर्म के चमत्कार मे इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[2] चित् के प्राधान्य के कारण परप्रमाता में सिसृक्षा रूप परामर्श के उदय से ही इच्छा शक्ति उदित हो जानी है। इसीलिये प्रकाश के चमत्कार को ही इच्छा शक्ति कहते हैं।

प्रकाश की प्रकाशरूपता ही चित् शक्ति है। चिद् शक्ति प्रकाश रूप ही है। 'चिति' भी चित् शक्ति ही है। 'चिति' शक्ति तुर्यातीत पदात्मिका पराशक्ति है।[3] यह परमस्वतंत्र है और विश्व सिद्धि की हेतु है[4]। प्रसाद ने कामायनी नामक महाकाव्य में इसे ही महाचिति कहा है[5]।

---

१. तं० आ० आ० ३।६८
२. तं० आ० १।६७, ३।७८-७९
३. तं० आ० ५।९३
४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १
५. कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मूलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त ॥
—कामायनी श्रद्धा पृ० ५ पं० १-४

चिदानन्दैषणा के विश्लेषण के उपरान्त ज्ञानशक्ति की परिभाषा उपस्थित करते हुए अभिनवगुप्त पादाचार्य कहते हैं—आमर्शात्मकता ही ज्ञान शक्ति है। अंतर्विजिज्ञास्य विश्व का उन्मेष अनुभूति का अथवा बोध का विषय है। यद्यपि यहाँ भी स्वात्मपरामर्श ही होता है। फिर भी विश्वोन्मेष के आद्य परिस्पन्द का ज्ञान उसी प्रकाशरूप परमेश्वर की ज्ञान शक्ति द्वारा संपन्न होता है। उन्मेष दशा की आद्य अनुभूति ज्ञान द्वारा ही सम्भव है।[1]

'अ' या 'आ', 'उ' के संयोग से ओकार तथा पुनः सन्धि से औकार का रूप ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार अनुत्तर और आनन्द उन्मेष के सहयोग से और पुनः तन्मयता रूप सन्धि से क्रिया शक्ति के रूप को प्राप्तकर लेते हैं।[2] सर्वाकार योगित्व इस दशा में स्पष्ट अवभासित हो जोता है। 'अकुह विसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार कवर्ग हकार और विसर्ग की उत्पत्ति जैसे अकार से ही सम्भव है, उसी प्रकार अनुत्तर प्रकाशात्म शिव से ही यह समस्त विसर्ग समुद्भूत होता है। यह चिदानन्दैषणाज्ञान क्रिया रूप प्रकाश का प्रपंच शिव का ही विस्फार है।

प्रकाश रूप परमेश्वर की यही ५ मुख्य शक्तियाँ हैं। इन मुख्य शक्तियों से शिव संवलित है। किन्तु इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों का ही प्राधान्य सर्वत्र है। चिद् और आनन्द यह दोनों अवस्थायें तो शिव और शक्ति की यामल अवस्थायें हैं। यह यामल रूप संघट्ट इच्छा, ज्ञान और क्रिया के त्रिक से ही सम्पन्न होकर अनवच्छिन्न भाव से प्रकाशमान होता है। निजानन्द विश्रान्ति के कारण वह यामलस्वरूप शिव के नाम से ही अभिहित होता है। प्रकाश ही शिव है। अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के कारण अपने को ही जब वह संकुचित अवभासित करता है, तब 'अणु' नाम से विभूषित हो जाता है। स्वात्मसंकोच ही अणुत्त्व है। अणु ही जीव 'पुद्गल' 'पाशबद्ध' क्षेत्रवित् और पशु शब्दों से भी अभिहित होता है।[3] ये अणु प्रकाशात्म शिव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं।

पुनरपि च स्वात्मानं स्वतंत्रतया प्रकाशयति, येन अनवच्छिन्नप्रकाशशिवरूपतयैव प्रकाशते।

१. तं० आ० ३।७४ २. तं० आ० ३।९६-९७

३. तं० आ० ९।१४४-१४५

तत्रापि स्वातंत्र्यवशात् अनुपायमेव स्वात्मानं प्रकाशयति सोपायं वा। सोपायत्वेऽपि इच्छा वा, ज्ञानं वा, क्रिया वा अभ्युपाय इति त्रैविध्यं शाम्भव-शाक्ताणव भेदेन समावेशस्य। तत्र चतुर्विधमपि एतद्रूपं क्रमेण अत्र उपदिश्यते।

आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतंत्रः,
स्वातंत्र्यनर्मरभसेन निजं स्वरूपम्।
संच्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं,
तच्च क्रमाक्रमवशादथवा त्रिभेदात् ॥५॥

एहु पआसऊउ अत्ताणत, सच्छन्दउ ढक्कइ णिअऊउ।
पूणु पअढइ झढि अह कमवस्व, एहत परमथिंण शिवरसु ॥

(छाया—एष प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निजरूपम्। पुनः प्रकटयति झटिति अथ क्रमवशाद् एष परमार्थेन शिवरसम्॥)

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचिते तन्त्रसारे विज्ञानभेद प्रकाशनं नाम प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

शिव स्वात्म को स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करता है। फलतः वह अनवच्छिन्न प्रकाश शिवरूप से ही प्रकाशमान होता है। स्वातंत्रशक्ति के कारण स्वात्मप्रकाशन के अनुपाय और सोपाय प्रकाशन, उसके दो माध्यम हैं। सोपाय-प्रकाशन में इंच्छा अथवा ज्ञान अथवा क्रिया ही उपाय बनते हैं। इस प्रकार समावेश की त्रिविधता शाम्भव, शाक्त और आणव उपायों में स्पष्ट हो जाती है। अनुपाय विज्ञान एवम् शाम्भव, शाक्त और आणव समावेश का त्रैविध्य, दोनों मिलकर प्रकाशात्म शिव का चातुर्विध्य सिद्ध करते हैं। इस ग्रंथ में क्रमशः यह चातुर्विध्य उपदिष्ट है।

आत्मा प्रकाशवपुष् शिव है। यह स्वतंत्र है। स्वातंत्र्य के नर्म में आग्रह के कारण यह अपने विभुरूप को आच्छादित करता है। पुनः

पूर्णताका प्रथन करता है। इसलिये क्रम, क्रमाक्रम और अक्रम इन भेदों से ही यह (ज्ञातव्य है) ॥ ५ ॥

यह आत्मा प्रकाश रूप है, स्वच्छन्द है। यह अपने रूप को स्वतः ढक लेता है। पुनः तत्काल उसे प्रकट भी करता है। इस प्रकार शिवरूप-रस को परमार्थतः ढकता और प्रकट करता है। इससे एक क्रम की सृष्टि हो जाती है।

भगवान् महेश्वर स्वातंत्र्य शक्ति सम्पन्न परमेश्वर है।[1] शक्ति सम्पन्न कहना भी यहाँ उपचारात्मक ही है। उनका स्वातंत्र्य ही उनकी शक्ति है। वह अद्वय भी है।[2] इसलिये वह शक्तिमान् है। समग्र जगत् उसकी शक्ति का ही विस्फार है।[3] स्वातंत्र्य शक्ति के कारण ही वह प्रकाशरूप परम शिव स्वतः प्रकाशमान है और 'सर्व' को प्रकाश प्रदान करता है। स्वात्म-व्योम में अनवच्छिन्न भाव में अनर्गल रूप से प्रकाश विकीर्ण करता हुआ वही परमेशान सृष्टि, स्थिति और संहार रूप आडम्बर का प्रदर्शन करता है।[4] वह परम स्वतंत्र है। इसलिए स्वात्म प्रकाशन में, अनुपाय और सोपाय दो रूपों से व्यक्त होने में भी, वह पूर्णतया स्वतंत्र है। दृढ़शक्तिपात भावित साधक जिस उपाय रहित नित्योदित परामर्श का अनुभव करता है, वही परम शिव की अनुपायावस्था है। वहाँ कर्तृत्व, करणत्व, अपादानादि कारकों की कल्पना का भी अभाव होता है।[5] वह अनन्त, शान्त, केवल, चिद्घन, प्रकाशैकरूप परमपरामर्श सर्ववेद्य रूप से भी भासित होता है। इसी अवस्था को निरावरण भान की स्थिति कहते हैं। निजात्मकता से समावृत समरस स्थिति भी वही है। वह आवृत भी है और अनावृत भी है।[6] यह अनुपायावस्था का प्रकाशन है।

---

१. तं० आ० १ श्लोक - १-९४
२. तं० आ० १ । ६९
३. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं, शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥
तं० आ० १, पृ० १५५ पं० १-२
४. तं० आ० ३ श्लोक ३ पृ० ३ पं० १०-१६
५. तं० आ० ३ पृ० २४९ पं० १-६
६. तं० आ० १।९३

सोपायावस्था में वह इच्छा या ज्ञान या क्रिया रूप से शाम्भव, शाक्त और आणव समावेश के आश्रय से प्रकाशित होता है। शाम्भव अवस्था की तीन अनुभूतियाँ मुख्य हैं। १. यह सारा विश्व विस्तार मुझसे ही उदित है। २. यह मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और ३. यह मुझ से अभिन्न है। शाक्त समावेश में भेदाभेद प्रधानता विद्यमान रहती है और आणव समावेश तो पूर्ण भेदात्मक प्रथन ही है। इस प्रकार अभेद, भेदाभेद और भेदवाद की विसर्गात्मकता से संवलित परम शिव ही सर्वत्र सर्वरूप में प्रकाशित है। अनुपाय और सोपाय का त्रैविध्य यह दोनों पक्ष मिलकर परमशिव की चतुर्विध प्रकाशनशीलता को व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष ही पंचम श्लोक है। इससे अनुभूतिकी निश्चयात्मक स्थितिका इस प्रकार आकलन होता हैं। १. शिव ही आत्मा है। २. प्रकाश ही उसका शरीर है। ३. वह स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न है। ४. स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही अपने स्वरूप को आवृत करता है। ५. पुन स्वातंन्त्र्य शक्ति के कारण ही वह पूर्ण प्रथात्मक परमेश्वर अभिव्यक्त होता है। ६. इसमें क्रमात्मकता और अक्रमता सबका समावेश है। ७. त्रिभेद और चतुर्भेद से भासित होने वाला वह परम शिव ही है। यह सात प्रकार की धारणायें साधक के हृदय में होती हैं।

इसी संस्कृत श्लोक की छाया प्राकृत श्लोक भी है। इसमें पारमार्थिक शिवरस की ओर संकेत किया गया है। शिवविज्ञान का मौलिक विश्लेषण इस अध्याय में श्रीमदभिनवगुप्त ने किया है।

श्रीमदभिनवगुप्त पादाचार्य विरचित तन्त्रसार के 'विज्ञान भेद प्रकाश' नामक प्रथम आह्निक का नीरक्षीरविवेक हिन्दी भाष्य सम्पूर्ण।

द्वितीयमाह्निकम्

अथ अनुपायमेव तावत् व्याख्यास्यामः

इस प्रकरण में अनुपाय की ही प्रसङ्गानुसार व्याख्या करेंगे। प्रथम आह्निक में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से संयुक्त, अनवच्छिन्न प्रकाशरूप निजानन्दविश्रान्त शिव स्वातंत्र्य शक्ति के कारण स्वात्मसंकोचवश अणु रूप से भी अवभासित होता है; फिर स्वातंत्र्य के कारण ही अपने को प्रकाशित भी कर लेता है और अनवच्छिन्न प्रकाश रूप से भी भासित होता है। इस आत्मप्रकाश की दो अवस्थायें हैं। १. अनुपाय स्वात्मप्रकाश और २. सोपाय स्वात्मप्रकाश।

यहाँ उसी अनुपाय स्वात्मप्रकाश दशा की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं। अनुपाय शब्द, न उपाय अनुपाय इस व्युत्पत्ति विग्रह के अनुसार नञ् समास से निष्पन्न शब्द है। नञ् समास, तत्पुरुष समास के अन्तर्गत आता है। महाभाष्यकार ने 'उत्तर पदार्थप्रधानः तत्पुरुषः' की उक्ति के द्वारा तत्पुरुष की उत्तरपदप्रधानता का विधान किया है। जैसे कोई ब्राह्मण नहीं है-इस अर्थ में न और ब्राह्मण से समास होता है और अब्राह्मण शब्द बनता है। यहाँ नञ् का अर्थ आरोपितत्व किया जाता है। अनुपाय शब्द में नञ् का अर्थ आरोपितत्व नहीं है[1] वरन् तदल्पार्थत्व है।

वास्तव में नञर्थ ६ प्रकार का माना जाता है।[2] १. तत्सादृश्य, २. अभाव, ३. तदन्यत्व, ४. तदल्पत्व, ५. अप्राशस्त्य और ६. विरोध। अब्राह्मण, अपाय, अनश्व, अनुदरा कन्या, अपशु और अधर्म ये क्रमशः उदाहरण हैं। इनमें तदल्पत्व का उदाहरण अनुदरा कन्या है। यहाँ

१. तन्त्रसार पृ० ८ पं० १६

२. तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥

—सिद्धान्त कौमुदी पृ० ५६ पं० ६-७

अल्पार्थता का ही द्योतन होता है। कन्या का उदर देश इतना सूक्ष्म है कि, नहीं के समान ही है। इसी प्रकार परमेश्वर शिव में उपाय इतना सूक्ष्म है कि, उसे अनुपाय कहना ही पर्याप्त है, उचित है। दूसरे किसी शब्द से इस सौक्ष्म्य का समभिव्याहार नहीं किया जा सकता। इस द्वितीय आह्निक में इसी अनुपाय विज्ञान की व्याख्या की जा रही है।

यदा खलु दृढशक्तिपाताविद्धः स्वयमेव इत्थं विवेचयति सकृदेव गुरुवचनमवधार्य, तदा पुनरुपायविरहितो नित्योदित अस्य समावेशः। अत्र च तर्क एव योगाङ्गम् इति कथं विवेचयति इति चेत्, उच्यते—योऽयं परमेश्वरः स्वप्रकाशरूपः स्वात्मा तत्र किमुपायेन क्रियते? न स्वरूपलाभः नित्यत्वात्, न ज्ञप्तिः स्वयं प्रकाशमानत्वात्, न आवरणविगमः आवरणस्य कस्यचिदपि असंभवात्, न तदनुप्रवेशः अनुप्रवेष्टुः व्यतिरिक्तस्य अभावात्।

जब दृढशक्तिपात से आविद्ध [साधक] स्वयं गुरुवचनों को एक बार ही अवधारणा कर इस प्रकार विवेचन करता है; उसी समय उसका उपाय-रहित नित्योदित समावेश होता है। परमेश्वर तन्त्र में तर्क योग का अङ्ग है। उसके विवेचन का प्रकार क्या है? इसका उत्तर यह है—जो स्वप्रकाशरूप स्वात्मा परमेश्वर है, उसे उपाय से क्या? उसे स्वरूप लाभ नहीं होता, क्योंकि वह नित्य है। उसकी ज्ञप्ति नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशमान है। आवरण के अपगम विगम का प्रश्न ही नहीं, क्योंकि वहाँ किसी आवरण की सम्भावना ही नहीं। उसमें अनुप्रवेश का प्रश्न भी व्यर्थ है क्योंकि उससे पृथक् अनुप्रवेष्टा का अस्तित्व ही नहीं।

अणु पुरुष पुद्गल होता है। वह आणव, कार्म और मायीय मलों से आवृत रहता है। सृष्टि, स्थिति, संहार और तिरोधान में इन मलों की अपेक्षा होती है। किन्तु ५ वें कृत्य अनुग्रह में इनकी अपेक्षा नहीं होती। अनुग्रह के कारण अक्रमभाव से ही साधक-अणु में ज्ञान का उदय हो जाता है।

इस प्रकार शिव में भक्ति के कारण साधक पर शक्तिपात होता है।[1] संसार अज्ञानमूलक होता है। इसके अपगम होने पर ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान के उदय हो जाने पर ही शक्तिपात होता है।[2] शक्तिपात का पात्र अणु होता है। शक्ति का पातयिता शिव है। शक्तिपात तीव्र, मध्य, मन्द के उत्कर्ष, माध्यस्थ्य और निकर्ष भेद से नव प्रकार का होता है। उत्कृष्टतीव्र शक्तिपात से देहान्तोपरान्त परमेश्वररूपता प्राप्त हो जाती है। मध्यतीव्र शक्तिपात से शास्त्र और आचार्य की अपेक्षा के बिना ही प्रातिभज्ञान का उदय हो जाता है। मन्दतीव्र शक्तिपात से गुरु प्राप्ति की अभिलाषा, गुरु के शरण में जाने की आकांक्षा होती हैं। तीव्र शक्तिपात से व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है।[3] इसमें परिपूर्ण चिदात्मता अवश्यम्भावी है। समस्त उपाधियाँ ध्वस्त हो जाती हैं।[4] इस प्रकार के दृढ़शक्तिपात से आविद्ध साधक स्वयम् शिवरूप से प्रकाशमान हो उठता है। यहाँ आविद्ध शब्द भी विचारणीय है। इसके कुटिल, भुग्न, वेल्लित, वक्र, नुत्त, नुन्न, अस्त, निष्ठ्यूत, क्षिप्त और ईरित अर्थ होते हैं[5]। प्रस्तुत प्रकरण में वेल्लित, नुत्त, अस्त और ईरित अर्थ लिये जा सकते हैं। पुद्गलता की अज्ञता से वह अणु साधक विभ्रान्त रहता है। शक्तिपात के द्वारा साधक एकाएक दूसरी नयी भूमिका में प्रवेश कर जाता है। वह सीमा के संकुचित वृत्त से असीम शिवत्वके रश्मि जाल से वेल्लित हो उठता है, शिवत्व से प्रेरित होता है। स्वतः उक्त प्रकार से सोचने लग जाता हैं। उसे गुरु वचनों पर विश्वास होता है। गुरु की कृपा दृष्टि से वह शक्तिपात पवित्रित हो जाता है।[6] उस अवस्था का परामर्श उसे वैचारिक विन्दु के सर्वोच्च व सर्वातिशायी पदवी में अधिरूढ़ कर देता है। वह सोचने लगता है—यह जगत् मुझसे ही उत्पन्न है। परबोध प्रकाश रूप मुझ में ही विश्रान्त और विगलित होता है। वह अनेरे

1. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा (प्रक्रिया विमर्श) ४।५।५६ तं० आ० ९।१८८
2. तन्त्रसार: आ० ११ पृ० ११५ प० ८
3. तंत्रसार: आ० ११ पृ० १२१-१२३
4. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा (प्रक्रिया विमर्शः , ४५७
5. अमरकोश पृ० १०४ श्लोक: ७१ पृ० १०६ श्लोक: ८७
6. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा (प्रक्रिया विमर्शः) ४५९

दृष्टि से स्व और सर्व का अवलोकन करता है। यह उसकी तुरीयावस्था होती है।[1] यह परमेश के द्वारा भावित दशा का ही स्फुरण है।[2] इस प्रकार की शक्तिपात की पात्रता सबको प्राप्त नहीं हो सकती।

उस समय साधक को नित्योदित समावेश होता है। यह आत्मसाक्षात्कार रूप सदोदित परामर्श समस्त उपायों से रहित होता है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का पूर्णाहन्तापरामर्श गुरुकृपा और परमेश्वर की भावना से भावित होने के कारण हो जाता है, उसे अन्य किसी मंत्र, मुद्रा तथा जपादि की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[3]

प्रत्यभिज्ञादर्शन में शक्तिपात को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं।[4] फिर भी शास्त्रकारों की यह शैली है कि अभिधेय और प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए शङ्का और समाधान पद्धति का, तर्क का आश्रय लेते हैं। क्योंकि तर्क ही योग का उत्तम अंग है।[5] तर्क से हेय और उपादेय का निर्णय होता है और स्वरूप विमर्श हो जाता है।

प्रश्न यह है कि जब साधक को नित्योदित पूर्णाहन्ता परामर्श हो गया, वह साक्षात् विश्वेश्वर हो गया और उसके संविदात्म रूप में ही यह सारा विश्व प्रपञ्च प्रतिबिम्बित होने लग जाता है। ऐसी दशा में शास्त्रकार

1. तन्त्रालोक: आ० ३ श्लोक: २८७
2. तन्त्रालोक: आ० ३ श्लोक: २८८
3. तं० आ० ३।२९०, तं० आ० २।३७-३८
   स्नानं व्रतं देह-शुद्धिर्धारणा मन्त्र योजना।
   अवक्लृप्तिर्यागविधिर्होमजप्य - समाधयः।
   इत्यादि कल्पना कापि नात्र भेदेन युज्यते। ३।२९०
4. तं० आ० १ पृ० ५२ प० ३-४
5. तं० ४।१५ प्राणयामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
   तर्कश्चैव समाधिश्च, षडङ्गो योग उच्यते। इत्यादिनीत्या तर्कस्य प्राणायामादिभिर्योगाङ्गत्वे साम्यम्। इदं हेयमिदमुपादेयमिति विचारयन् योगी झटित्येव तत्त्वज्ञो भवति।
   ऊहोऽन्तरंगं योगस्य, तेन चाऽन्यव्यवस्थितेः।
   साधारणोऽप्यसौ मुक्तेर्भूयसोपकरोति हि।
   तं० आ० १ पृ० १५ पं० १४

ने क्यों लिखा—'इत्थं विवेचयति ? यह विवेचन की स्थिति तो साधना की उन्नत भूमि नहीं होती ? इसका समाधान सुन्दर है। स्वप्रकाशरूप स्वात्म परमेश्वर का उपाय से क्या प्रयोजन है ? शक्तिपात से अपने रूप की प्राप्ति हो जाती है—यह तर्क भी निराधार है। कारण स्वरूप लाभ अनित्य पदार्थों को होता है। जैसे किसी कारण से कार्य की उत्पत्ति ! जैसे मिट्टी से घड़े को रूप लाभ होता है। मिट्टी के आकार से घड़े को एक अभिनव आकार प्राप्त होता है। कपास से पूनी, पूनी से सूत, सूत से वस्त्र, वस्त्र से उष्णीष और उससे भी अन्यान्य रूपों की प्राप्ति होती रहती है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में स्वरूप लाभ की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। परमेश्वर नित्य है। अतीत में जो था, वर्त्तमान में वही है और अनागत भविष्य में भी वह वही रहेगा। उसके स्वरूप लाभ की स्थिति का ही अभाव है।[१]

जहाँ तक ज्ञप्ति का प्रश्न है—शिव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। विश्व पर-प्रकाश्य है। इसकी ज्ञप्ति होती है। शिव स्वप्रकाश है। उसकी ज्ञप्ति नहीं हो सकती। 'आत्मा ही यह सब है' इस परामर्श में आत्म अनात्म के विकल्प का आक्षेप है। जब 'ऐसा ही यह है' परामर्श हो जाता है, तब उसका साक्षात्कार हो जाता है। यही ज्ञानोपाय है। इसी से पुद्गल को आत्मज्ञप्ति होती है। शिव तो स्वयं प्रकाशमान आत्मा ही है।'

पृथ्वी जल से शुद्ध होती है। जल वायु से शुद्ध होता है। वायु तेज से शुद्ध होता है। तेज भी आकाश से शुद्ध होता है। शुद्धि मंत्रों से होती है। मंत्र स्वतः शुद्ध होते हैं। मंत्रों से जैसे पंचमहाभूतों की शुद्धता होती है। उसी प्रकार साधक अणु की ज्ञप्ति शिवशक्ति सामरस्य के परामर्श से होती है किन्तु स्वतःप्रकाशमान परमेश्वर की ज्ञप्ति किसी के द्वारा होने की कल्पना ही निराधार है।

परमेशान-शक्तिपात-पवित्रित-पुरुष (गुरुदेव) के समक्ष उपस्थित होकर तद्वत्ता की भावना करनेपर साधक उसी के समान हो जाता है[२] इस प्रकार साधक का अणुत्व समाप्त हो जाता है। उसका आवरण भग्न हो जाता है।

१. तं० आ० ४-२२५-२२७ २. तं० आ० ४।२०३

इसमें ऐश्वर शक्तिपात सहकारी कारण बनता है।[१] अनवच्छिन्न-विज्ञान विश्वरूप-सुनिर्भर भगवान् के सम्बन्ध में आवरण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? वास्तव में आवरण तो मल है। मल से विविक्त आत्मा को देखने वाला शिवता को प्राप्त हो जाता है।[२] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार त्रिविध विवेकदर्शन से अधःसंसरण बन्द हो जाता है। यह पुद्गल की मुक्ताणु[३] दशा होती है। किन्तु परमेश्वर में आवरण असम्भव है। वह शुद्ध प्रकाशमय होने के कारण निरावरण ही भासमान होता है[४]। जहाँ भेद-कालुष्य का उदय हो जाता है—वहीं से संसार का श्रीगणेश हो जाता है। यह भेद-कालुष्य उसी की इच्छा आदि शक्तियों का उल्लास है। स्वातंत्र्य शक्ति के कारण ही उसका आवृतानावृत रूप दृष्टिगोचर होता है। किन्तु यह कथन कि, उसके ऊपर कोई आवरण है और उसका अनावरण होता है—नितान्त असम्भव है। आवारक मल का प्रभाव पुद्गल को ही प्रभावित करता है। तंडुल पर तुष के समान मल का आवरण अणु को आवृत करता है। यही संसृति का सुख है। अणु के इस आवरण के अनावृत होते ही वह शिवत्व की उपलब्धि कर लेता है। यही स्वरूप का प्रथन है। यही मोक्ष है।

अनुप्रवेश की प्रक्रिया योगमार्ग की सोपान परम्परा की एक विशिष्ट पद्धति है। जैसे दण्ड से आहत सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है, उसी प्रकार प्राण शक्ति के संचार से कुंडलिनी शक्ति अपनी वक्रता का परिहार कर सीधी हो जाती है। प्राण और अपान के प्रवाह में विषुवद् सरलतया सहज हो जाती है। यह मध्य धाम का अनुप्रवेश है। इसके अनन्तर ब्रह्मरन्ध्र के ठीक नीचे चिन्तामणि नामक आधार और भौंहों के बीच में कमल नामक आधार है। इन दोनों का सम्पर्क स्थापित हो जाता है। इस सम्पर्क की सूत्रधारा लम्बिका कहलाती है। लम्बिका के ऊपरी भाग में दिव्य सुधा का आस्वादन करने वाला योगी 'संधि में अनुप्रवेश करता है। इस प्रकार के सतत अभ्यास से इडा, पिंगला और सुषुम्ना की संघटित-स्वरूप त्रिशूल भूमि आक्रान्त होती है। वहीं इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की समत्व भूमिका में अनुप्रवेश होता है। तत्पश्चात्

१. तं० आ० ९।१८८ २. तं० आ० ९।२०६
३. तं० आ० ९।६१ ४. तं० आ० १।९३ तं० १।३५६

भैरवीय समावेश में अनुप्रवेश होता है। वहीं पूर्णता का, पूर्णाहन्ता का दृढ़ परामर्श होता है। प्रकाश विश्रान्ति होती है।[1] यह सारा का सारा अनुप्रवेश कादि हादि दर्शन से भी अभिहित होता है। ऐसी कोई स्थिति शिव में नहीं है। वह सर्वतः व्याप्त सर्वतंत्रस्वतंत्र स्वयं प्रकाश विभु है। उसका उसमें प्रवेश वदतोव्याघात के ही सदृश है।

कश्चात्र उपायः, तस्यापि व्यतिरिक्तस्य अनुपपत्तेः। तस्मात् समस्तमिदमेकं चिन्मात्रतत्त्वं कालेन अकलितं, देशेन अपरिच्छिन्नम्, उपाधिभिरम्लानम्, आकृतिभिरनियन्त्रितम् शब्दैरसंदिष्टं प्रमाणैरप्रपञ्चितम्, कालादेः प्रमाण-पर्यन्तस्य स्वेच्छयैव स्वरूप-लाभनिमित्तं च स्वतन्त्रम् आनन्दघनं तत्त्वं तदेव च अहम्।

यहाँ उपाय भी क्या है? तद्व्यतिरिक्त उपाय की ही अनुपपत्ति है। इसलिए यह सारा चिन्मात्र तत्त्व काल से अकलित, देश से अपरिच्छिन्न, उपाधि से अम्लान, आकृतियों से अनियन्त्रित, शब्दों से असंदिष्ट, प्रमाणों से अप्रपंचित, काल से प्रमाण तक का स्वेच्छा से ही स्वरूप लाभ का निमित्त, स्वतंत्र और आनन्दघन तत्त्व है। वही मैं हूं।

स्वातन्त्र्यलाभ, ज्ञप्ति और आवरण-विगम यह तीनों व्यापार उपाय साध्य हैं। पाशबद्ध, पुद्गल अणु पुरुष को उपाय से ये प्राप्त होते हैं। उसे ही स्वरूप का लाभ होता है। उसी की ज्ञप्ति होती है और उसी पर पड़े आवरण का अपगम होता है। अपनी अणु दशा का, अपने संकोच का विनाश करना, ग्राह्य ग्राहक भूमि का परित्याग कर, बहिर्मुखता का बहिष्कार कर अन्तर्मुखीय स्वभाव द्वारा चेतन पद पर आरूढ़ होना और अपने को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञादर्शन का मूल सिद्धान्त है। यही स्वरूप लाभ है। जो स्वतः प्रकाशमान है, उसमें इस प्रकार के व्यापार का नितान्त अभाव ही हो सकता है।[2]

परमेश्वर की इसी स्वप्रकाशमानता को लक्ष्य कर ग्रन्थकार ने

१. तं० आ० ५।५४-६७

२. ई० प्र० वि० १।१ पृ० १५ पं० ४-८

अन्तिम तर्क सामने रखा है—कश्चात्र उपायः? यहाँ इस सर्वातिशायी उच्च प्रकाश स्तर पर उपाय का अस्तित्व ही कहाँ रहता है? उपाय तीन प्रकार के होते हैं। १. इच्छोपाय[1], २. ज्ञानोपाय[2] और ३. क्रियोपाय[3]। भेद, भेदाभेद और अभेद की दृष्टि से उपाय पुनः तीन प्रकार के माने जाते हैं। १. भेदोपाय (आणव), २. भेदाभेदोपाय (शाक्त उपाय) और ३. अभेदोपाय (शाम्भव)।[4] उपाय की इस विचारणा के क्रम में बद्ध पुद्गल का लक्ष्य शिवोन्मुख होना रहता है। जहाँ तन्मुखीस्फुटता आ जाती है, वहाँ तत्क्षण तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। तन्मयी भाव की सिद्धि के लिए अनेकानेक उपचारों-उपायों की आवश्यकता होती है।[5] किन्तु यह सारा का सारा उपायोपेय भाव प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्थौल्य विभ्रम के रूप में ही स्वीकृत है। चिदानन्दैकघन शिव के पर सूक्ष्म स्वरूप के निमज्जन से अनन्त ग्राह्य ग्राहक रूप भेद का उल्लास होता है और उसी चिदानन्दैकघन परप्रकाश शिव के निर्विकल्प परामर्श में भेद की समाप्ति भी हो जाती है। इसलिए यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि, परम उपेय परप्रकाश शिव में उपायों का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि उपाय तो अज्ञात के ज्ञापक होते हैं। जो परमेश्वर स्वयं स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा सर्वात्मना स्फुरित है, उसमें उपाय निरुपाय ही हैं।[6] शिव व्यतिरिक्त उपाय के अस्तित्व में भी नितान्त अनुपपत्ति ही है।

यह सारा प्रसार एक चिन्मात्र तत्त्व ही है। चिन्मात्र स्वभाव परमेश्वर शिव असत् जड पदार्थों को भी भासित करता है।[7] उस चिन्मय परमेश्वर में समस्त विश्ववृत्तियाँ अभिन्न भावसे उसी प्रकार भासित होती हैं, जिस प्रकार निर्मल मुकुर में भूमिजल आदि दृश्यमान पदार्थ भासित होते हैं।[8] उस बोध महासिन्धु परमेश्वर में उल्लसित होनेवाली उसी को शक्तियाँ

१. तं० आ० १।४६ २. तं० आ० १।१४८

३. तं० आ० १।१४९ ४. तं० आ० १।२३०

५. तं० आ० १।२०३-२०६ ६. तं०आ० १।१४५ पृ० १७४ पं. ४-१८

७. चिन्मात्र रूपः शिव एव सर्वान् प्रकाशयन् भासयसतो जडानपि। प्रकाशयन् दृश्यत एव योगी वस्तु स्वरूपं ननु वस्तुतोऽसत्। पूर्णता प्रत्यभिज्ञा पृ० ३१ श्लोक २७६

८. तं० आ० ३।४ [illegible]

उर्मिवत् स्वात्म-संघट्ट-चित्रता से युक्त होकर परिस्फुरित होती हैं।[१] जितना अवभास है, यह सब चिन्मय ही है। अन्यथा इनका प्रकाशन ही नहीं होता।[२] इस प्रकार यह सिद्ध है कि, समस्त यह दृश्यादृश्य चराचर चिन्मात्र तत्त्व ही हैं।

यह काल से अकलित है। काल प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार षट् कंचुकों का एक कंचुक है। यह परिच्छिन्न का आकलन करता है[३]। भगवान् की नित्यता का संकोच ही काल कंचुक है[४]। शिव भट्टारक के पंचक स्वभावत्व में काल कंचुक की कमनीयता कल्पित है।[५] अखिल का त्रैकालिक आवरण करने वाला कंचुक काल है[६]। समस्त कार्य काल-परिच्छिन्न होते हैं, हो चुके हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। भाव अभाव का आभास, क्रमानुभव कृत, कुर्वत् और करिष्यमाण में कर्तृत्व का ऊहापोह सब काल कंचुक का ही परिणाम है[७]। ऐसे काल से वह परमेश्वर अकलित है। काल के पास यह शक्ति नहीं कि, वह अपने नियामक की कल्पना कर सके। कालाध्वा भी क्रिया के आभास में ही होता है।

इसी प्रकार देश भी उसे परिच्छिन्न नहीं कर सकता। वह परम तत्त्व काल और देश से अपरिच्छिन्न है। मूर्ति के अवभास में देशात्मक अध्वा होता है। आणव समावेश में उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान ये ५ भेद होते हैं। स्थान भी देह, प्राण और इन दोनों से बाह्य तीन प्रकार का होता है। यह देश गत विस्तार है, जो अत्यन्त संकुचित है। शिवतत्त्व तो निश्चित ही देश से अपरिच्छिन्न है। वह अनपेक्ष स्ववश नित्य विश्वाकृति शिव है। उसमें देश, काल और आकृति के क्रम नियत नहीं हैं।[८]

वह उपाधियों से म्लान नहीं होता। परप्रकाश शिवशक्ति के द्वारा

१. तं० आ० ३। १०१-१०३ २. ई० प्र० वि० १।८ ७ पृष्ठ ३३१ पं० १-४
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (जयदेव सिंह) पृ० १२१ पं० ३२-३२।
४. आ० ६ पृ० ६ श्लोक ७ पृ० ३६ श्लोक ३६
५. प्र० हृ० (दतिया) सूत्र ७ ६. तं० आ० ९।४९-४७-२०१
७. पू० प्र० प्र० वि० पृ० ६३।५३४-५३६
८. तं० आ० १।६० ६१, पृ० ९८ पं० ८-१४,

परिचित प्रमाताओं के प्रति व्यक्त होता है। स्वप्रकाश के परप्रकाश की परकर्तृक व्यक्ति को उपाधि कहते हैं।[१] स्व स्वातंत्र्य माहात्म्य से उदीयमान पृथ्व्यादि उपाधि हैं। दुर्दर्शन सूर्य भी जल में प्रतिबिम्बित होकर नेत्रानन्ददायी बन जाता है। यह उपाधि की प्रभाववत्ता है।[२] दाहकता, आह्लादकता और तीक्ष्णता रूप अग्नि, सोम और सूर्य-शक्तिमत्ता को जो विचित्रता है, वह परप्रकाश की उपाधिमत्ता का ही चमत्कार है किन्तु इन उपाधियों से वह परमशिव कभी भी अम्लान नहीं हो सकता।

आकृतियों से भी वह नियन्त्रित नहीं है। वह विभु है, विश्वाकृति है और नित्य है। आकृतियाँ अनित्य होती हैं। नित्य परमेश्वर आकृति, नियत नहीं हो सकता[३]। इसीलिए वह आकृतियों से अनियन्त्रित है।

वह शब्दों से असंदिष्ट है। सार्थक वर्ण समुदाय शब्द है। किसी शब्द के द्वारा वह संदिष्ट नहीं हो सकता। वर्णमाला की सभी लिपि मातृका-शक्ति का विस्फार है। अनुत्तर प्रकाशात्म आदिवर्ण की पहले विमर्शरूप विसिसृक्षा होती है।[१] उससे विन्दु, विसर्ग और नाद का बहिरौन्मुख्य रूप क्षोभ होता है।[१] इनमें बिन्दु और विसर्ग की अवस्थाओं का शिवव्योम, परमब्रह्म अथवा शुद्धात्मस्थान शब्दों से व्यपदेश होता है[४] किन्तु परम-शिव का व्यपदेश किन्हीं शब्दों से सम्भव नहीं है। जहाँ तक नाद का सम्बन्ध है—स्थान, करण और अभिघात से व्यक्त होता है। यह इच्छा-धीन है किन्तु शिव तो नित्योदित अक्षर तत्त्व है। उसका प्राच्यरूप कभी प्रच्युत नहीं होता। वह स्वयमुच्चरद्रूप है। अन्य सम्बन्धी उच्चिचारयिषा (उच्चारण की इच्छा) की अपेक्षा वहाँ नहीं है। नादात्मक शब्द भी निष्क्रिय होता है। यह सभी प्राणियों में अवस्थित होता है।[५] यह प्रसर्रा शक्ति रूप होता है क्योंकि बहीरूपतया प्रसरणशील होता है।[६]

प्रमाणों से भी वह अप्रपंचित है। 'अपूर्वार्थ विषयं खलु प्रमाणम्'[७] इस उक्ति के अनुसार वह अज्ञानार्थ का प्रकाशक होता है। प्रकाशक के

१. तं० आ० ३।१०५-१०६ पृ० ११३ पं० १-२।
२. तं० आ० ३।११७-११८ ३. तं० आ० १।६०-६१
४. तं० आ० ३। ४० ५. ३।११३, ४।१७५
६ तं० आ० ८।२८३ ७. तंत्रालोक: आ० १। पृ० १२ पं० ५

पूर्व प्रकाश उजागर रहता है। यदि वह अप्रकाशमान और अनधिगत होता, तब यह कह सकते कि, प्रकाश में प्रमाण की आवश्यकता है। किन्तु प्रकाश छिपाने की वस्तु नहीं। वह नित्य प्रकाशमान है। इसलिए प्रकाश का अपूर्व प्रकाश नहीं होता। इसीलिए उसमें प्रमाण की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

नील और पीत वस्तु जैसे प्रकाशित होते हैं, वैसे ही स्व रूप में परिनिष्ठित होते हैं। प्रकाश ही स्वरूप की प्रतिष्ठा का निबन्धक है। जब नील रूपता के उपराग से नियतरूपता को वह प्राप्त कर लेता है, तब प्रमाण बनता है। प्रमेय का मान करने के कारण ही प्रमाण प्रमाण है। परप्रकाश रूप परमेश्वर का मान ही नहीं हो सकता। इसलिए वह प्रमाण परिच्छेद्य हो ही नहीं सकता।[1] इसलिए उस देवातिदेव को पर की कभी अपेक्षा नहीं होती है।[2]

काल से लेकर प्रमाणपर्यन्त उपर्युक्त विचारणा से यह स्पष्ट है कि परमेश्वर शिव ही सब की स्वात्मरूपता की प्राप्ति का निमित्त है। वह स्वतन्त्र आनन्दघन तत्त्व है।

इतना निश्चय हो जाने के बाद दृढ़ परामर्श होता है कि, वही आनन्दघन तत्त्व मैं हूँ। यही पूर्णाहन्ता परामर्श है। यही शक्ति का आविष्करण है। यही अभिज्ञान है।[3] यही प्रत्यभिज्ञादर्शन की जीवन्मुक्ति है, मोक्ष है। सर्वत्र 'स्व' रूप में सर्व 'स्व' की स्वीकृति हो जाती है।[4] अकृत्रिम स्वात्म-चमत्कार जागृत हो जाता है। मैं ही प्रपंचात्म विश्वरूप भाववर्ग-रूप प्रस्फुरित हूँ। इस प्रकार का पूर्णाहन्ता परामर्श होने पर आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

तत्रैव अन्तर्मयि विश्वं प्रतिबिम्बितम्। एवम् दृढं विविश्वानस्य शश्वदेव पारमेश्वरः समावेशो निरुपायक एव, तस्य च न मन्त्र-पूजा-ध्यान-चर्यादिनियन्त्रणा काचित्।

---

१. तं० आ० १।५४ २. आ० ११।४-५९.
३. ई० प्र० वि० पृ० ३७ पं० २४ ४. तं० पृ० ३८ पं० १८-२०

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्, घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः, स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात्॥

जहि जहि फुरण फुरइ सो सअलउ
परमेसरु भासइ मइ अमलउ।
अत्तानत सो शिचव परमत्थिण
इअ जानअ कज्ज परमत्थि ण॥

संस्कृत छाया—

यत्र यत्र स्फुरणं स्फुरति स सकलः परमेश्वरो भासते मयि अमलः।
आत्मा स एव परमार्थेन इति ज्ञात्वा कार्यं परमस्ति न॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तविरचिते तन्त्रसारे अनुपायप्रकाशनं नाम
द्वितीयमाह्निकम् ॥ ३ ॥

मेरी उसी व्यापकता के अन्तराल में सारा विश्व प्रतिबिम्बित है। इस प्रकार दृढ विवेचक साधक को सनातन पारमेश्वर समावेश निरुपायक ही होता है। उसको मन्त्र, पूजा, ध्यान और चर्या आदि के विधि निषेध की कोई आवश्यकता नहीं होती।

उपायों का समूह शिव को प्रकाशित नहीं करता। घड़े से क्या सूर्य प्रकाशित होते हैं? इस प्रकार विवेचन करने वाला उदार दर्शन (साधक) तत्क्षण स्वप्रकाश शिव में आवेश पा लेता है।

जहाँ जहाँ स्फुरण स्फुरित होता है--वह सब शुद्ध परमेश्वर शिव ही है। मुझमें वही भासित हो रहा है। आत्मा परमार्थ दृष्टि से वही है। यह जान लेने पर कोई कार्य शेष नहीं रह जाता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में बिम्ब प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य है। प्रतिबिम्ब निर्मल मुकुर में पड़ता है, धूलि धूसरित दर्पण में नहीं। साधक शक्तिपात पवित्रित होकर जब अपने समस्त आवरणों को अपसारित कर देता है—समस्त मलों का उन्मूलन कर देता है और कलुष कञ्चुकों को निराकृत कर देता है, तब वह शुद्ध अध्वा में प्रवेश पा लेता है। वह शुद्ध दर्पण की तरह स्वच्छ हो जाता है। उसे यह दृढ विवेक हो जाता है कि, यह सारा विश्व मुझमें ही प्रतिबिम्बित है। प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब के ऊपर निर्भर करती है। अत्यन्त तीक्ष्ण किरणों वाले भगवान् भास्कर

जलाशय में प्रतिबिम्बित होकर नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले बन जाते हैं।

यह समस्त भाववर्ग चिद्व्योम में ही प्रतिबिम्बित है। शिवस्वातन्त्र्य के कारण यह बिम्ब के अभाव में भी प्रतिबिम्बित होता है। प्रश्न यह होता है कि बिम्ब ही प्रतिबिम्ब का कारण होता है। उसके अभाव में प्रतिबिम्ब का सद्भाव कैसे स्वीकार किया जा सकता है? कारण के अभाव में कार्य की सत्ता कभी दृष्टिगत नहीं होती। समवायि कारण कार्य में नित्य रहता है। निमित्त कारण नियत नहीं होता। बिना दण्ड के भी चक्र में घूमने की क्रिया होती है। स्मृति शक्ति से प्रियतमा की आकृति का आभास हो जाता है। बिम्ब स्वतंत्र, अन्य से अमिश्रित, सत् और स्वतः प्रकाशमान होता है। इन विशेषताओं से अतिरिक्त प्रतिबिम्ब होता है। वह स्वतः भासित नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि, वह नहीं है। क्योंकि उसका अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है। यही दशा संसार की है। बोध से व्यामिश्रित विश्व, बोध से भिन्न भासित नहीं होता। बोध से संवलित ही वह भासित होता है। चिन्मयं तत्त्व शिव में ही यह विश्व प्रतिबिम्बित होता है।[1] जड़ में जड़ के भान में बिम्ब निमित्त होता है। चेतन के चेतन में भान की निमित्त, शक्ति होती है। प्रकाश से भिन्न अप्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता। प्रकाशात्मा परमेश्वर विमर्श-विभिन्न होकर स्वयं 'स्व' में ही स्वातंत्र्य शक्ति के कारण भासित होता है। पूर्णाहन्ता परामर्श की अवस्था में आत्मसाक्षात्कार होने के कारण शिवाभेदानुभूतिमय अहं बोध हो जाता है। उस समय यही भावदार्ढ्य स्वाभाविक है कि, यह समग्र विश्व मुझ में ही प्रतिबिम्बत है। भाव की दृढ़ता का परामर्श शाश्वत रहता है। विवेकशील व्यक्ति को शाश्वतिक-पारमेश्वर-समावेश होता है। यह समावेश निरुपायक अर्थात् उपाय रहित या स्वल्पोपायसंवलित रहता है। इसे अनुत्तर ज्ञानात्मक स्थिति भी कहते हैं।[2]

ऐसे पुरुष के लिए किसी प्रकार के नियम की, विधि की या निषेध

१. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा पृ० ४२-४३ श्लोक २२९-३३९

२. ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादि विवर्जितम्। आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तर मिहोच्यते। तं० आ० १।२४२

की आवश्यकता नहीं रह जाती। मुझे यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए—इस प्रकार की नियमितता को नियन्त्रणा कहते हैं। साधक को उच्चभावभूमि पर जाने के लिए मन्त्र जप की आवश्यकता होती है। उसे अपने आराध्य की पूजा करनी पड़ती है, उसका ध्यान आवश्यक होता है। साथ हीं दैनिक आचरण-विधि रूप चर्या का आचार सम्पादित करना पड़ता है। ऐसे ही पुरुष के लिए श्रीमद्भगवद्गीता की उक्ति है :—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

ऐसे पुरुषका शिवाद्वयभाव सिद्ध हो जाता है। स्वात्म में ही वह कृतकृत्य हो जाता है। उसके अभिकांक्षणीय का अभाव हो जाता है। अनन्य उन्मुख होने के कारण स्वात्मविश्रान्त सिद्ध साधक का अपना कोई कार्य ही क्या हो सकता है? केवल लोकसंग्रह या लोक कर्त्तव्यता मात्र के निर्वाह के उद्देश्य से ही वह कार्य में लगता है।[1] कर्म में वर्तन लोकसंग्रह के उद्देश्य से ही होता है।[2] इस प्रकार यंत्रणा तंत्र के तोड़ने में छेनी का कार्य भी परमात्मा का अनुग्रह हो करता है।[3]

मन्त्र[4] मनन से मन्त्रित होता है। मन्त्रों की उत्पत्ति के आदिस्थान भगवान् शंकर हैं[5]। इनके अभ्यास का सतत प्रयत्न आवश्यक होता है। यह एक ऐसा विसर्ग है—जहाँ साधक श्रद्धालु शिष्य की पूर्ण आत्मविश्रान्ति होती है। गुरुदेव का मुखारविन्द वही उत्तम स्थान है—जहाँ मन्त्र का महाविसर्ग होता है। वही शक्ति चक्र है।[6] 'यत्र ज्ञानं तन्त्र्यते तत् तन्त्रम्' और यत्र ज्ञानं मन्त्र्यते तन्मन्त्रम् के अनुसार मन्त्र का मनन अनिवार्य है किन्तु जब पारमेश्वर आलोक से स्वात्मविश्रान्त पुरुष

१. तंत्रालोकः २।३९

२. न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्त यं वर्त्त एव च कर्मणि। १ गीता

३. समस्त यंत्रणातंत्रत्रोटनाटंकधर्मिणः। नानुग्रहात्पर किंचिच्छेषवृत्तो प्रयोजनम्। तन्त्रालोकः आ० २।३८

४. तं० आ० १।३२५ ५. तं० आ० १।४४

६. तं० आ० १ पृ० २५७ पं० १४-१७

स्वतः आलोकमय बन जाता है, तब उसे मन्त्र का मनन आवश्यक नहीं रह जाता है।

इसी प्रकार पूजा भी उसके लिए आवश्यक नहीं होती। स्वयम् अभिनवगुप्त पादाचार्य ने महेश पूजन का अभिनव निर्देश किया है[1]। पुष्प धूप दीप नैवेद्य आदि से जो पूजा होती है, वह सोपान परम्परा की पहली सीढ़ी के समान है। आगे चलकर पूजा का रूप बदल जाता है। अब वह फूल माला आदि उपकरणों और उपचारों तक सीमित नहीं रहती। उसका क्षेत्र असीम हो जाता है। निर्विकल्प महाव्योम में आदर पूर्वक आत्मलय ही पूजा की परिभाषा हो जाती है। लय हो जाने के बाद भी दृढ़ शक्तिपात पवित्रित व्यक्ति जब स्वयं शिव बन जाता है, तब यह पूजा भी अर्थहीन हो जाती है। अब पूजा क्या? किसमें किसका लय किया जाय? वहाँ तो सर्वात्म शिवोहं-परामर्श का ही प्राधान्य रहता है। इसलिए पूजा की नियन्त्रणा भी व्यर्थ हो जाती है।

ध्यान भी प्रतिनियतावधेयविषयनिष्ठ एकाग्रता को कहते हैं। पूर्ण रूप में पूर्णरूप का ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान या अवधान भेद प्रधान ही हो सकता है। महाफल प्रदायक यह नहीं रह जाता।[2] जो व्यक्ति साक्षात् ध्यानादि उपाय से उस परम रूप का विवेचन चाहते हैं, वे वैसे ही जड हैं जैसे—सूर्य की संवित्ति के लिये कोई खद्योत की जानकारी का अभिलाषी हो।[3] वास्तव में ध्यान बुद्धि का व्यापार है। यह सर्वतत्त्वान्तर्भूत स्वराट् के भावन का उपाय मात्र है।[4] इस प्रकार यह क्रियायोग की एक अवस्था मात्र है और आणव समावेश का तीसरा समावेश है। ध्यान का विषय, व्यतिरिक्त साकार स्वरूप ही है।[5] इसलिए उस महाभाव भूमि पर अवस्थित पुरुष के लिए ध्यान अर्थहीन है।

चर्या भी साधक के लिए अवश्य कर्त्तव्य कर्म नहीं है। इसीलिए दीक्षा की

---

१. श्रीशम्भुनाथ-भास्करचरणनिपातप्रभापगत संकोचम्।
अभिनवगुप्त-हृदम्बुजमेतद्विचिनुत महेश-पूजन-हेतोः॥ तं० आ० १।२१

२. त्यजावधनानानि ननु क्व नाम धत्सेऽवधानं विचिनु स्वय तत्।
पूर्णेऽवधानं नहि नाम युक्तं नापूर्णमभ्येति च सत्यभावम्॥ २।१२

३. तं० आ० २।१४ ४. पू० प्र० पृ० १०।३७ तं० आ० १।१७०

५. तं० आ० १ पृ० १३६ पं १४-१५

आवश्यकता पड़ती है। चर्या वास्तव में पथ की स्थिति मात्र है।[1] जो व्यक्ति शिव स्वारस्य का आस्वादन कर लेने में समर्थ हो जाता है, उसके लिए समाधि योग, ब्रह्म मन्त्र मुद्रा जप आदि को चर्या जहर की तरह लगती है।[2] पूर्णाहन्ता परामर्श की दशा में पर-विवेक-रूप अमृत का पान साधक करता है। वह परमानन्द की उपलब्धि करता है। उसे चर्या के उपक्रम अनपेक्षित हो जाते हैं।[3] वहाँ स्नान, व्रत, देहशुद्धि, धारणा, मन्त्रयोजना, अध्वा, याग-विधि होम, जप और समाधि आदि चर्यायें अनुपयुक्त हो जाती हैं।[4]

उपाय[1] तो साधनमात्र हैं। उपायों के समूह से शिव का प्रकाशन नहीं हो सकता। पर-प्रकाशात्मा शिव सर्वतोभावेन उपेय हैं। वे ही सर्वत्र अवभासित होते हैं। उनका कभी अभाव या अपाय नहीं होता। जिसका अपाय ही नहीं होता, उसका उपायों से क्या प्रयोजन हो सकता है? उपाय तो अज्ञात पदार्थों के ज्ञापक होते हैं। भवतत्त्व तो सर्वत्र व्यक्त रूप में ही स्थित है।[2] इसको पहचानने की आवश्यकता है।

ज्ञान को भी उपेय मानते हैं किन्तु ज्ञान परम उपेय नहीं हैं। उपायोपेयभाव की अनुभूति की स्थिति तो एक प्रकार की बुद्धि सम्बन्धी स्थूलता ही है। यह उपेय है और यह उपाय है—यह विचार ही भेद को प्रकट करता है। चिदानन्दैकघन परम सूक्ष्म स्वरूप में समाकर यदि साधक यह ग्राह्य है—यह ग्राहक है—इस प्रकार की ही अनुभूति पा सका, तो इसमें उसकी साधना का संधान सिद्ध नहीं हुआ—यही माना जा सकता है। इसीलिए उपायों से प्रकाशित न होनेवाले शिव को 'अनुपाय' की संज्ञा से भी शास्त्रकार विभूषित करते हैं।

परम और साक्षात् उपाय शाम्भव उपाय है। शाम्भव का उपाय शाक्त है और शाक्त का उपाय आणव है। इनमें क्रमिकता है। आणव उपाय क्रियोपाय है। शाक्त उपाय ज्ञानोपाय है! शाम्भव उपाय इच्छोपाय है। इनके भी भेद-प्रभेद हैं। द्वार-द्वारी, पूर्ण-अंश तथा व्यवहित और

---

१. चर्या त्वीर्या पथे स्थितिः अमरकोशः का० वर्ग ७ २।३६

२. तं० आ० ३ पृ० २४७ पं० १४-१५

३. तं० आ० ३।२७० ४. ३।२८९-२९०

५. तं० आ० १।१४६-२ २ ६. तं० आ० १।१४५ पृ० १८४ पं० ६-१८

अव्यवहित आदि भेद से चौबीस प्रकार का उपाय होता है। व्यवधान भी अनेक प्रकार के माने जा सकते हैं और उपायों के अनन्त भेद हो सकते हैं। उपायों के यह समूह शिव को प्रकाशित नहीं कर सकते[1]।

ग्रन्थकार इसका उदाहरण घड़े और सूर्य से दे रहे हैं। घड़े से सहस्र किरण भगवान् सूर्य क्या प्रकाशित होते हैं? सूर्य तो स्वयम् प्रकाशमान है। वरन् घड़ा ही परप्रकाश्य है। परप्रकाश्य पदार्थ के द्वारा स्वयं प्रकाशमान पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। इस प्रकार की विवेक बुद्धि जब जाग्रत हो जाती है और अहं प्रत्यवमर्श हो जाता है, तब वह व्यक्ति विश्व के लिए दर्शनीय हो जाता है। उसका अणुत्व, उसका पुद्गलत्व विगलित हो जाता है। उसकी जड़ता-परप्रकाश्यता समाप्त हो जाती है। वह स्वयं प्रकाश हो जाता है और आग में आग के मिलन के सदृश क्षण भर में शिवरूप में आविष्ट हो जाता है। यद्यपि शाम्भवोपाय के द्वारा विश्व की संविन्मात्ररूपता का बोध हो जाता है और यह मुझसे ही उदित है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित है तथा मुझसे अभिन्न ही है—इस प्रकार का अभेदावभास होता है। यह परामर्श की अवस्था है। इस अभेद परामर्श के उपरान्त जब साधक अनुपाय दशा में प्रवेश कर जाता है, तब वह क्षण भर में ही शिव रूपता को पा लेता है।

जहाँ कहीं भी जिस किसी प्रकार की स्फुरणा हो रही है, जो कुछ भी स्फुरित हो रहा है, वह सारी की सारी स्फुरत्ता परमेश्वर की ही स्फुरत्ता है। परमेश्वर ही मुझमें इस प्रकार प्रतिबिम्बित है। यह निर्विकल्प परामर्श साधक में भैरवीभाव की विभूति को भासमान कर देता है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था है।[2] उस समय समस्त आवरणों से से ऊपर उठा हुआ[3] आत्मवान् व्यक्ति परमार्थतः आत्मा का स्वरूप जान लेता है। आत्ममय आत्मरूप हो जाता है। उस तुर्यातीत सर्वातीत अवस्था में पहुँचे हुए परमोपायपारंगत पुरुष के लिए कोई कार्य करणीय नहीं रहता है। भले ही लोक कर्त्तव्य मानकर लोक मर्यादा का पालन वह करे[4] यह दूसरा प्रश्न है। यही बात श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने

1. तं० आ० ३।८८० 2. तं० आ० ३।२७१-२७४ 3. तं० आ० ३।२७६

4. स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नान्नोपारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वां प्रवृत्तिम्।

कही है कि, जो व्यक्ति आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कार्य शेष नहीं रह जाता।[1] श्रीकृष्ण ने अपने लिए भी कहा है कि, हे पार्थ! तीनों लोकों में मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। न मुझे कोई वस्तु प्राप्त है और न ही प्राप्तव्य है फिर भी मैं कर्म में लगा हुआ हूँ।[2] इस अवस्था को क्या कहा जाय? अभिनवगुप्त पादाचार्य ने इसे 'अनुत्तर दशा' संज्ञा शब्द से ही विभूषित किया है।[3] यही अनुत्तर अवस्था प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्राण है। वहीं परप्रकाशमयता का आनन्दवाद उल्लसित होता है। यही अनुपाय विज्ञान है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के अनुपाय प्रकाशन नामक द्वितीय आह्निक का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य सम्पूर्ण।

यस्तु ध्वस्ताखिलमलो भैरवीभाव-पूर्णः,
कृत्यं तस्य स्फुटमियल्लोककर्त्तव्यमात्रम्॥
—तं० आ० २।३९

1. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥—गीता

2. नमे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्त मवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि॥—गीता

3. ....दुर्विज्ञेया हि सावस्था किमप्येतदनुत्तरम्। —तं० आ० २।८८

तृतीयमाह्निकम्

अथ शाम्भवोपायः

यदेतत् प्रकाशरूपं शिवतत्त्वम् उक्तम्, तत्र अखण्डमण्डले यदा प्रवेष्टुं न शक्नोति, तदा–स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पकमेव भैरवसमावेशमनुभवति ।

जो यह प्रकाशरूप शिवतत्त्व कथित है, उस अखण्ड मण्डल में (साधक) जब प्रवेश नहीं कर पाता, तब स्वातन्त्र्य शक्ति को ही बहुत अधिक जानता हुआ भैरव समावेश का अनुभव करता है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव को प्रकाश रूप ही माना जाता है वही परमेश्वर चैतन्य रूप, प्रकाश और प्रमाता है ।[1] समस्त भाव वर्गका 'स्व' भाव प्रकाश ही है । प्रकाश ही शिव है । वही परम उपादेय है । प्रकाश एक ही होता है । वह अनेक नहीं हो सकता । 'संवित्' अर्थप्रकाश रूपा होती है । प्रकाश स्वतंत्र होता है, पर प्रकाश्यता को ही परतन्त्रता कहते हैं ।[2] इसलिये परम शिव प्रकाश रूप ही माने जाते हैं ।[3] भैरवीय परम तेज को प्रकाशमात्र रूप से समझा जाता सकता है । उसमें स्वातंत्र्य शक्ति का शाश्वत सद्भाव होता है । जो प्रकाश होता है, वही सारे विश्व को प्रकाशित कर सकता है । विश्व प्रकाशित है । यही कारण है कि विश्व शिव के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता । प्रकाश रूप परप्रमातात्मा परम शिव स्वात्मैकात्म्य रूप से विश्व को अवभासित करते हैं ।[4] यह द्वैत, यह भेद और यह अद्वैत सब कुछ प्रकाश वपुष् परम शिव से अतिरिक्त नहीं है । जैसे अद्वैत के आभास में वही

१. सर्व दर्शन संग्रह (ऋषि) पृ० ३६२ पं० ३०
२. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा पृ० ४-५ श्लोक २०-३४
३. तस्मात् प्रकाश एवायं गीतो यः परमः शिवः ।
स एवाचिन्त्यविभवः स्वातन्त्र्यरसनिर्भरः ॥ पू० प्र० श्लोक ४४ पृ० ६
४. तं० आ० ३।१-३

प्रकाशात्मा परमेश्वर प्रतिभासित होता है, उसी तरह द्वैत के प्रतिभास में भी परमेश्वर आभासित है ।[1]

प्रकाश एक है । अतएव अखण्ड है । एक अखण्ड प्रकाश ही समस्त आभासों में स्फुरित है ।[2] अखण्ड प्रकाश का एक अखण्ड मण्डल है । उसमें प्रवेश तभी हो सकता है, जब समस्त आवरणों का निराकरण कर दिया जाय, कंचुकों का कलुष समाप्त कर दिया जाय । यह हो नहीं पाता । साधक उपायों का आश्रय लेता है । उपायों के आश्रय से अनुपाय में प्रवेश भी कैसे हो ? ऐसी अवस्था में जब उस मण्डल में प्रवेश नहीं होता, तो स्वातन्त्र्य शक्ति को ही साधक अधिक मानने लगता है । साधक को यह विमर्श होता है कि, स्वातन्त्र्य शक्ति की ही महत्ता है किन्तु स्वातन्त्र्य[3] तो प्रकाश का स्वभाव होता है । वस्तु से वस्तु का स्वभाव अतिरिक्त नहीं होता । अतिरिक्त होने पर वह स्वभाव ही नहीं रह जायगा ! प्रकाशन क्रिया का कर्त्तृत्व ही स्वातन्त्र्य है ।[4] स्वातन्त्र्य के कारण ही, स्वेच्छा से 'स्व' की भित्ति में ही विश्व-सिद्धि की हेतु स्वतन्त्र चिति शक्ति विश्व का उन्मीलन करती है ।[5]

इस प्रकार स्वातन्त्र्य शक्ति का निर्विकल्पक परामर्श साधक को होता है । वास्तव में यह शाम्भवोपाय अवस्था ही होती है । यही भैरव समावेश दशा है, भैरवी भाव है । इस दशा को जीवन्मुक्ति भी कह सकते हैं ।[6] इसीके अन्तिम छोर पर उस अखण्ड मण्डल प्रकाश रूप परमतत्त्व की स्थिति है । समस्त आवरणों की ऊर्ध्वग अवस्था वही है । सर्वव्यापी स्वतन्त्र सर्वज्ञ परम शिव की सत्ता में प्रवेश हो जाने पर किसी प्रकार का स्थूल समावेश नहीं रह जाता ।[7] जिस समय तक उस अखण्ड मण्डल में प्रवेश नहीं होता, उस समय तक के निर्विकल्प परामर्श को भैरव समावेश कहते हैं । शाम्भवोपाय की परमोपाय दशा के साधक की अनुभूति का यही स्वरूप होता है ।

१. तं० आ० २।१६-१८ २. तं० आ० २ पृ० १७ पं० ६-७
३. तं० आ० ९।९ ४. तं० आ० ३ पृ० २ पं० १-७
५. चितिः स्वतन्त्रा विश्व सिद्धिहेतुः । स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥
—प्रत्यभिज्ञा हृदयम् सूत्र १-२
६. तं० आ० ३।२७१-२७४ ७. तं० आ० ३।२७६-२८०

अयं च अस्य उपदेशः, सर्वमिदं भावव्रातं बोधगगने प्रतिबिम्बमात्रं प्रतिबिम्बलक्षणोपेतत्वात्, इदं हि प्रतिबिम्बस्य लक्षणं—यत् भेदेन भासितम्, अशक्तम् अन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत् प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे, रस इव दन्तोदके, गन्ध इव इव घ्राणे, मिथुनस्पर्श इव आनन्देन्द्रिये, शूलकुन्तादि स्पर्शो वा अन्तः स्पर्शनेन्द्रिये प्रतिश्रुत्केव व्योम्नि।

निर्विकल्प भैरव समावेश का अनुभव करने वाले साधक के लिए सद्गुरु का) यह उपदेश हे—यह सारा भाववर्ग बोधगगन (चिद्व्योम) में प्रतिबिम्बत है। प्रतिबम्ब मात्र है क्योंकि इसमें प्रतिबिम्ब का पूरा लक्षण स्पष्ट है। जो भेद से भासित हो, अशक्त हो, अन्य के व्यामिश्रण से भासित हो, वह प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण में मुख का रूप, दन्तोदक में रस, घ्राण इन्द्रिय में गन्ध, आनन्देन्द्रिय में मिथुन का स्पर्श, अन्तः स्पर्शनेन्द्रिय में शूलकुन्तादि का स्पर्श, आकाश में प्रतिध्वनि।

उपदेश की नित्य आवश्यकता होती है। गुरुदेव इस पथ में पारंगत हैं। उस स्तर का वही निर्देश करते हैं। विना उचित निर्देशन के साधक का विकास सम्भव नहीं हो सकता, न ही इतने रहस्य का उद्घाटन हो सकता है। निर्विकल्प भैरव समावेश का अनुभव करने वाले साधक को सर्वप्रथम यह अनिवार्यतः जानना है कि, यह समस्त भाववर्ग चिदाकाश में ही प्रतिबिम्बमात्र रूप से परिलक्षित है। निर्मल दर्पण में समस्त भूमि जल आदि पदार्थ जैसे प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार बोध रूप शिव में, चिन्मय प्रकाश तत्त्व में समस्त विश्व वृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं।[1] शास्त्रकार यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं। उन्हें समस्त व्यक्त सत्ता में किसी पर-शिव-तत्त्व का प्रतिबिम्ब दीख रहा है। उसी का उपदेश वे कर रहे हैं। इस विश्व में उन्हें प्रतिबिम्ब का लक्षण भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के माहात्म्य से परम शिव स्वात्मवृत्ति में ही अतिरिक्त न रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह प्रतीत होने वाले इस विश्ववैचित्र्य का उल्लास कर देते हैं। प्रकाशमात्र

१. निर्मले मुकुरे यद्वत् भान्ति भूमि-जलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिन् चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥ त० आ० ३।४

स्वभाव परमेश्वर में, इससे कुछ आधिक्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि सब कुछ उसी में प्रतिबिम्बित होता है।

दर्पण में समस्त आकार अपने वैशिष्ट्य के साथ दीख पड़ते हैं। वे अपने मूल के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं फिर भी अतिरिक्त की तरह दीख पड़ते हैं। उसी प्रकार बोधरूपी गगनदर्पण में सारा भाव समूह प्रतिबिम्बित है।

प्रतिबिम्ब भेद से भासित होता है, अशक्त होता है और अन्य व्यामिश्रण से विभासित होता है। यही प्रतिबिम्ब का लक्षण है। बिम्ब के अतिरिक्त प्रतिबिम्ब का अस्तित्व भ्रमपूर्ण ही है। आत्म दर्पण में वही परमेश्वर इस वृहत् विश्व के रूप में प्रकाशित है। यह विश्व उसी परमेश्वर का प्रतिबिम्ब है।[1] यह अभिन्न होते हुए भी भिन्न की तरह प्रतीत होता है। अतएव प्रतिबिम्ब है। अशक्त कहने का तात्पर्य स्वातन्त्र्य शक्ति राहित्य है। स्वप्रकाशत्व ही स्वातन्त्र्य है और परप्रकाश्यत्व पारतन्त्र्य है। परतन्त्र पदार्थ अशक्त होता है, जड होता है। अभिन्न स्वात्मा में भेद के इस व्यवहार (जैसे यह विश्व है, मैं इसे जानता हूँ इत्यादि कथन) से इसके पार्थक्य का द्योतन होता है।[2] पृथक् रहना ही अशक्तता है। अखण्ड से खण्ड बन जाना ही अशक्तता है। प्रतिबिम्ब यदि स्वयं यह चाहे कि, मैं ऐसा हूँ और दूसरे रूप में बदल जाऊँ, तो यह नहीं हो सकता। यह उसकी अशक्तता है नील घट पीत घट के रूप में स्वतः परिवर्तित नहीं हो सकता।[3] इसी प्रकार प्रतिबिम्ब स्वयं भासित नहीं होता। निर्मल मुकुर में जैसे विश्ववृत्तियाँ भासित होती हैं, उसी प्रकार निर्मल प्रकाश में प्रकाशमान शिव प्रतिबिम्बित होता है—वास्तव में इस परमाद्वैत प्रकाशात्म परमेश्वर में अपर बुद्धि की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नील-पीत, सुख-दुःख, घट-पट, द्वैत-अद्वैत का यह जो भान हो रहा है, वह प्रकाश शरीर परमेश्वर का ही प्रतिबिम्ब है—यह निश्चय है। परमाद्वय दशा में तो यह सब एक है, पर भेद-भूमि पर सब अन्य के व्यामिश्रण से प्रतिबिम्ब रूप से भासित है। प्रतिबिम्ब प्रकाश की प्रकाशमानता का ही परिणाम होता है। दर्पण की पारदर्शिता का परिणाम

१. तं० आ० ३।३५ २. तं० आ० १।१०२ ३. तं० आ० २।२०-२१

होता है। यह प्रकाशमानता और पारदर्शिता पार्थक्य की सृष्टि कर देती है। यह विशेष रूप से विचारणीय है कि, प्रतिबिम्ब के द्वारा सर्वात्मा की सर्वात्मता सिद्ध हो जाती है। क्रमशः उदाहरणों के द्वारा प्रतिबिम्ब का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं। १–दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित होता है! मुख रूप बिम्ब से प्रतिबिम्बित मुख भिन्न नहीं है, पर भेद से भासमान है। २–दाँतों से श्वेत निर्मल रस गुणयुक्त जल पीते समय रसनेन्द्रिय से रस का स्पर्श होता है। वह स्पर्श प्रतिबिम्ब का इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रतिबिम्बात्मक ही है। ३– गन्ध में रूप नहीं होता पर घ्राणेन्द्रिय के सम्पर्क में गन्ध ग्रहण होता है। दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने पर उसमें स्पर्शानुभूति नहीं होती, केवल रूप भासित होता है किन्तु नासिकामें गन्ध के सम्पर्क में गन्ध का ग्रहण होता है। यह गन्ध का प्रतिबिम्ब है। ४–जननेन्द्रिय में मिथुन स्पर्श के समय जो स्पर्श जन्य आनन्दानुभूति होती है, वह भी स्पर्श का प्रतिबिम्बन है। ५–त्वगिन्द्रिय के माहात्म्य से शूल चुभोने की, भाले के धसने की जो अनुभूति होती है, वह भी इन्द्रिय सन्निकर्ष से विषय का प्रतिबिम्बन ही है। ६–आकाश में शब्द और प्रतिध्वनि का श्रावण प्रत्यक्ष श्रवण इन्द्रियजन्य ज्ञान के रूप में प्रतिबिम्बित है। इसलिए यह स्पष्ट है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का प्रतिबिम्बन क्रमशः चक्षु, रसना, घ्राण, त्वग् और श्रवणेन्द्रियों के सन्निकर्ष से होता है![2] रूप, नेत्र, दर्पण, आकाश और जल में प्रतिबिम्बित है। जहाँ स्पर्श प्रतिबिम्बित होता है, वहाँ रूप नहीं होता। वहाँ रूप के परमाणु प्रधान नहीं रह जाते। स्मृति रूप से रूप भले ही अनुमित हो।

न हि स रसो मुख्यः। तत्कार्यव्याधिशमनाद्यदृष्टेः। नापि गन्ध स्पर्शौ मुख्यौ, गुणिनस्तत्र अभावे तयोरयोगात् कार्यपरम्परानारम्भाच्च। न च तौ न स्तः देहोद्धूलनविसर्गादिदर्शनात्। शब्दोऽपि न मुख्यः, कोऽपि वक्ति इति आगच्छन्त्या इव प्रतिश्रुत्कायाः श्रवणात्। एवम् यथा एतत् प्रतिबिम्बितं भाति तथैव विश्वं परमेश्वर प्रकाशे।

१. तं० आ० ३।३८ (रसो दन्तोदके स्फुटः–दन्तोदक इति निर्मल रस गुणयुक्ते रसनेन्द्रियाधिष्ठानभूते इत्यर्थः)

२. तं० आ० ३।४-५ पृ० ४-५

रस मुख्य नहीं है। उसके कार्य व्याधिशमन आदि दृष्टिगत नहीं होते। गन्ध और स्पर्श भी मुख्य नहीं हैं। गुणी के अभाव के कारण उसका इनमें अयोग है और इनसे आनन्द आदि कार्य परम्परा का प्रारम्भ भी नहीं होता। वे दोनों नहीं हैं—यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि देह का उद्धूलन और विसर्ग आदि कार्य तो देखे ही जाते हैं। शब्द भी मुख्य नहीं है। कोई बोलता है। उससे ही ध्वनि आ रही है—ऐसा सुनाई देना ही यह सिद्ध कर देता है। इस प्रकार यह समग्र विषय प्रतिबिम्बित होकर भासमान है, उसी तरह, जैसे परमेश्वर के प्रकाश में विश्व!

वह रस भी मुख्य नहीं है। जो किसी का आधार होता है, वही मुख्य होता है। रूप रसादि सभी अपनी आधार की उपाधिगत विशिष्टता के कारण अवभासित होते हैं। उपाधि की प्रभाववत्ता के कारण ही तीक्ष्ण किरणों वाला सूर्य समुद्र या जलाशय में प्रतिबिम्बित होता है और नेत्रानन्ददायी बन जाता है। इसी प्रकार रसना के द्वारा ग्राह्य रस अपने आधार की उपाधि को धारण करके ही प्रतिबिम्बित होता है।[1] रस से व्याधि का शमन आदि कार्य होना चाहिए। यदि प्रतिबिम्बरूप रस मुख्य होता तो अवश्य ही उससे व्याधिशमन आदि कार्य भी होते किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। कारण के साक्षात् सन्निहित और उपस्थित होने पर कार्य भी तत्काल अविच्छिन्न भाव से होता है। रसनेन्द्रिय का अधिष्ठान रसना है। दन्तोदक में रस का अन्य व्यामिश्रित प्रतिबिम्ब है। वहाँ रस का आस्वाद होता है। वह प्रतिबिम्बित रस मुख्य नहीं हो सकता क्योंकि उससे तत्काल अविच्छिन्नभाव से व्याधिशमन आदि कार्य नहीं होते।

इसी प्रकार गन्ध और स्पर्श भी मुख्य नहीं हैं। ये भी अपने मूल आधार की उपाधिरूपता प्राप्त कर प्रतिबिम्बित होते हैं! गुण का अधिष्ठान गुणी होता है। उसका प्रतिबिम्ब गुणी से रहित होगा। प्रतिबिम्ब से बिम्ब का योग भी नहीं होता। परिणामतः गन्ध और स्पर्श में भी गुणी का योग नहीं हो सकता। इसी हेतु किसी कार्य की परम्परा का श्री गणेश गन्ध-स्पर्श से नहीं देखा जाता।[2] कार्य परम्परा का तात्पर्य गन्ध और

१. तं० आ० ३.४६

२. तं० आ० ३।३७

स्पर्श से मिलने वाले आनन्द की परम्परा से है। वह आनन्द पुनः आनन्दों का परम्परित रूप से उत्पादक नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि, वे दोनों प्रतिबिम्ब नहीं हैं। इनकी प्रतिक्रिया से इनके अस्तित्व का बोध होता है। देह के कम्पन, रोमाञ्च और वीर्य के विसर्जन आदि कार्यों से यह स्पष्ट है कि, गन्ध और स्पर्श प्रतिबिम्ब रूप से विद्यमान अवश्य हैं।

शब्द भी मुख्य नहीं है। वह भी आनन्दोत्पत्ति के स्थान कन्द, हृदय और तालु आदि स्थानों पर आधारित है। आकाश में ही शब्द का नैर्मल्य श्रावण-प्रत्यक्ष का कारण बनता है। प्रतिश्रुत्का या प्रतिध्वनि की दशा में भी यही प्रतीत होता है कि, कोई बोल रहा है और उसीका श्रवण हो रहा है।

निष्कर्ष रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का समुदाय जैसे प्रतिबिम्बित होकर ही विभ्राजमान है; उसी तरह यह विश्व भी परमेश्वर-प्रकाश परम-शिव में प्रतिबिम्बित होकर विभ्राजमान है। यह सब इन्द्रिय सन्निकर्ष-जन्य प्रतिबिम्बन का चमत्कार है।[१]

ननु अत्र विम्बं किं स्यात्? माभूत् किंचित्। ननु किम् अकारणकं तत्? हन्त! तर्हि हेतु-प्रश्नः। तत किं बिम्बवाचोयुक्त्या? हेतुश्च पारमेश्वरशक्तिरेव स्वातंत्र्यपिरपर्याया भविष्यति, विश्वप्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः। संविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तिस्थानम् इति। तदेव हि विश्वमत्र प्रतीपम् इति प्रतिबिम्बधारित्वमस्य। तच्च तावत् विश्वात्मकत्वं परमेश्वरस्य स्वरूपं न अनामृष्टं भवति, चित्स्वभावस्य स्वरूपानामर्शनानुपत्तेः, स्वरूपानामर्शने हि वस्तुतो जडतैव स्यात्।

तो यहाँ बिम्ब क्या होगा? कुछ मत हो! तो क्या प्रतिबिम्ब अकारण है? अरे! यह तो हेतु सम्बन्धी प्रश्न हुआ! फिर बिम्ब की

१. तं० आ० ३.३९

वाचोयुक्ति से, क्या? हेतु तो स्वातन्त्र्यापरपर्याय पारमेश्वर शक्ति ही है। विश्वरूप प्रतिबिम्ब धारण करने के कारण भगवान् को विश्वात्मकता स्पष्ट है। यही विश्व संविन्मय है और चैतन्य की अभिव्यक्ति का स्थान है। यही विश्व यहाँ प्रतीप (परिलक्षित) है। यही इसकी प्रतिबिम्बधारकता है। यह विश्वात्मकता परमेश्वर का अनामृष्ट स्वरूप नहीं है क्योंकि चित्स्वभाव (परमेश्वर) के स्वरूप के अनामर्श की उपपत्ति नहीं हो सकती 'स्व' रूप के अनामर्श से जड़ता की सिद्धि ही होगी।

प्रतिबिम्ब की प्रतीति में, उसके दर्शन में अथवा प्रकटीकरण में बिम्ब का होना आवश्यक है। दर्पण में, जब वह निर्मल रहता है, भूमि, जल, अग्नि आदि पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। दर्पण के बाहर की अणुमात्र सीमा में भी रूप का प्रतिबिम्बन नहीं होता। यह दर्पण की दर्शन क्षमता का परिणाम होता है। दर्पण में रूप के प्रतिबिम्ब के कारण मुख आदि पदार्थ हैं। आकाश में प्रतिश्रुत्का, रसना में रस, स्पर्श क्षेत्र-त्वगिन्द्रिय में स्पर्श और गन्ध क्षेत्र नासिका में गन्ध का प्रतिबिम्बन भी यही सिद्ध करता है। इस आधार पर हम यह मान लेते हैं कि, जिस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान प्रतिबिम्बन ही है। उसी प्रकार चिन्नाथ परमेश्वर में सभी विश्ववृत्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं।[१] यहीं यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि, विश्व के प्रतिबिम्ब रूप से प्रतिभासन में बिम्ब क्या हो सकता है? उत्तर पक्ष इस प्रश्न से निश्चिन्त है। उसके अनुसार बिम्ब के न रहने पर भी यदि प्रतिबिम्ब प्रतिभासित है, तो प्रतिबिम्ब को परिलक्षित कीजिए और बिम्ब की चिन्ता न कीजिये। यही मान लीजिये कि, यहाँ बिम्ब नहीं है। वास्तव में प्रकाश में प्रकाश के प्रतिबिम्ब से कोई अतिरिक्त स्थिति उत्पन्न नहीं होती। रूप आदि पंचवर्ग का प्रतिबिम्ब चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है।[२] पर प्रकाशमात्र स्वभाव परमेश्वर की स्वात्म-भित्ति में स्वेच्छा से जिस विश्व-वैचित्र्य का उल्लास होता है, उसमें बिम्ब की बात तो व्यर्थ ही है। भले ही बिम्ब कुछ मत हो किन्तु प्रतिबिम्ब की तृतीय राशि[३] तो परिलक्षित हो ही रही है।

१. तंत्रालोकः आ० ३।४ निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादयः। अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः। २. तं० आ० ३ पृ० ४ पं० १६-१७

३. जगत् में सत्य, भ्रान्त और प्रतिबिम्ब यही पदार्थ राशियां प्रतीत होती हैं। तं० आ० ३ पृ० १९ प० ४

दर्पण में तो बाहर स्थित बिम्ब के द्वारा दर्पण के भीतर प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है। बिम्ब रूप से ग्राह्य, बाह्य को ही, जब हम प्रतिबिम्ब कहते हैं, तो फिर बिम्ब नाम की वस्तु बच कहाँ रहती है ?[1] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि, अतिरिक्त की तरह भासित अनतिरिक्त संविन्मय विश्व के किसी अतिरिक्त बिम्ब की कल्पना निरर्थक है। बिम्ब न मानने से वस्तु स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

पूर्वपक्ष इस उत्तर से घबड़ा उठता है ? उसके सामने एक ही आधार है कार्यकारणवाद का। वह तुरंत बोल पड़ता है—तो क्या इस प्रतिबिम्ब का कोई कारण नहीं है ? प्रतिबिम्ब कार्य है। बाह्यस्थ बिम्ब इसका कारण है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं। इस अवस्था में यह प्रश्न स्वाभाविक सा लगता है कि, क्या यह प्रतिबिम्ब अकारणक है ?

उत्तरपक्ष बोध-सिद्ध मेधा-मथित उक्ति से अपना अभिमत व्यक्त करता है—अरे ! यह तो प्रश्नान्तर हो गया ! कहाँ बिम्ब का वैदूर्य ? और कहाँ कारण का काँच ? बिम्ब के विचार-सौध से कारण के कीच में क्यों उतर आये ? फिर बिम्ब की वाचोयुक्ति समाप्त कीजिये और कारण का विचार कीजिये ? जहाँ तक हेतु का प्रश्न है—इसका उत्तर स्पष्ट है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही यह दिव्य प्रभाव है। दैव द्योतनात्मक चित् तत्त्व है। चित् की शक्ति ही चिति है। चिति स्वतन्त्र होती है। वही विश्व सिद्धि की हेतु भी है।[2]

हेतु तो दो प्रकार का ही होता है। उपादान और निमित्त। उपादान कारण—जैसे घट निर्माण में मिट्टी आदि। निमित्त, जैसे—घट निर्माण में दण्ड आदि। प्रतिबिम्ब में बिम्ब उपादान कारण नहीं हो सकता। घड़ा मिट्टी के विकार रूप में कार्यानुगामी रूप ग्रहण करता है, पर मिट्टी को नहीं छोड़ता। इसलिए उपादान कारण बिम्ब नहीं हो सकता। निमित्त कारण भी सर्वांशतः कारण नहीं होता। कुम्भकार दण्ड के बिना हाथ से भी चक्र चला लेता है। चतुर से चतुर कुम्भकार मिट्टी या धातु के बिना घड़े का निर्माण नहीं कर सकता। इसलिए निमित्त कारण उपादान की

१. तं० आ० ३।३९
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्-चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः।

तरह उपयोगी भी नहीं है। इसलिए उपादान और निमित्त कारण के अतिरिक्त परमेश्वर को स्वातन्त्र्य शक्ति को कारणान्तर रूप से समझने समझाने और स्वीकार करने में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसीलिए यह कहना भी युक्ति युक्त ही है कि, बिम्ब के बिना भी प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति सम्भव है।[1] विश्व ऐसा ही प्रतिबिम्ब है, जिसके बिम्ब की कल्पना निरर्थक है। विश्व रूप प्रतिबिम्ब को स्वात्मभित्ति में परमेश्वर भगवान शिव ही धारण करता है। अतः वह विश्वात्मक है। परमेश्वर के विश्वात्मक कहने का यही तात्पर्य है। इस भैरवीय चिदम्बर में ही यह विश्व प्रतिभासित प्रतिबिम्बित है। स्वच्छ रूप में ही रूप प्रतिभासित हो सकता है। परमुखापेक्षिता से परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का खण्डन होता है और सिद्धान्त में दूषण उत्पन्न होता है। इसलिए उसी परप्रकाश प्रभु के परमैश्वर्य से ही यह प्रतिबिम्बित है—यह निष्कर्षतः मान्य है। दर्पण में अर्पक उपाधि से प्रतिबिम्ब का आकार सिद्ध होता है और चिन्नाथ परमेश्वर में विश्व प्रतिबिम्ब उसके ऐश्वर्य से आकार ग्रहण करता है।[2]

संविद् शक्ति के अतिरिक्त विश्व कुछ नहीं है, यह संविद् मय है और संविद् से संलग्न होकर ही प्रकाशित होता है। संविद् प्रकाश परमार्थ तत्त्व है। शून्य ही इसका रूप है। ऐसा शून्य नहीं, जो परमार्थतः शून्य हो, वरन् जिसमें सभी आधाराधेयादि धर्म, सर्व सत्त्वात्मक भाव अथवा सर्व क्लेशाशयात्मक भाव शून्य हो गये हों, जहाँ केवल प्रकाशाकाश की 'स्व' के अविभाग से भरित शून्यता का, शान्ति का साम्राज्य हो; वही स्वातन्त्र्य शक्ति संवलित संवित् तत्त्व है।[3] इस अशून्यावस्था का वही स्वरूप है, जहाँ समस्त भाव अशेष हो जाते हैं।[4] ऐसे संवित् तत्त्व से संवलित विश्व है। यह चैतन्य की अभिव्यक्ति का स्थल है। प्रतिबिम्ब के दर्शन में दर्शन और ण्यन्तगर्भित, प्रकटीकरण दोनों अर्थ निहित हैं। अभिव्यक्ति में दर्शन निहित है। स्वात्मभित्ति में चिति महाशक्ति स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण संवित् सोपज्ञ ही प्रकाशित होती है। संवित् भी चिन्मात्र स्वभाव होती है। उसमें क्रमाक्रम[5] लय उदय[6] सभी

१. तन्त्रालोकः आ० ३।६०-६१ २. तन्त्रा० आ० ३ पृ० ७२-७२
३. तं० आ० ६।१० ४. स्वच्छन्द तं० ४।२९१ तं० आ० ६ पृ० ९ प० ३-४
५. तं० आ० ६।६ ६. ६।१८२

स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण ही विद्यमान हैं। इसलिए भी यह विश्व संविद्-मय होता है। इसीलिए यह सिद्धान्त भी स्थिर होता है कि 'संविद् संलग्न-मेव हि विश्वं संवेद्यते'[1]। संविन्नाथ परमेश्वर है। उसी की अभिव्यक्ति की लीला की यह पुण्यस्थली विश्व है।

वही विश्व यहाँ—इस संवित्ति की असीम प्रकाश की परिधि में प्रतीपतः पड़कर प्रतिबिम्ब है। हमें यह प्रतीत हो रहा है कि, दर्पण में मुख की तरह यह विश्व भी इसी अवस्था में धारित है। यही कारण है कि, हम यह स्थापना करने के लिए समर्थ होते हैं कि, परमेश्वर ने प्रतिबिम्ब धारण किया है—यही इसकी प्रतिबिम्ब धारकता है। स्वदेशावस्थित ग्राह्य को ही ग्राहक ग्रहण करता है।[2] नील पदार्थ को छोड़कर नील का ज्ञान अन्यत्र नहीं होता। ग्राहक भी स्वात्माधिष्ठित ही होता है। ग्राहक 'स्व' ग्राह्य 'स्व' को स्वात्माधिष्ठान में ही धारण करता है। इसी आधार पर यह सिद्धान्त बनता है कि 'स्व संवित्ति' के दर्पण में स्वात्म को प्रतिबिम्बि रूप से अर्पित करने वाले परम शिव स्वात्माभिन्न विश्व रूप ही हैं।[3] निष्कर्षतः यह सिद्ध है कि, यह समग्र जगत् संविद्रूप परमेश्वर का भासित रूप है।

परमेश्वर की यह विश्वरूपता, उनकी यह विश्वात्मकता अनामृष्ट नहीं होती। यहाँ परामर्श अवश्यम्भावी है। बात यह है कि, प्रतिबिम्ब के आभासन में अन्य मुखापेक्षिता का प्रश्न ही नहीं होता। परमुखापेक्षिता में शिवस्वातन्त्र्य का खण्डन हो जाता है। स्वातन्त्र्य का ही नाम विमर्श है। विमर्श या परामर्श शिव का मुख्य 'स्व' भाव है। निर्विमर्श प्रकाश हो ही नहीं सकता। अथवा प्रतिबिम्ब जो आकार ग्रहण करना चाहे, नहीं ग्रहण कर सकता किन्तु प्रकाशात्म परमेश्वर में स्वातन्त्र्य शक्ति से सर्वाकार ग्रहण सामर्थ्य विद्यमान है और यही उसका वैशिष्ट्य है। बोध रूप शिव अपनी विमर्श-सार-शक्ति के कारण विश्व का परामर्श करता है। दर्पण ऐसा नहीं कर सकता।[4]

बोध प्रकाश रूप है। प्रकाश निर्विमर्श नहीं होता—यह निश्चय है।

१. तं० आ० ३ पृ०११ प०१ श्लोक: ९
२. तं० आ० ३ पृ० १६ प० ३-२
३. तं० आ० ३।४४ ४. तं० आ० ३ पृ. ७३ पं० १०-२०

चित्स्वरूपता ही बोधमयता है। जब निर्विमर्श प्रकाश हो ही नहीं सकता, तो उसके अनामृष्ट रूप की कल्पना भी अनुपपन्न ही है—यह निर्विवाद है। स्वरूप का आमर्श ही स्वातन्त्र्य का लक्षण है। जड़ता से यही उसकी विलक्षणता है।[1] जड़ता में स्वरूप का आमर्श नहीं होता। इसलिए परामर्श की महनीयता सर्वथा स्वीकार्य है। परमेश्वर की इच्छा शक्ति के मूल में ही परामर्श का स्वाधिष्ठान है। जिस प्रकार दर्पण के अन्तराल में विचित्र रचना चित्रित दीख पड़ती है, उसी प्रकार स्वात्मभित्तिमें, उसी के अन्तराल में समग्र जगत विभासमान है। मुकुर और स्वात्म चिद्बोध में यही तो अन्तर है कि, मुकुर अन्तःपतित प्रतिबम्ब का परामर्शक नहीं होता और बोध अपनी विमर्शन वृत्ति के द्वारा विश्व का परामर्श करता है।[2] विमर्श की सर्वातिशायी अवस्था ही अनुत्तर विमर्श है। अनुत्तर विमर्श में प्रकाश और विमर्श की दो अवस्थायें होती हैं। इन्हीं के परस्पर संघटन से अ और आ, अनुत्तर और आनन्द की, अवच्छेद रहित विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय अवस्थाओं की अविभागावभासिता का विमर्श होता है। फिर इकार इच्छा और उकार रूप उन्मेष का विमर्श होता है। यह सब परामर्शान्तिरों की परम्परा में स्वर बीजों की आभा का अविर्भाव है। यह सब स्वर व्यंजन संहति प्रकाश विमर्शात्मक ही है। चित शक्ति से सिसृक्षा का परामर्श ही इच्छा शक्ति मानी जाती है।[3] यह इच्छा है किन्तु प्रक्षुब्ध रूप के पहले व्यतिरिक्त विमर्श था, उस समय परामर्श स्वात्ममात्रनिष्ठ ही था। उसे ही ज्ञान शक्ति की संज्ञा दी जा सकती है। यही कारण है कि अन्तर्विजिज्ञासितव्य विश्व का उन्मेष सम्भव होता है। यदि हम विमर्श का अभाव स्वीकार करेंगे, तो निश्चय ही जड़ता का प्रदर्शन करेंगे।

आमर्शश्चायं न सांकेतिकः, अपितु चित्स्वभावतामात्र-नान्तरीयकः परनादगर्भ उक्तः। स च यावान् विश्वव्यवस्थापकः परमेश्वरस्य शक्तिकलापः तावन्तम् आमृशति। तत्र मुख्यास्तावत् तिस्रः परमेश्वरस्य शक्तयः—अनुत्तरः, इच्छा-

१. तं० आ० ३ पृ० ७३ पं० १३-१४
२. तं० आ० ३ पृ. ७३ पं० १६-१९ ३, आ० ३।७१-७२

उन्मेष इति। तदेव परामर्शत्रयम् अ-इ-उ इति। एतस्मादेव त्रितयात् सर्वशक्तिप्रपञ्चः चर्च्यते। अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः, इच्छायामेव विश्रान्तिः ईशनम्, उन्मेष एव हि विश्रान्तिरूर्मिः यः क्रियाशक्तेः प्रारम्भः। तदेव परामर्शत्रयम्—आ-ई-ऊ इति।

यह आमर्श सांकेतिक नहीं होता। अपितु चित्स्वभावतामात्र अन्तरीयकहित परनादगर्भ ही कथित है। विश्वव्यवस्थापक परमेश्वर के यावत् शक्तिकलाप का आमर्श वह करता है। परमेश्वर की तीन मुख्य शक्तियाँ मानी जाती हैं। १. अनुत्तर, २. इच्छा और ३. उन्मेष। यही अ-इ-उ तीन परामर्श हैं। इसी त्रितय् से समस्त शक्ति का प्रपंच चर्चित होता है। अनुत्तर में विश्रान्ति को आनन्द, इच्छा में विश्रान्ति ईशन (ईश्वर व्यापार) और उन्मेष में विश्रान्ति ही वह ऊर्मि है, जिससे क्रियाशक्ति का प्रारम्भ होता है। यहाँ आ, ई और ऊ तीन परामर्श होते हैं।

आमर्श सांकेतिक नहीं होता। संकेत निरपेक्ष नहीं होता, सापेक्ष होता है। सापेक्ष परप्रकाश्य है। परप्रकाश्य जड़ होता है। जड़ में आमर्श नहीं होता। क्रिया शक्ति की क्षुभितावस्था में सूर्य चन्द्रात्मक तैक्ष्ण्य और आह्लादकत्व संवलित प्रकाश भी आमर्शात्मक ही होता है। आमर्श शक्ति के द्वारा ही प्रकाश स्वयं प्रकाशित होता है और सूर्य सोम में तीक्ष्णता व शीतलता के प्रतिनियत रूप से भासमान होने पर भी सूर्य सोम को भी प्रकाशित करता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि, आमर्श पर-प्रमात्रैक रूप होता है—सूर्य, अग्नि और चन्द्र का अनुप्राणक होता है। फलतः इसे निरपेक्ष कहते हैं। निरपेक्ष पदार्थ सांकेतिक नहीं होता।[1]

यह चित्स्वभाव मात्र होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी तत्त्व का प्रतिपादन 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।'[2] श्लोक में किया गया है! सूर्य, शशाङ्क और पावक से यह प्रतिभासित नहीं होता।[3] यही इसकी परमधामता

१. तं० आ० ३।११४ २. श्रीमद्भगवद्गीता अ० १५।६
३. तं० आ० ३।११५-१२३

है—चित्स्वभाववत्ता है। सूर्यादि का प्रकाश तो उपाधिकलुषित प्रकाश है—जड़ प्रकाश है—सूर्य तो स्वयं परप्रकाश्य है? इसलिए सूर्य का प्रकाश सापेक्ष है। परप्रकाश इससे विलक्षण होता है। इसकी यही विलक्षणता चिन्मात्र स्वभाववत्ता है।

नाद शब्द को कहते हैं। स्व से अभिन्न विश्व के परामर्श को ही शब्द कहते हैं। यह परा वाग्रूप विमर्श ही है। यह नादात्मक होता है। इसीलिए नादात्मक शब्द होता है—यह कहा जाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, यह आमर्श परनादगर्भ होता है। परनाद परावाक् ही है। परावाक् अविभागावभास प्रकाश परामर्श ही है।

परामर्श की सीमा में—परमेश्वर की शक्ति का जितना व्यापक प्रसार है—जितनी व्यवस्था है अथवा विश्वका यावान् विस्फार है—सारी बातें आती हैं। यह सब परामर्श के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। शक्तियाँ ही विश्व की व्यवस्था करती हैं—या शक्तियों से ही विश्व की व्यवस्था होती है। इसीलिए शक्ति कलाप को विश्व व्यवस्थापक माना जाता है। शक्ति का आमर्श ही विश्व का अवभास है। आमर्श स्वतः समस्त शक्ति कलाप का आमर्शन करता है। इसी कारण यह अहमात्मक और इदमात्मक उभय रूपों में व्यक्त है।

परमेश्वर की तीन मुख्य शक्तियाँ हैं—१. अनुत्तर, २. इच्छा और ३. उन्मेष 'अ','इ' उ' इन्हीं तीनों परामर्शों के सूक्ष्म और वाङ्मय रूप हैं। शक्ति का सारा विस्तार अ, इ और उ के चित्र में ही समाहित है।

सर्व प्रथम चित्प्राधान्य के कारण परप्रमाता परमेश्वर का सिसृक्षा रूप परामर्श होता है। इसे स्वात्म प्रत्यवमर्श के बाद की परामर्श स्थिति कह सकते हैं। वहाँ भेदावभास नहीं होता है। शुद्ध स्वातन्त्र्य की वह अवस्था अनन्त शक्ति समवाय को स्वान्तःस्थ किये रहती है। सिसृक्षा बहिरौन्मुख की वृत्ति होती है। क्षुभिता और अक्षुभिता इसकी दो अवस्थायें होती हैं। अक्षुभितावस्था में यह इच्छा और क्षुभितावस्था में ईशित्री कहलाती है। ईशित्री के ऐश्वर्य-संस्फुरण में अनन्त-शक्ति-व्रात का बहिरवभासन प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अकार बीज के दो रूप अनुत्तर और आनन्द रूप 'अ' 'आ', इकार बीज के इच्छा और ईशित्री रूप 'इ', 'ई' ये चार बीज अभिव्यक्तीकरण की ओर प्रसृत होते हैं। अब पंचम बीज

'उ' की सृष्टि होती है। यहाँ ज्ञान शक्ति का आलोक उद्भूत होता है, अन्तर्विजिज्ञास्यता का उन्मेष होता है। उन्मेष की प्रथम तुटि 'उ' है। उन्मेष आद्य परिस्पन्द है। यहाँ ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय रूप उद्रिक्त होता है। ज्ञेय रूप नील-पीत, सुख-दुःख आदि चित्र-विचित्र आकृति-वृत्ति की धारकता के आनन्त्य में ज्ञान की पूर्णता कम होने लगती है। उसमें ऊनता आने लगती है। ऊनता की प्रथम तुटि 'ऊ' है। यह छठाँ वर्णोदय है। इन्हीं वर्णों का विकास हम अनुत्तर-आनन्द, इच्छा—ईशन और उन्मेष-ऊनता या ऊर्मि में पाते हैं। अनुत्तर में विश्रान्ति की अवस्था ही आनन्द है। इच्छा में विश्रान्ति की अवस्था ईशिता या ईश्वर शक्ति है और उन्मेष में विश्रान्ति को ऊनता या ऊर्मि कहते हैं। ऊनता या ऊर्मि के साथ क्रिया शक्ति का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार वही 'अ', 'इ' और 'उ' रूप तीन परामर्श 'आ', 'ई' और 'ऊ' रूप में उद्रिक्त होते हैं। यह सारा का सारा प्रत्यवमर्श या परामर्श परावाक् समुद्भूत है। वही अनुत्तर स्थिति है। अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष—ये ही वे परामर्शत्रय हैं, जिनसे परमेश्वर के समस्त शक्तिकलाप का आमर्श-विमर्श होता है। ये छः स्वर ही वर्ण परम्परा के मूल हैं।[२]

अत्र च प्राच्यं परामर्शत्रयम् प्रकाशभागसारत्वात् सूर्यात्मकं चरमं परामर्शत्रयम् विश्रान्तिस्वभावाह्लाद-प्राधान्यात् सोमात्मकम्। इयति यावत् कर्मांशस्य अनुप्रवेशो नास्ति। यदा तु इच्छायाम् ईशने च कर्म अनुप्रविशति यत् तत इष्यमाणम् ईश्यमाणं इति च उच्यते, तदा अस्य द्वौ भेदौ, प्रकाशमात्रेण र श्रुतिः, विश्रान्त्या ल श्रुतिः, रलयोः प्रकाशस्तम्भस्वभावत्वात्। इष्यमाणं च न बाह्यवत् स्फुटम्, स्फुटरूपत्वे तदेव निर्माणं स्यात्, न इच्छा ईशनम् वा। अतः अस्फुटत्वात् एव श्रुतिमात्रं रलयोः, न व्यंजनवत् स्थितिः। तदेतद्वर्णचतुष्टयम् उभयच्छायाधारित्वात् नपुंसकम् ऋ ॠ, ऌ-ॡ इति।

१. तं० आ० ३।७१-७७

२. तं० आ० ३ पृ० ८८ पं० ८

यहाँ प्रथम तीन परामर्श प्रकाशभाग के सार होने के कारण सूर्यात्मक हैं। (ह्रस्वत्वं सूर्यत्वाय[१]) अन्तिम तीन परामर्श विश्रान्ति स्वभाव आह्लाद-प्रधान होने के कारण सोमात्मक हैं। (दीर्घत्वम् सोमत्वं, प्लुतत्वमग्नित्वम्) यहाँ तक कर्मांश का अनुप्रवेश नहीं है। जब इच्छा या ईशन में कर्मांश का अनुप्रवेश होता है, तब वह इष्यमाण या ईश्यमाण कहलाता है। उस समय उसके दो भेद होते हैं। प्रकाशमात्र से 'र' की श्रुति होती है। प्रकाश में विश्रान्ति के कारण ल श्रुति होती है। र और ल इन दोनों का स्वभाव ही प्रकाश स्तम्भ रूप है। इष्यमाण बाह्य की तरह स्फुट नहीं होता। स्फुट होना ही निर्माण है। न वह इच्छा रूप रहता है, न ईशन रूप रहता है। अस्फुट रहने के कारण ही र और ल श्रुतिमात्र हैं। इनकी व्यंजनों के समान स्थिति नहीं है। इस प्रकार ऐसी चार वर्ण श्रुतियों की उत्पत्ति होती है, जो स्वर के समान भी है और व्यंजन के समान भी हैं, शुद्ध स्वर व्यंजन नहीं हैं। इनमें उभय की छाया है। इसलिए ये नपुंसक वर्ण हैं। ये ऋ, ॠ, ऌ और ॡ हैं।

प्रथम परामर्श 'अ' कार द्वितीय परामर्श 'इ' कार और तृतीय परामर्श 'उ' कार है। 'अ' कार अनुत्तर विमर्श का बीज है। 'इ' कार इच्छा प्रत्यवमर्श का बीज है और 'उ' कार उन्मेष तत्त्व का बीज है। जिस प्रकार इस सौर मण्डल का प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है, उसी प्रकार समस्त सृष्टि का प्रकाश इन तीन बीज तत्त्वों से प्राप्त होता है, इसीलिए इन्हें प्रकाश भाग का सार कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश एक होता है किन्तु उसके जितने भाग सम्भव हैं, वे सभी 'अ', 'इ' और 'उ' में समाहित हैं। इसलिए यद्यपि यह तीनों एक ही हैं, पर अवविभासयिषा के उपरान्त विभागावभास के ये प्रतीक बन जाते हैं।

ये प्रकाश के मूल हैं, सार हैं, निष्कर्ष हैं, रहस्य हैं, अतएव ये तीनों सूर्यात्मक हैं। परामर्श प्रकाश कैसे है? यह प्रश्न भी यहाँ संश्लिष्ट है। स्वतन्त्र प्रमाता अन्तर्मुखतया जब तक 'स्व' रूप का परामर्श—अहं प्रत्यवमर्श करता है; तत्काल ही बहिर्भावावभास हो उठता है। वही प्रकाश है।[२] इस तरह प्रकाश विमर्श रूप ही है। 'अ', 'इ' और 'उ'

१. तं० आ० ३ पृ० १३६ पं० १-२

२. ईश्वर प्र० विमर्शिणी पृ० १२९ पं० ८-१० (१-८-३)

का परामर्श बहिर्भावावभास की दशा में प्रकाश बीज बनकर भासित होना है। इसी त्रिक से सारा प्रकाश है। इसीलिए ये प्रकाश भाग सार हैं और इसीलिए सूर्यात्मक हैं।[1] इसे प्रमाता कहते हैं और सोम को मेय कहते हैं।[2]

इसके अनन्तर उत्पन्न चरम परामर्शत्रय 'आ', 'ई' और 'ऊ' सोमात्मक है। सोम तत्त्व विश्रान्ति-स्वभावाह्लादप्राधान्य-संवलित है। विश्रान्ति में स्वभावतः आनन्द और आह्लाद की प्रधानता होती है। आनन्द और आह्लाद सोम के स्वाभाविक गुण हैं। अतः 'आ' 'ई' और 'ऊ' ये तीनों सोमात्मक माने गये हैं। वास्तव में अनुत्तर में विश्रान्ति को ही आनन्द कहते हैं। इच्छा में विश्रान्ति ईशन और उन्मेष में विश्रान्ति को ऊर्मि या क्रिया शक्ति का प्रारम्भ कहते हैं। इसी आधार पर 'आ' 'ई' और 'ऊ' को विश्रान्ति[3]-स्वभावात्मक मानना उचित है। यह तीनों आनन्दप्रद आह्लादात्मक अवस्थायें अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष की चरम परामर्शात्मक अवस्थायें हैं। वस्तुतः ये परस्पर अवियुक्त रहती हुई भी स्वतन्त्र अवस्थायें हैं। परस्पर निरपेक्ष प्रमाण प्रमेय रूप से व्यवहार करने योग्य भी हैं। भोक्ता और भोग्य रूप होने के कारण उभयात्मक हैं और परस्पर उन्मुख हैं।[4]

यहाँ तक कर्मांश का अनुप्रवेश नहीं होता।[5] अकुल और कौलिकी शब्द से व्यपदेश्य शिवशक्ति का संघट्ट ही आनन्द शक्ति है। यहाँ प्रकाश और विमर्श रूप दोनों अनुत्तर संघटित होते हैं। तभी आनन्द शक्त्यात्मक द्वितीय वर्ण का उदय होता है। व्यवहार में भी यही क्रम है। स्त्री पुरुष के संघट्ट से आनन्द का उदय और विश्व का विसर्ग सम्भव है। इस अवस्था में शिव और शक्ति की विश्वोत्तीर्ण और विश्वमयता यद्यपि

---

१. तन्त्रालोकः—प्रकाशमात्रं संयुक्तं सूर्यं इत्युच्यते स्फुटम्। प्रकाश्यवस्तु सारांशवर्षि तत् सोम उच्यते ३।१२०-२६ पृ० १२४ पं० १२-१५

२. ३।१२१ ३. तं० ३।९२

४. तं० ३।१२१-१२४ पृ० १२६-१२८ पं० १-१४ ३।१८६-१८८-१९१

५. मिश्र कर्म फलासक्ति पूर्ववज्जनयन्ति याः। मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्तास्युर्घोराः परापराः। तं० ३।७४ पृ० ८६ पं० ९।१०

विच्छिन्न रहती है—प्रकाश और विमर्शात्मकता रहती है, फिर भी यह विच्छिन्नता पूर्णता के अतिरिक्त नहीं है क्योंकि विश्वमयता में भी विश्वोत्तीर्णता वहाँ अनवच्छिन्न रूप से स्थित है।[1] विश्वोत्तीर्ण शैव रूप है और विश्वमयत्व शाक्त रूप है।

कर्म का अनुप्रवेश इच्छा और ईशन इन दोनों अवस्थाओं में आगे के स्तर पर होता है। उस स्तर पर इच्छा को 'इष्यमाण' और ईशन को ईश्यमाण[2] कहते हैं। वस्तुतः इच्छा क्षुभिता और अक्षुभिता भेद से दो प्रकार की होती है। क्षुभितावस्था में ज्वलन शक्ति के सम्पर्क से (प्रथमा त्रुटि में)[3] साधारणतया उद्दीप्ति में 'ऋ' और क्षुब्धावस्था में 'ॠ' तथा इसी प्रकार पराशक्ति से समन्वित अक्षुभित धरारूप इच्छा में 'ऌ' और 'ॡ' वर्णों की श्रुति होती है। यह वर्णश्रुति साक्षात् वर्ण नहीं होती वरन् अचिरश्रुतिभासिनी बिजली की तरह क्षणिक होने के कारण तत्काल भासित छाया के समान आभासित हो जाती है। वर्णमात्र दशा में इच्छा कार्य बन जायेगी-इष्यमाण नहीं रह सकती। क्रिया शक्ति के सामर्थ्य से ही वर्ण रूप से स्फुरण होता है। इच्छा शक्ति में इष्यमाण रूप से उत्पन्न भाव समूह की ज्ञान शक्ति में अभिव्यक्ति हो जाती है और पुनः क्रियाशक्ति के कारण बहीरूपतया परिस्फुरण हो जाता है।[4]

कर्मांश का अनुप्रवेश सूर्य और सोम की परामृत अवस्थाओं में सम्भव नहीं[5]। सूर्य, सोम और अग्नि की तीक्ष्णता, आह्लादात्मकता और दाहकता आदि में भी एक अविभाग प्रकाश वर्तमान है। वही बिन्दु है[6]। क्रियाशक्ति के उदित होने पर ही नियतोपाधिमयता का प्रारम्भ होता है। यह परमेश की 'स्वातन्त्र्य' शक्ति का ही उल्लास है कि, विचित्र उपाधियों से संगत प्रकाश अवान्तर वैचित्र्य को प्राप्त करता है[7]। चिदात्म संघट्ट की परामृत प्रत्यवमर्श दशारूप इच्छा और उसमें विश्रान्ति रूप ईशन इन दोनों में कर्म का जब अनुप्रवेश हो जाता है, तब उन्हें इष्यमाण और ईशने कहते हैं। उसमें दो भेद उत्पन्न हो जाते हैं। प्रकाशमात्र प्राधान्य में 'र' श्रुति और विश्रान्ति प्राधान्य में ल श्रुति होने लगती है।

---

१. तं० ३।८६, ३।७१ २. ३।७२

३. तं० पृ० ८४ पं० २-१ ४. ३।८० पृ० ९१ पं० ५-६

५. ३।९२, १०। ६. ३।१११ ७. ३।११७

चिद्धर्म के प्रभाव वैभव से, परम आमोद के उज्जृम्भण से, विचित्र रचनामयी नानाकार्यमयी सृष्टि के प्रवर्त्तन में उन्मुखता को चिन्तामयी जो प्रथमा त्रुटि है, उस इष्यमाण इच्छा और उसकी क्षुभिता ईशित्री दोनों अवस्थाओं में ऋ और ॠ की जो वर्णश्रुति का आभास होता है–वही प्रकाशात्मक 'र' श्रुति है। इसी तरह ईशन में 'ऌ' और 'ॡ' की वर्णश्रुति ही स्थैर्य स्वभावात्मक 'ल' श्रुति है।[१] इन दोनों में दो प्रकार का स्वाभाविक भेद होता है। एक प्रकाश स्वभाव है और दूसरा प्रकाश में भी स्तम्भ-शीलता से सम्वलित हो जाता है।[२] एक अचिरद्युतिभासिनी सौदामिनी की तरह ज्वलित होकर अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है और दूसरा स्थैर्य के कारण धरात्मकता से संवलित होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता का स्थापन करता है।[३] वास्तव में इष्यमाण के स्वरूप मात्र को स्थिरात्मकता उपलब्ध हो जाती है।

इष्यमाण बाह्य सृष्टि की तरह स्फुट नहीं होता। स्फुटरूपता प्राप्त होते ही वह श्रुतिमात्र न रहकर निर्माण हो जायेगा। न तो वह इच्छा रह जायेगा और न ईशन ही। इष्यमाण केवल छायामात्र रूप से अव-भासित होता है।[४] इसीलिए यह सिद्धान्त बनता है कि, वर्णश्रुति साक्षात् वर्ण नहीं है। इस प्रकार इच्छा और ईशन की अवस्था में अस्फुट होने के कारण 'र' और 'ल' इन दोनों की व्यंजन के समान स्फुट स्थिति नहीं होती है। यह वर्णश्रुतिमात्र दशा है। व्यंजन की स्थिति निर्माण की स्फुट स्थिति है। इच्छा शक्ति के इष्यमाण और ईशन शक्ति दोनों रूप हैं। इनके प्रभाव से उत्पन्न भाव समूह की ज्ञान शक्ति में अभिव्यक्ति होती है। उसी का क्रियाशक्ति में वही रूपतया परिस्फुरण होता है। इष्यमाण और ईशन में बाह्य रूप से अभिव्यंजन का कोई कारण ही नहीं विद्यमान है। इसलिए 'र' और 'ल' की प्रकाश मात्रात्मकता और स्थैर्यस्वभावात्म-कता के सन्दर्भ में वर्णश्रुति मात्रता ही स्वीकार्य है, व्यंजनवत् स्थिति नहीं।

---

१. ३।७८-७९ इष्यमाणस्य प्रकाशमात्रात्मकत्वात् विश्रान्त्यात्मकत्वाच्च। तयोः अतएवात्र रलयोः श्रुतिः। प्रकाशस्तम्भ स्वभावात्। पृ० ८७ पं० १-२। पृ० ८९ पं० ६-७, १६-१९ अस्फुटत्वात् रलयोः श्रुतिमात्रं न तु साक्षात् व्यंजनवत्स्थितिः।

२. ३।७९ ३. तं० ३।७९ पृ० ९० पं० २ ४. तं० पृ० ९० पं० ४-८

इस प्रकार ये चारों 'ऋ', 'ॠ' 'ऌ' 'ॡ' उभयच्छायाधारी हैं और इनको नपुंसक लिंग मानते हैं। महाभाष्यकार ने इन्हें वर्णश्रुतिमात्र मानकर नरसिंह के समान जात्यन्तर उद्घोषित किया है।[१]

इससे स्पष्ट है कि, अक्षुब्ध प्रकाशमात्रशक्ति से स्पंदित इच्छा ही 'ऋ' तत्त्व है, तथा क्षुब्धा 'ॠ' तत्त्व है। धरा (स्थैर्य) शक्ति से छुरित इच्छा ही 'ऌ' और क्षुभित इच्छा ॡ वर्ण श्रुति हैं। पाणिनि व्याकरण में यण् प्रत्याहार के क्रम में इच्छा+अनुत्तर=य, उन्मेष+अनुत्तर=व, इष्यमाण+अनुत्तर=र् और ईशन+अनुत्तर=ल सिद्ध अन्तःस्थ वर्ण हैं, जो क्रियांश में स्फुट न होने के कारण अन्तःस्थ ही कहलाते हैं।

अनुत्तरानन्दयोः इच्छादिषु यदा प्रसरः तदा वर्णद्वयम् ए-ओ इति। तत्रापि पुनरनुत्तरानन्दसंघट्टात् वर्णद्वयम् ऐ-औ इति। सा इयं क्रियाशक्तिः। तदेव च वर्णचतुष्टयम् ए-ऐ, ओ-औ इति। ततः पुनः क्रियाशक्त्यन्ते सर्वं कार्यभूतं यावत् अनुत्तरे प्रवेक्ष्यति, तावदेव पूर्वं संवेदनसारतया प्रकाशमात्रत्वेन विन्दुतया आस्ते अम् इति। ततस्तत्रैव अनुत्तरस्य विसर्गो जायते अः इति। एवं षोडशकं परामर्शानां बीजस्वरूपम् उच्यते।

अनुत्तर और आनन्द इन दोनों का इच्छादि में जब प्रसरण होता है, तब (अ+इ=ए) (अ+उ=ओ) 'ए' और 'ओ' इन दोनों वर्णों की अभिव्यक्ति होती है।[२] इस स्थिति में भी पुनः अनुत्तर और आनन्द के संघट्ट से (अ आ+ए=ऐ) (अ आ+ओ=औ) ऐ और औ वर्णद्वय अभिव्यक्त होते हैं। क्रियाशक्ति के ही परिणाम ये चार वर्ण 'ए-ऐ, ओ-औ' हैं। क्रियाशक्ति के अन्त में समस्त कार्य रूप के (अनुत्तर[३] स्वभाव होने के कारण) अनुत्तर में प्रवेश के पहले, स्वरूप-संवित्तिसारात्मक प्रकाशमात्र विन्दु 'अं' के रूप में भासित होता है। तदनन्तर अनुत्तर से शक्तिविक्षेप के रूप में विसर्ग (अः) उत्पन्न होता है। इस प्रकार परामर्श के १६ बीज हैं।

---

१. तं० ३।७९ पृ० ९० प० ४-७ २. तन्त्रालोकः ३।९३-९७

३. मालिनी वार्त्तिकम्—अनुत्तर स्वभावत्वात् आद्यस्यैव विजृम्भितम्।

परामर्शों का प्रथम बीज 'अ' है। यह परमेश्वर की अनुत्तर[1] शक्ति है। अनुत्तर में विश्रान्ति आनन्द है। अनुत्तर और आनन्द ये दोनों प्रकाशात्म परमेश्वर के सर्वाकार ग्रहण सामर्थ्य के बीज परामर्श हैं। स्वरूप का परामर्श ही स्वातन्त्र्य है। अनुत्तर परामर्श में क्रियाशक्त्यंश के अनुप्रवेश से आनन्द परामर्श उत्सृष्ट होता है। इन दोनों परामर्शों का प्रसार इच्छा और उन्मेष में विश्रान्ति के रूप में होता है। 'अकार' रूप अनुत्तर परामर्श और 'आ' कार रूप आनन्द परामर्शों के 'इ' या 'ई' बीज परामर्शों से सम्पृक्त होने पर ('अ' या 'आ' + 'इ' या ई = ए) 'ए' वर्ण तथा 'अ' कार रूप अनुत्तर परामर्श और 'आ'कार रूप आनन्द पेसमर्श के उन्मेष रूप 'उ' परामर्श तथा ऊर्मिरूप 'ऊ' परामर्श बीजों से संघट्टित होने पर 'ओ' रूप बारहवें परामर्श वर्ण बीज की उत्पत्ति होती है। इन १२ परामर्शों के बाद भी अनुत्तर और आनन्द जब ग्यारहवें परामर्श बीज 'ए' से संघट्टित होते हैं, तब 'ऐ' रूप में तेरहवें और अनुत्तर तथा आनन्द जब 'ओ' से संघटित होते हैं, तब 'औ' रूप चौदहवें बीज वर्ण की उत्पत्ति हो जाती है। ये अनुत्तर और आनन्द क्रियाशक्ति के अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर और स्फुटतम चार रूपों को अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के कारण व्यक्त करते हैं। इसे इच्छागत और उन्मेषगत क्षोभ कहते हैं। यह अनुत्तर और आनन्द की ताद्रूप्यभागिनी स्थितियाँ हैं। इसीलिए वैयाकरणः आद्गुण और 'वृद्धिरेचि' के आधार पर इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। अनुत्तर और आनन्द का इस क्रियाशक्तिजन्य क्षोभ के कारण परामर्शान्तिरोदय नहीं हो पाता।[2] यह अनुत्तरानन्दात्मा संविन्नाथ, लयोदयकलेश्वर है। निमेष उन्मेष का स्वात्म से भेद करने में यह स्वतन्त्र है। अनवच्छिन्न स्वभाव स्वतन्त्र शिव का यही माहेश्वरत्व है। संवित् शक्ति का यही अनेकाकार संस्फुरण है।[3]

सिन्धु में ऊर्मियों का उत्थान और पतन स्वाभाविक है। उसी प्रकार बोधरूपी महासिन्धु में उल्लसित आत्मभूत इच्छा क्रियादि शक्तियाँ परस्पर संघटन और लोलीभाव के कारण, तत्तद्ग्राह्यग्राहकभावों के कारण तत्तत्

१. तन्त्रसारः—तत्र मुख्यास्तावत्तिस्नः परमेश्वरस्य शक्तयः—अनुत्तरः इच्छा, उन्मेष इति। पृ० १२ पं० १०-१२

२. तं० ३।९८ पृ० १०७ पं० १-२, ७-९ ३. तं० ३।१००-१०१

अनन्त परामर्श रूप में परिस्फुरित होती हैं।[1] यही क्रियाशक्ति का स्फुट रूप है[2]। वास्तव में यह सारा वैचित्र्य क्रियाशक्ति पर्यन्त ही है। क्रियाशक्ति के अन्त में भी संविद् के स्वरूप का विप्रलोप नहीं होता।

अनुत्तर शक्ति अपने स्वातन्त्र्य स्वभाव के कारण ग्राह्यग्राहकात्मक समस्त भावराशि की इयत्ताके परिच्छेद का संकोच करती है। स्वरूप का गोपन करती है। अपने स्वप्रकाश, सर्वसंवेद्यरूप से वर्त्तमान स्वरूप को अविभाग परप्रकाश-बिन्दु रूप से व्यक्त करती है।[3]

क्रियाशक्ति के अन्त में जब समस्त भावराशि अनुत्तर में प्रवेश करती है—उसके पहले ही बिन्दुरूप[4] से वर्तमान संवेदन-सार प्रकाश, अनुत्तर शक्ति से संपृक्त होकर 'अं' परामर्श रूप से भासमान होता है।

चित् शक्ति रूप आदिवर्ण अनुत्तर बीज 'अ' कार, मकार हकार लेश को उपाधि रूप से अवलम्बित करता है। परिणामतः उनकी श्रुतिमात्र का आधार बनता है और दो रूप अर्थात् बिन्दु और विसर्गरूपधारी बनकर एकतः 'अं' और द्वितीयतः 'अः' बन जाता है। सिद्धान्त यह है कि, अनुत्तर प्रकाश ही अपने रूप का गोपन स्वातन्त्र्यवशात् कर लेता है। शक्तिदशा के आभासन के साथ ही संकुचित परप्रमातृता का भी अवभासन इन दोनों पन्द्रहवें और सोलहवें परामर्श वर्ण बीजों की स्थिति में होता रहता है।

प्रमात्रैकात्म्य रूप से वर्तमान विमर्शात्मा विसिसृक्षा, बहिरौन्मुख्यलक्षण क्षोभ के कारण विसर्ग का रूप धारण करती है। आनन्द के उदय से लेकर ('आ' से) 'अः' पर्यन्त क्रियाशक्ति की प्रोच्छलन्ती स्थिति को यह अवभासित करती है।[5]

परामर्शों के इस षोडश वर्ण बीजों की तांत्रिक व्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पूरा प्रत्यभिज्ञा दर्शन का स्वरूप भी विविक्त हो जाता है। यह स्पष्ट हो जाता है कि, परा पारमेश्वरी संवित् ही विभिन्न विभिन्न प्रमाता प्रमेयात्मक

१. तं० ३।१०२-१०३ २. तं० ३।१०४

३. तं० ३।११०-१११, ३।१३३-१३४ ४. तं० ३।१०-११२

उदितायां क्रियाशक्तौ सोम सूर्याग्नि धामनि + अविभागः प्रकाशो यः स विन्दुः परमोहि सः पृ० १३७ पं० ३-४

५. तं० ३।१३६

विश्व के सृष्टि-संहार के विभ्रम का आविर्भाव करती है। यह स्वात्म समुद्भूत है। स्वात्म में ही समुद्भूत है और यह सब स्वात्म का ही परिस्फुरण है।

इस सर्व संविद् सत्ता की स्थिति ही वैसर्गिकी है। वहीं सृष्टि है, वहीं संहार है। माया-प्रकृति-आदि किसी उपादान से यह निर्मित नहीं होती। आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देशकाल में यह उत्पन्न नहीं होती। किसी अन्य प्रमाता प्रमेयादि का तत्तदाभास वैचित्र्य से अन्तर बाह्यरूप से परिस्फुरण नहीं होता। यह अनन्यापेक्षी परासंवित् कादिहान्तरूप से परिस्फुरित है।

यही षोडश परामर्शात्मिका परा संविद् का ऐश्वर्य है।

तदुत्थं व्यञ्जनात्मकम् योनिरूपम्। तत्र अनुत्तरात् कवर्गः, श्रद्धायाः इच्छायाः चवर्गः, सकर्मिकाया इच्छाया द्वौ टवर्गस्तवर्गश्च, उन्मेषात् पवर्गः शक्तिपञ्चकयोगात् पञ्चकत्वम्। इच्छाया एव त्रिविधाया यरलाः। उन्मेषात् वकारः, इच्छाया एव त्रिविधायाः शषसाः, विसर्गात् हकारः, योनिसंयोगजः क्षकारः।

अनुत्तर परामर्श से निष्पन्न जितना व्यंजन समुदाय है, वह योनि-रूप है। अनुत्तर से कवर्ग, श्रद्धामयी इच्छा से चवर्ग, सकर्मिका इच्छा से टवर्ग और तवर्ग, उन्मेष से पवर्ग,की उत्पत्ति होती है। पाँच शक्तियों के योग के कारण ये कचटतप वर्ग ५-५ प्रकार के होते हैं। इच्छा शक्ति की त्रिविधता से 'य' 'र' और 'ल' वर्णों की सृष्टि होती है। उन्मेष अनुत्तर संयोग से वकार उत्पन्न होता है। त्रिविध इच्छा से ही श-ष-स वर्ण बनते हैं। विसर्ग से हकार उत्पन्न होता है। 'क्ष' वर्ण योनि संयोगज है।

[1]वर्णमातृका के स्वर और व्यंजन दो भेद प्रत्यक्ष हैं। यह वर्णप्रवाह शिवशक्ति की अवविभासयिषा का ही अभिव्यंजित स्वरूप है। वस्तुतः अनुत्तर बीज के साथ विसर्गरूप जिस कौलिकी शक्ति का विकास होता

१. मा. वि. तन्त्रम् अधिकारः ३।९,२४,२५,२७, तं० ८।३३७

है, वहीं से विसर्जन क्रिया का प्रवर्त्तन प्रारम्भ हो जाता है।[1] विसर्ग व्यंजन वर्णों की अव्यक्त अवस्था है। व्यक्त अवस्था में आस्य प्रयत्नों का अभिघात होता है। विसर्ग ह की कला है। 'ह' नित्यानन्द रसास्वाद का प्रतीक है। यह विसर्ग का व्यक्त और स्थूल रूप है। महर्षि पाणिनि श्रुत चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों में व्यंजन वर्णों के आदि और अन्त में हकार की अवस्थिति के विज्ञान का यही मूल रहस्य है।

अनुत्तर विमर्श से निष्पन्न व्यक्त विसर्ग ही व्यंजन का रूप ग्रहण करता है। व्यंजन योनि रूप होते हैं।[2] योनि बीज (शक्ति शिव) के संसर्ग से सृष्टि का प्रवाह प्रवर्त्तित होता है। बीज रूप अनुत्तर विमर्श की १६ कलाओं की चर्चा प्रथमतः की जा चुकी है। वे सभी अव्यक्त हैं। उनमें स्थान और कारण का अभिघात नहीं होता। जब वही व्यक्त हो जाती हैं, तब उनका **व्यंजनात्मक योनिस्वरूप** स्थूलतया अनुभूत होता है। यह अनुभूति स्थूलत्व निबन्धना होती है।

सर्वप्रथम कवर्ग विचारणीय है। कवर्ग अनुत्तर से समुत्पन्न है। अनुत्तर शिव की पंचशक्त्यात्मकता सर्वविदित है। उसी के समावेश के कारण कवर्ग का ५ वर्णों का समूह बनता है।[3] पंचशक्त्यात्मकता से यहाँ कई तात्पर्य ग्रहण किये जाते हैं। शिव के ५ मुख ५ तत्त्व हैं। उनके कृत्य भी ५ ही हैं। इनमें ५ गुण हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ही ५ तत्त्व हैं। रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द ही इनकी ५ तन्मात्रायें हैं। हरित, रक्त, धूम्र, नील और पीत पाँच मूल वर्ण भी इनमें विद्यमान हैं।

सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह उनके ५ कृत्य हैं। शिव की शक्ति से ही कला, विद्या, राग, काल और नियति ये ५ कंचुक उत्पन्न होते हैं।[4] शिव के ५ मुख ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात प्रसिद्ध ही हैं।[5] शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या यह

१. तं० ३।१४४ पृ० १४६ पं० ७-१४
२. मालिनी विजयोत्तर तन्त्रम् अ० ३।१०-११, पृ. प्र. ४७३-४८४, तं० ३।८२ पृष्ठ ९३ पं० ४५
३. तं० ३।१४९,२२२
४. मा० वि० तं० अ० १।२६-३३
५. शि० पु० वायु० सं० उ० अ० ३

उनकी ५ शक्तियाँ हैं। हठ, लय, मंत्र, राज, महायोग तथा चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया का पंचक शिवशक्त्यात्मक ही है। शिव की उक्त ५ शक्त्यात्मकता से प्रभावित कवर्ग भी ५ पंचात्मक है। यद्यपि अनुत्तर प्रधानतया 'चित्' शक्ति से विशिष्ट है, फिर भी 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इस शास्त्रीय सिद्धान्त के कारण इसमें पञ्च शक्तिमयत्व सुस्पष्ट है। फलस्वरूप कवर्ग की पञ्चात्मकता भी शास्त्र सम्मत ही है।

इच्छा शक्ति जिस समय अक्षुब्ध रहती है और स्वस्वरूप में विराजमान रहती है, उस समय उसके स्फार स्वरूप चवर्ग की उत्पत्ति होती है।[1] इच्छा की वह श्रद्धावस्था होती है। वहाँ क्षोभ और क्षोभणा नहीं होती। केवल इष्यमाण अनारूषित अवस्था के कारण अनुत्तरज कण्ठ्य कवर्ग के उपरान्त इच्छाशक्तिज तालव्य च वर्ग की स्वाभाविक सृष्टि होती है। यह इच्छा शक्ति का बहिरौन्मुख्य व्यापार मात्र है। क्रमिक रूपसे व्यंजन वर्णों का अभिव्यंजन शक्तिस्फार का स्फुट और सुस्पष्ट अवभासन है।

ज्ञेय कालुष्यवती इच्छा क्षिप्र और स्थिर रूपों में परिणत होकर वह्नि बीज ट वर्ग और क्षमाबीज त वर्ग की सृष्टि करती है।[2] तालव्य विकास के बाद मूर्धन्य और दन्त्य अभिव्यंजन होता है। वास्तव में इच्छा शक्ति के क्षोभ का तात्पर्य संविन्निष्ठ ज्ञेयता ही है। अनुत्तर की विसिसृक्षा में शक्ति का क्षोभ स्वाभाविक रूप से अवश्यम्भावी है। यद्यपि इच्छा अनुत्तर से अभिन्न है, फिर भी बहिरौन्मुख्य के व्यवसाय में अनुत्तर ही इच्छा में क्षोभ उत्पन्न करता रहता है। अपने से अभिन्न को भिन्न के समान, भेदयुक्त आचरित करना, स्वात्मबहिष्कृति का स्निग्ध, भेदनिबन्धक व्यापार मात्र है। अनुत्तर का, अहन्ता की ओर से इदन्ता की और आने का यही रहस्यमय क्रम है।

उन्मेष से पवर्ग उत्पन्न होता है।[3] इन सबका (प फ ब भ म) का पंचकत्व, शक्ति पंचक के संयोग से ही उत्पन्न होता है। यह २५ वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः' के अनुसार क से म पर्यन्त स्पर्श वर्ण होते हैं। 'म' पुरुषतत्त्व है। 'क'से प्रारम्भ कर 'म'

१. तं० ३।१५०-१५१ पृ० ९२ पं० १४-१९ २. तं० ३ पृ० १५४ पं० ८
३. तं० ३ पृ० १५४ पं० ९

तक धरादिपुरुषान्त पञ्चविंशति तत्त्वों की स्फुटता और इनकी ज्ञेयरूपता सुस्पष्ट है।[1]

इच्छा शक्ति जब विजातीय शक्त्यंशप्रोन्मुखी होकर अनुत्तर से समागम करती है, तब इ+अ के संयोग से वायु बीज 'य' कार की उत्पत्ति होती है। 'ऋ' और ऌ के रूप में विद्यमान ज्ञेय कालुष्यरूषिता इच्छा वह्निबीज 'र' और 'ल' धराबीज के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार त्रिप्रकारक इच्छा से 'य', 'र' और 'ल' की उत्पत्ति सम्भव है।[2]

उन्मेष वैजात्य-शक्ति-सम्पृक्त होकर उ+अ=व की सृष्टि करता है। 'व' कार सृष्टिसार का प्रवर्षक तत्त्व माना जाता है। यह वरुण-बीज वर्ण है। 'य'कार शोषक, 'र' कार दाहक और 'ल'कार पृथ्वी बीज रूप स्तम्भक होता है।[3]

त्रिप्रकारक इच्छा से ही श ष स ऊष्म वर्णों की उत्पत्ति होती है। शुद्ध इकार रूपा इच्छा में अनुन्मिषित (अनुल्लसित) उन्मीलत् (उल्लसत्) और प्रोन्मीलित (उल्लसित) यह तीन स्थितियाँ होती हैं। इन स्थितियों में भी ताद्रूप्य से इकार रूप इच्छा शक्ति का प्रच्याव नहीं होता है। यह त्रिविध इष्यमाण शक्त्यंश स्वातन्त्र्य के कारण स्वात्म ऊष्मा से सम्पृक्त होकर बहीरूपतया समुल्लासित होता है और श, ष तथा स रूप से प्रस्फुरित हो जाता है।[4] यह सीत्कार, सुख, सद्भाव, समावेश और समाधि स्थानों में परमानन्द रूप से विद्यमान है। सकार को तृतीय ब्रह्म भी कहते हैं।[5]

इसी प्रकार विसर्ग से हकार का अभिव्यंजन होता है। विसर्ग का ही व्यक्त और स्थूलरूप यह हकार है। 'ह' को मिलाकर श ष स ह का वर्णचतुष्क ऊष्मावभास के कारण ऊष्म वर्ण कहलाते हैं।[6] अनुत्तर की शक्ति ही विसर्ग है। विसर्ग का ही अनुत्तरयुक्त रूप हकार होता है। यह कादिहान्त वर्ण व्युत्पत्ति क्षोभाधार प्रयुक्त ही है।

यहाँ तक अनुत्तर और योनि के संयोगज वर्णों का क्रम चलता है।

१. तं० ३।१५३
२. अष्टाध्यायो 'इकोयणचि' ३. तं० ३।१५४-१५७ पृ० १५७ पं० १३-१८
४. तं० ३।१६४-१६५, पृ० १६३ पं० १७ ५. तं० पृ० १६५ पं० १०-११
६. तन्त्र० ३।१७९

योनि-योनि के सम्पर्क से भी वर्ण निष्पत्ति सम्भव है। जैसे 'क्ष' कार योनि संयोगज ही है। योनि का योन्यन्तर संयोग अर्थात् व्यंजन और व्यंजन का संयोग क्षोभान्तर की सृष्टि करता है। 'क्ष'कार ऐसा ही वर्ण है। यह क् और स् के संयोग से बनता है। क् अनुत्तर से अनुप्राणित और स् विसर्ग से अनुप्राणित होकर 'क्ष' प्रत्याहार का रूप ग्रहण कर लेते हैं अनुत्तर-निष्पन्न व्यंजनादि योनि से लेकर व्यंजनान्त 'स्' पर्यन्त सभी वर्णों को स्वात्म समाहित कर लेता है। इसीलिये इसे कूट बीज कहते हैं। यही चक्रेश्वर भी है।[1] सारी सृष्टि क्षान्त ही है[2]।

इस प्रकार १६ बीज वर्ण अ से अः पर्यन्त, २५ स्पर्शवर्ण 'क' से 'म' पर्यन्त, चार अन्तःस्थ वर्ण य र ल व, चार ऊष्मवर्ण श ष स ह मिलकर ४९ वर्ण होते हैं। क्ष को मिला कर ५० वर्णों की माला 'मातृका' होती है।[3]

इत्येवमेष भगवान् अनुत्तर एव कुलेश्वररूपः। तस्य च एकैव कौलिकी विसर्गशक्तिः, यया आनन्दरूपात् प्रभति इयती बहिःसृष्टिपर्यन्तेन प्रस्पन्दितः वर्गादिपरामर्शा एव बहिस्तत्त्वरूपतां प्राप्ताः। स च विसर्गस्त्रिधा—आणवः चित्तविश्रान्तिरूपः, शाक्तः चित्तसंबोधलक्षणः, शाम्भवः चित्तप्रलयरूप इति।

उक्त व्याख्या के अनुसार भगवान् अनुत्तर शिव ही कुलेश्वर हैं। उसकी एक ही कौलिकी शक्ति है।[4] वही विसर्ग शक्ति है। इसी कौलिकी शक्ति के द्वारा आनन्दरूप से लेकर इतनी बाह्य सृष्टि पर्यन्त प्रस्पन्दित वर्गआदि परामर्श ही बहिस्तत्त्वरूपता को प्राप्त होकर व्यक्त हैं। यह विसर्ग तीन प्रकार का होता है। १-आणव विसर्ग। यह चित्तविश्रान्ति रूप होता है। २-चित्तसंबोध लक्षण शाक्तविसर्ग और ३-चित्तप्रलयरूप शाम्भव विसर्ग।

ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि, बीज-योन्यात्मक इस समस्त सूक्ष्म-स्थूल आनन्दोदयक्रम में अ से क्ष पर्यन्त, आदि क्षान्त अव-

१. तन्त्रा० ५।१०९-११०, ३ पृ० १७८ २. तन्त्रा० ५। पृ० ३७३ परात्रीं० ७
३. तन्त्रा० ३।१८१ ४. तन्त्रा० ३।१४३-१४४ ५।६७।

भास के स्वतन्त्र सर्वेश्वर, अनुत्तर भगवान् परम शिव ही हैं। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र उन्हें 'कुलेश्वर' की संज्ञा से विभूषित करता है।

'कुलेश्वर' की शक्ति को कौलिकी शक्ति कहते हैं। यह 'परा' शक्ति है।[1] यह सर्वथा प्रमात्रैकात्म्य रूप से वर्त्तमान है। यह विमर्शरूपा विसिसृक्षा है। अन्तःकरण प्रभृति १६ कलाओं को आप्यायित करने वाली नित्योदित अनस्तमितरूपा, अमृताकाररूपिणी, चिन्मात्रस्वभावा, हकारार्धरूपिणी, 'अमा' शब्द व्यपदेश्या यह परा कौलिकी शक्ति सप्तदशी कला के रूप से भी तंत्रशास्त्र में स्वीकृत है। यही विसर्ग शक्ति है। विसर्ग परापर रूप से अवस्थित होता है। 'पर' आनन्द रूप विसर्ग और 'अपर' हकार रूप दोनों का एकीकृत रूप विसर्ग है। इसमें दो बिन्दुओं का समावेश है। दोनों परापर रूप से प्रसरित होते हैं। कौलिकी शक्ति समस्त परापर रूपों की अवबिभासयिषा के कारण नित्य प्रोच्छलित होती रहती है। यह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक वस्तुओं की प्रकाशात्मिका शक्ति है।

यही विसर्ग से अर्थात् बहिरौन्मुख्य से विरहित अवस्था में स्वात्ममात्रविश्रान्त प्रसुप्त भुजग का आकार धारण करने वाली 'शक्ति कुण्डलिनी', यही बहिर्भावौन्मुख्यात्म आदि अवस्था में 'प्राणकुण्डलिका' और यही प्रत्यावृत्तिक्रम से अन्तर्भावौन्मुख्यरूप अवस्था में स्वात्मविश्रान्त परसंविन्मात्ररूपा पराकुण्डलिनी कहलाती है। यही कौलिकी शक्ति जब केवल संविन्मात्र रूप अवस्था में होती है, उस समय सप्तदशीकला, शिवव्योम, परम ब्रह्म, शुद्ध आत्मस्थान कहलाती है। इस प्रकार स्वतः सिद्ध हो जाता है कि, परा पारमेश्वरी संवित् तत्तत् प्रमातृ प्रमेयात्मक विश्व की सृष्टि और उसके संहार के विभ्रम की आविर्भाविका है। यही सृष्टिसंहारकारित्वलक्षणा स्थिति है। यही वैसर्गिकी अवस्था है, जो स्वात्म शक्ति से, स्वात्म में ही, स्वात्म का ही अन्तर्बहीरूप से तत्तदाभासवैचित्र्य का स्फुरण करती है। न तो यह माया अथवा प्रकृति के उपादानों का आश्रय लेती है, न ही अपने से भिन्न किसी देशकाल में, अपने से भिन्न किसी प्रमातृ प्रमेय का स्फुरण करती है। किसी दूसरे की अपेक्षा इसे नहीं होती। यही पूर्ण परा संवित् कादि हान्त रूप योनिव्यंजनों में अभिव्यक्त है।[2]

१. तं० ३।६७, ८।१३६
२. तं० ३।१३७-१४२

विसर्ग ही अवभासन क्रमवैचित्र्य के कारण स्थूलता को प्राप्त होकर 'हंस', 'प्राण', 'व्यंजन' 'स्पर्श' आदि शब्दों से व्यपदिष्ट होता है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि अनुत्तर परमधाम ही अकुल या कुलेश्वर है तथा उसी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शिव की शक्ति कौलिकी है। इसमें ही विसर्जनशक्ति का कर्तृत्व अधिष्ठित है। आनन्द और इच्छा के उदय क्रम से यह क्रिया शक्ति पर्यन्त प्रोच्छलित होती है। समुद्र की अनन्त ऊर्मियों की तरह परामर्शान्तिर वैचित्र्य से प्रोद्भासित है। विसर्ग ही अनुद्भिन्न वर्ण प्रविभागा 'ह'कला है। यही कामतत्व है। यह सततोदित नादमात्र स्वभाव, अनच्क् कलामात्र कौलिकी विसर्ग शक्ति है।[1]

कौलिकी विसर्ग शक्ति के द्वारा ही आनन्दोदय क्रम से, आनन्द से इच्छा और इच्छा से क्रिया पर्यन्त (अर्थात् अव्यक्त नादात्मकता से स्थूल हकार पर्यन्त) विभिन्न परामर्शात्मक विस्तार व्यक्त है। यह परामर्शान्तिर प्रस्पन्द 'कु चु टु तु पु' कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग रूप समस्त तत्त्व रूप से अवभासित है। उसका क्रम इस प्रकार है[2]:—

१. अकार से विसर्ग पर्यन्त शिवतत्त्व १६ सूक्ष्म स्वरतत्त्व
२. क ख ग घ ङ में धरा से आकाश पर्यन्त पंचमहाभूत ५
३. च छ ज झ ञ में गन्ध रूप रस स्पर्श और शब्द तन्मात्रायें ५
४. ट ठ ड ढ ण में पाद से लेकर वागिन्द्रिय पर्यन्त कर्मेन्द्रियाँ ५
५. त थ द ध न में घ्राण से लेकर श्रोत्र पर्यन्त ज्ञानेन्द्रियाँ ५
६. प फ ब भ म में मन अहंकार बुद्धि प्रकृति और पुरुष ५
२५ स्थूल व्यंजन तत्त्व

यह पंचशक्त्यात्मक समावेश है। यद्यपि कवर्ग की सृष्टि अनुत्तर से मानी जाती है और अनुत्तर में चित् शक्ति की प्रधानता है, फिर भी 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इस सर्वमान्य सिद्धान्त के आधार पर पंचशक्त्यात्मक अनुत्तर की व्यापकता के कारण कवर्ग में पंचशक्त्यात्मक समावेश सुस्पष्ट है। इष्यमाण से अनारूषित अक्षुब्ध इच्छा शक्ति से चवर्ग, क्षुब्धा वह्निरूपा (ऋकारात्मक) इच्छा शक्ति से टवर्ग, क्षुब्धा क्षमा रूपा (लृकारात्मक) इच्छा शक्ति से तवर्ग और उन्मेष शक्ति से पवर्ग की उत्पत्ति

१. तं० ३।१४३-१४८ २. तं० ३।१४९-१५२, ३।१८१-१८३

हुई।[1] इस प्रकार क से लेकर म पर्यन्त सभी २५ वर्ण पृथ्वी तत्त्व से लेकर पुरुष तत्त्व रूप से व्यक्त और स्थित हैं। इन्हीं पंचविंश परामर्शों में अणुत्व समाहित है। माया, राग, कला, और नियति रूप षट्कंचुक अणु के गलेपतित हैं।

यकार में भी विजातीय शक्त्यंश प्रोन्मुखी इच्छा शक्ति ही (इ+अ) प्रोद्भासित है। 'र' कार और 'ल' कार में ज्ञेय के कालुष्य से आरूषित, शीघ्र और स्थिर योग से, अभिन्न होते हुए भी भेद भिन्न, अचिर-द्युति भासिनी विद्युत् रूप इच्छा शक्ति, विजातीय शक्त्यंश चित् रूप अनुत्तर की ओर उन्मुख होकर ही अवस्थित है। वकार में उन्मेष शक्ति विजातीय अनुत्तर से सम्पृक्त है। ऊष्मा वर्णों में भी त्रिप्रकारा इच्छा ही अपनी ऊष्मा के प्रभाव के कारण तीन परामर्शों में विद्यमान है।[2] वर्णमातृका के विस्फार की प्रकाशिका यही कौलिकी शक्ति है।

यह विसर्ग तीन प्रकार का होता है। (अ) आणव[3] विसर्ग, (आ) शाक्त[4] विसर्ग और (इ) शाम्भव[5] विसर्ग। तीन प्रकार के विसर्ग की कल्पना शास्त्रानुमोदित है।[6]

(अ) आणव विसर्ग भेद प्रधान होता है। यह हकारात्मक स्थूल विसर्ग है। पशुमात्र, जीवमात्र या मानवमात्र इसीस्थूल विसर्ग से सम्बद्ध है। इसमें चित्त की विश्रान्ति हो जाती है अर्थात् चिति और चेत्य का संघटित और संकुचित ज्ञान भेद की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

(आ) शाक्त विसर्ग भेदाभेद प्रधान होता है। यह सूक्ष्म (:) विसर्गात्मक होता है। इस अवस्था में दृष्ट, श्रुत, स्पृष्ट, आघ्रात और आस्वादित चराचरात्मक विश्व रूप वस्तु की उन्मुखता आत्मसंवित् की ओर होती है। इस उन्मुखता के उत्कर्ष के कारण ग्राह्य ग्राहक रूप समग्र भेदवाद का अपहस्तन हो जाता है, निष्कल रूपता का उद्रेक होता है और सर्व का स्वात्मसंविदैक्य रूप से अवभासन होने लगता है। परिणामतः संकुचित ज्ञानात्म चित्त की स्वात्मसंवित् में विश्रान्ति हो जाती है।

१. तं० ३ पृ० १५४ पं० ६-९, १२-१३
२. तं० ३ पृ० १६३ पं ११-१७, ३।१७९-८०
३. तं० ३।२११-२४ ४. ३।२०१
५. तं० ३.२०८ ६. तं० ३।२१४

इस अवस्था को चित्त संबोध भी कहते हैं। यही निष्कल विश्वोत्तीर्ण दशा है। ग्राह्यग्राहक भेदावभास की दशा में यह शाक्त विसर्ग सकल विश्वमय रहता है। सकल और निष्कल की इन दशाओं के कारण ही यह भेदाभेद प्रधान माना जाता है।

(इ) तीसरा शैव विसर्ग अभेद प्रधान होता है। स्वात्मसंवित् में पराविश्रान्ति की यह अवस्था होती है। इसमें चित्त का पूर्णतया प्रलय हो जाता है। संविन्मात्र में आरूढ़ होने के कारण ग्राह्यग्राहक रूप से उपस्थित होनेवाली भेदावभास रूपी तुटि का नितराम् अभाव हो जाता है। परिणामतः पूर्णस्वात्मसंविन्मात्र परप्रकाशावेश का नैरन्तर्य बना रहता है। यहाँ किसी प्रकार के संकुचित ज्ञान की तनिक भी सम्भावना नहीं होती है। यही आत्मनिर्वृत स्वात्ममात्र-विश्रान्त शैव विसर्ग का स्वरूप है।

इस प्रकार पारमेश्वरी कौलिकी शक्ति ही, जिसे कौलिकी विसर्ग शक्ति की संज्ञा भी दी जाती है, तत्तत् परामर्शों से प्रोच्छलित होती हुई परिस्फुरित होती है।[1]

एवम् विसर्ग एव विश्वजनने भगवतः शक्तिः। इत्येवम् इयतो यदा निर्विभागतया एव परामर्शः तदा एक एव भगवान्[2] बीजयोनितया भागशः परामर्शे शक्तिमान् शक्तिश्च। पृथक् अष्टक-परामर्शे चक्रेश्वर[3]- साहित्येन नववर्गः,[4] एकैक-परामर्श-प्राधान्ये पञ्चाशदात्मकता[5]। तत्रापि संभवद्भागभेद-परामर्शने एकाशीति[6] रूपत्वम्।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि, विश्वकी उत्पत्ति में विसर्ग ही भगवान् की शक्ति है। इन सबके निर्विभागपरामर्शकी अवस्था में एक मात्र भगवत्सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त रहती है। बीज और योनि के भागशः परामर्श की दशा में शक्ति और शक्तिमान् तथा पृथक् अष्टक

१. तं० ३।२१५-२१९ २. ३।१९६
३. ३।२३३ ४. ३।१९९ ५. ३।२००, २७४
६. तं० ३।१९७ (कादिहान्त ३३+ह्रस्व १०+दीर्घ ३२+प्लुत ६=८१)

परामर्श में चक्रेश्वर अर्थात् 'क्ष' के सहित नववर्ग की स्थिति होती है।[1] (स्वर+कु+चु+टु+तु+पु+अन्तःस्थ+ऊष्मा+क्ष) रूप एक एक परामर्श के प्राधान्य में ५० वर्णो की सत्ताका समुदय होता है विभिन्न संभाव्य भेदोपभेद की परामर्श-प्रक्रिया के क्रम में ८१ वर्णमयी मातृ-शक्ति प्रतिभासित होती है।[2]

विश्व के उन्मीलन में, जगत् की उत्पत्ति में, जो शक्ति काम करती है, वह भगवान् शिव की विसर्ग शक्ति ही है। स्वभित्ति में विश्व की निष्पत्ति, चिति भगवती स्वेच्छा से ही करती हैं।[3] प्रकाशैकात्म्य रूप से ही प्रागवस्थित विश्व की जब भी उत्पत्ति होती है, वहाँ विसर्ग शक्ति ही उच्छलित होती है। वास्तव में विसर्ग विसिसृक्षात्मक पारमेश्वर (बिन्दु द्वय) प्रतीक है।[4] इसमें एक साथ विकास-संकोच, सृष्टि-संहार के भाव-व्रात विद्यमान हैं। इसमें भैरव और भैरवी दोनों का यामल एकशेष है[5], विसर्ग अनुत्तरनाथ की कुलनायिका है।[6] शिव की अन्तः सिसृक्षा क्षुब्ध होकर विसर्ग का रूप ग्रहण करती है। इसी से सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, कादि क्षान्त व्यक्त सृष्टि उत्पन्न होती है।[7] विसर्ग का ही निष्पन्न रूप सकार है। सकार के सुख, सीत्कार, सद्भाव, समावेश और समाधि अर्थ होते हैं।

उल्लिलसिषा के पूर्व जहाँ किसी प्रकार का व्यापार सम्भव ही नहीं है, वहाँ निर्विभाग परामर्श होता है। निस्तरङ्ग समुद्र के समान शान्त अक्षुब्ध, परामर्शान्तर विरहित, अनुत्तर विमर्श अहमात्मक होता है। उस दशा में एकमात्र भगवत्सत्ता ही सर्वतः उल्लसित रहती है। प्रकाशात्मा परमेश्वर का परमोल्लास ही विलसित रहता है। उस समय केवल एकमात्र अनुत्तर परम शिव ही विद्योतित होते हैं।

बीज (स्वर) और योनि (व्यंजन)[8] दशाओं में क्षोभक और क्षोभाधार का परामर्श होता है। क्षोभ क्षुभ् धातु से उत्पन्न शब्द है। इस धातु में स्वार्थ और प्रेरणार्थ दोनों भाव विद्यमान हैं। परिणामतः

१. तं० ३ पृ० १९२ पं० ८-१० पू० प्र० प्र० वि० ८४-८६
२. ३।१८० ३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र २ ४. तं० ५।५८-६०
५. अष्टाध्यायी १।२।६७ ६. तं० ५।६७
७. तं० ३।१३४ ८. तं० ३ पृ० ९२ पं० १४-१५

संवित् स्वतः स्वयं क्षुब्ध होती है। जैसे मोर के अण्डे के भीतर के तरल में पाँखकी समस्त चित्रात्मकता विद्यमान रहती है, उसी तरह संवित् स्वयं में स्वयं ज्ञेय राशि को धारण किये हुए है। यह उसका अपना क्षोभ है किन्तु उसका बहिर्भाव रूप से अवभासन भी वही करती है तथा क्षोभ्य को प्रेरित कर उसमें सम्प्रेषणरूप व्यापार का संचार भी करती है। इस तरह द्वैविध्य स्वभावतः उपस्थित हो जाता है। प्रक्षोभकत्व धर्म बीज बन जाता है और क्षोभ का आधार योनि। वर्णमातृका[1] में प्रक्षोभक स्वर बीज कहलाते हैं और 'क्षोभाधार' व्यंजन योनि। यह भागशः परामर्श है। इस अवस्था में शिव और शक्ति का विभागावभास स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त अष्टक परामर्श और चक्रेश्वर क्ष कार के पृथक् पृथक् परामर्शों के कारण नव वर्ग बन जाते हैं। वस्तुतः शिव एकामर्श स्वभाववान् हैं। उन्हीं से पृथक् पृथक् परामर्शों का उदय होता है।[2] द्वादश परामर्शों के उपरान्त 'ऋ ॠ ऌ ॡ' चार षण्ठ स्वर वर्णों के उदय से १६ स्वर होते हैं।[3] यह अष्टक परामर्श का प्रथम वर्ग है। स्वर रूप में शिव और शक्तितत्त्व का अभेद रूप से ही परामर्श होता है। शिवतत्त्व की बीज रूपता सदा सुरक्षित रहती है।[4]

इसके उपरान्त व्यंजन वर्णों का परामर्श होता है। स्वर वर्ण सूक्ष्मता के प्रतीक हैं और व्यंजन वर्ण स्थूलता के। क से लेकर म तक आस्य के कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ अंगों के अभिघात से ३३ व्यंजन वर्णों की उत्पत्ति होती है। इनमें २५ स्पर्श ४ अन्तःस्थ और चार ऊष्मा वर्ण हैं। इस प्रकार १२ बीज स्वर[5] ४ षण्ठ स्वर+२५ स्पर्श ४ अन्तःस्थ और ४ ऊष्मा इन सबका पृथक्-पृथक् परामर्श होता है। यही प्रातिस्विक परामर्श है।[6] यहीं शिव की उपाधि का प्रकार है। शिव स्वातन्त्र्य का यही माहात्म्य है। यही बीज योनि समापत्ति है[7]। यही कादि हान्त परामर्श है। यही क्षोभाधार है।[8]

१. तं० ३।२३२ २. ३।२१९-२२१
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा ९८, १३४-१३५ प्रक्रियाविमर्शः पृ० १२ पं० १३
४. त० ३।७७-८२-८६ मा० विं० ३-१२
५. तं० ३।२५१ ६. तं० ३।१०७ ७. ३।२३३ ८. तं० ३।१८०

यहाँ तक बीज और योनि की समापत्ति के परामर्शों से सम्भूत ४९ वर्णों का विवरण है। जहाँ योनि का योन्यन्तर योग होता है, वहाँ भी परामर्शान्तर की उत्पत्ति होती है। इसी परामर्शान्तर की निष्पत्ति से वर्णमातृका ५० मानी जाती है। अनुत्तर से अनुप्राणित क कार और अनुत्तर विसर्ग से अनुप्राणित 'स' इन दोनों क्षोभाधारों के संयोग से प्रत्याहार-परिभाषित यौगपद्येन समस्त मातृका-बोधक क्षकार परामर्शान्तर की निष्पत्ति होती है।[1] यह अनुत्तर विसर्ग का संघट्टन है, यह कूट बीज है और मातृका तत्त्व है। इस प्रकार ५० वर्णों की मातृका 'मालिनी' रूप से प्रतिष्ठित है।[2]

पंचाशंदात्मिका मातृका के परामर्शों में भी विभिन्न भेदों की संभूति से ८१ एकाशीति वर्णों की निष्पत्ति होती है।[3] क से म तक के स्पर्श वर्णों की अर्धमात्रात्मक स्थिति के कारण ३३; ह्रस्व १०, दीर्घ ३२, प्लुत ऌ ६=८१ यही—वर्ण स्थिति है।[4] यदि ९ स्वरों के ९।९ प्रस्तार मान लिये जाँय तो भी ८१ वर्ण स्थिति हो जाती है। यों तो ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक और अननुनासिक भेद से स्वर वर्णों की ही ७२+१२+१२=९६ स्थितियाँ होती हैं। इनमें अर्ध मात्रा की व्यंजनात्मिका अभिव्यक्ति ३३ का योग करने से १२९, १३२, १६८ और ३२४ परामर्श सम्भव है। [१२९+३ यँ वँ लँ=१३२ अथवा अ इ उ ऋ×प्रत्येक १८=७२+ऌ १२+ए ऐ ओ×प्रत्येक १२=७२+६०=१३२ स्वर। व्यंजन अर्द्धमात्रिक २५+७ अन्तःस्थ+४ ऊष्मा=३६ (१३२+३६=१६८)]।

१३२ स्वरों की या सभी व्यंजन वर्णों की यह परामर्श 'स्फार' राशि अनुत्तर अकार का ही स्फार है। इसी प्रकार पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी-

१. तं० पृ० १७८ पं० १-११
२. ३।१९६, पृ० १८९ पू० प्र० प्र० वि० ८३
३. ३।१९७, पूर्णताप्रत्यभिज्ञा ९०-१९ प्रक्रियाविमर्शः पृ० ११ पं० १४-१५
४. पू० प्र० प्र० वि० ९३-४९; ६।२२५-२२६-२२७ तं० ६।२२५ पृ० १८४ पं १-३

दशाओं के अनन्त अनन्त परामर्शों में शिवशक्ति का सामरस्य, लीलापूर्वक उल्लिलासयिषा से उल्लसित है।

८१ पदात्मिका वर्ण मातृका के अनुसार ही भगवान् अनुत्तर शिव ने एकाशीतिक मन्त्र का अभिधान किया है क्योंकि एकाशीति मुख्य मात्राओं के सद्भाव में ही परा मन्त्रशक्ति विद्योतित है।[1]

वस्तुतस्तु षट् एव परामर्शाः, प्रसरणप्रतिसंचरणयोगेन द्वादश भवन्तः परमेश्वरस्य विश्वशक्तिपूर्णत्वं पुष्णन्ति। ता एव एताः परामर्शरूपत्वात् शक्तयो भगवत्यः श्रीकालिका इति निरुक्ताः। एते च शक्तिरूपा एवं शुद्धाः परामर्शा शुद्धविद्यायां परापररूपत्वेन मायोन्मेषमात्रसंकोचात् विद्याविद्येश्वररूपतां भजन्ते।

वस्तुतः छः परामर्श ही मौलिक हैं। प्रसरता और प्रतिसंचरण के योग से ये १२ बारह होते हैं। इस प्रकार ये सब परमेश्वर की विश्वशक्तिपूर्णता को ही पुष्ट करते हैं। ये परामर्श रूप हैं, शक्ति हैं, भगवती रूप हैं। यह सभी श्री कालिका रूप से भी निरुक्त हैं। ये शक्ति रूप शुद्धपरामर्श शुद्धविद्या में, परापर रूप से, माया के उन्मेषमात्र से ही उत्पन्न संकोच के कारण, विद्या और विद्येश्वर रूपता को प्राप्त हो जाते हैं।

शिव और शक्ति का प्रतिनियत व्यपदेश जिस समय नहीं होता, उस समय 'परपरामर्श या स्वात्मपरामर्श मात्र की दशा होती है। उसी अनाख्य अवस्था को, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की भाषा में अनुत्तर कहते हैं। यही शिव है। यह 'अ'कार है। 'अ' में प्रकाशमात्र रूप से शक्तितत्त्व भी विद्यमान है। वास्तव में 'अ'कार अनाहत अनुत्तर का स्थूलकरणाभिघातोत्थ हत शब्द रूप है। शब्द रूप से विद्योतित परपरामर्शशाली परावाग् रूपिणी चितिभगवती का ही प्रतीक है।

१. तं० ३।१९७

अनुत्तर अकार में शिवशक्ति का सामरस्य है। यह सामरस्यात्म रूप अकार परस्पर संघट्टित होकर आनन्द रूपता को प्राप्त कर 'आ'कार रूप से प्रोद्भासित होता है। अ वर्ण रूप यह शिव ही स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों के आश्रयण से आ, इ, ई उ, ऊ, वर्ण रूपता में व्यक्त होता है। त्रिपुरा शक्ति—वामा, ज्येष्ठा और रौद्री रूपों में भासित होती हुई एक अनुत्तर में विद्योतित है। अकार का शिरोभाग रौद्री है, वक्त्र (मुख) वामा है, बाहु अम्बिका है और आयुध ज्येष्ठा है।[1]

प्रकाश और विमर्श की यह प्रक्रिया शाश्वत है। यदि प्रकाश प्राधान्यतः वाच्यात्मविश्वरूपत्वेन परिस्फुरित है, तो विमर्श भी तत्तद् अनुत्तर आनन्दात्मक इच्छा-ईशनात्मक, उन्मेष-ऊनतात्मक परामर्शान्तरों से प्रतिभासित परावाग्रूप चिति का वैचित्र्य ही है। इस प्रकार परामर्शों की छः[2] रूपता स्वतः प्राप्त है। 'अ'कार का यामल रूप आनन्दशक्ति है।[3] परप्रमाता अनुत्तर का सिसृक्षात्मा परामर्श इच्छारूप इ कार है।[4] वही क्षुभितावस्था में ईशित्री 'ई'कार बन जाता है और उसी का ज्ञेय की अधिकता के कारण ज्ञान की ज्ञानमात्रता में ऊनता आने के फलस्वरूप 'ऊ' रूप छठें बीज वर्ण की उत्पत्ति होती है। यही छः बीज परामर्श हैं।[5]

अनुत्तर के प्रसार के दो क्रम प्रसिद्ध हैं। १. प्रसरण और २. प्रतिसंचरण। प्रसरण प्रथमतः आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों में होता है। परिणाम स्वरूप ६ स्वरात्मक बीज परामर्शों का उदय होता है। पहले अनुत्तर का स्वात्मपरामर्श, पुनः आनन्दशक्ति का उदय या आनन्दशक्त्यात्मक द्वितीय वर्ण का उदय होता है, जिससे इच्छाद्यात्मक विश्व की सृष्टि होती है। इसमें पहला रूप विश्वोत्तीर्ण और दूसरा रूप विश्वमय होता है। आनन्द शक्ति में चित् का प्राधान्य रहता है। इस अवस्था में विसिसृक्षात्मक परामर्श का समुदय होता है। वही इच्छा शक्ति है। अनन्त अनन्त शक्तिव्रात को धारण करने वाली विचित्र रचना-

१. तं० ३ पृ० ८० प० ४-५ तं० ३।१८४, १९२, २५०
२. ६।२१९   ३. ३।६८   ४ तं० ३ पृ० ८४ प० १-५
५. ३।७६; पृ० ८८ पं० ५–६, ८

मयी सृष्टि के प्रवर्त्तन के लिए उन्मुख चिन्ता की पहली दशा ही इच्छा होती है। बहिरौन्मुख्य तो इसमें होना है किन्तु स्रष्टव्य से अनारूषित इच्छा मात्र का प्रतिनिधि 'इ'कार बीज उदित होता है। यही जब बही-रूपतया प्रक्षुब्ध अवस्था में परिणत और ऐश्वर्य सम्पन्न होकर ईशित्री बन[१] जाती है, तो चतुर्थ ईकार रूप वर्ण बीज का उदय हो जाता है। यों तो इकार से अचिर-द्युतिभासिनी विद्युत् की क्षिप्र और स्थिर गतियों की तरह परामर्श-स्वातन्त्र्य के प्रभाव से षण्ठ वर्णों की भी उत्पत्ति होती है किन्तु उनकी गणना बीज रूप स्वरवर्णों में नहीं होती।

अनुत्तर की पहली दशा में स्वात्ममात्रनिष्ठ परामर्श होता है। उसके अतिरिक्त किसी भी विमृश्य की सत्ता वहाँ नहीं होती। वही ज्ञानशक्ति के कारण अन्तर्विजिज्ञास्यतया इष्ट विश्व के उन्मेषरूप में अर्थात् आद्यपरि-स्पन्द रूप से अर्थात् पंचम बीज स्वर 'उ' कार रूप से अवस्थित होता है।[२] ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय रूप अंश जब उद्रिक्त होता है, तो ज्ञेय के आधिक्य के कारण ज्ञान की कमी हो जाती है और अपूर्णता रूप ऊनता का आभासन हो जाता है अर्थात् 'ऊ' रूप षष्ठ बीज स्वर की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ तक अनुत्तर का प्रसार-विस्फार प्रसरण क्रम में सुस्पष्ट है।

प्रतिसंचरणक्रम में अनुत्तर और इच्छा के संघट्ट से तथा अनुत्तर और उन्मेष संघट्ट से 'आद् गुणः[३]' सूत्र के अनुसार 'ए' और ओ वर्णद्वय की उत्पत्ति होती है। पुनः अनुत्तर त्रिकोण 'ए' और अनुत्तर उन्मेष 'ओ' मिलकर 'ऐ' कार एवं 'औ' कार का उदय होता है। इन परामर्शों में अनुत्तर का प्रतिसंचरण सुस्पष्टतया प्रतिभासित है।

इन द्वादश[४] सूर्यात्मक बीज स्वरों से यह सिद्धान्त पुष्ट हो जाता है, कि परमेश्वर विश्वशक्तिमय है। वह विश्वोतीर्ण और विश्वमय दोनों है। वह विश्वशक्ति से पूर्ण है।[५] कल शब्दे, कल क्षेपे, कल संख्याने, कल गतौ

१. तन्त्र० ३।६९-७४

२. आत्मैवसर्वभावेषु स्फुरन्निवृतचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पृ० २०९ पं ४-५

३. अष्टा० ६।१।८७

४. तन्त्र० ३।२५१, ४।१६० कर्मबुद्ध्यक्षवर्गो हि बुद्ध्यन्तो द्वादशात्मकः अहंकार सहित १३ ४।१६४

५. तन्त्र० ३।२५२

के धात्वर्थों के अनुसार कलयन्ति अर्थात् परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति, संहरन्ति, गणयन्ति, जानते या जानन्ति रूप विविध विभिन्न अर्थमयी उक्त शक्तियाँ ही काली या कालिका शब्द से व्यपदिष्ट हैं[१]। यह पराशक्ति रूप से भी निर्दिष्ट है। स्वेच्छा से अवभासित प्रमातृप्रमेयात्मक जगत् का तत्तद्रूप से कलन करने में यह सर्वथा समर्थ है। इसमें क्रम और अक्रम रूपता का कोई प्रश्न ही नहीं होता। जैसे आग से शरीर के जलने पर फोड़े आ जाते हैं, आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार किसी प्रसार विस्फार में किसी क्षोभ प्रक्षोभ में अनुत्तर परामर्श की पूर्णता अनवच्छिन्न रहती है।[२]

ये सभी शक्ति रूप परामर्श हैं। शुद्ध अध्वा में–शुद्ध विद्या में ही परा पररूप से माया का उन्मेष होता है। उससे संकोच उत्पन्न होता है। उससे संकुचित होकर ये परामर्श विद्या विशेश्वररूपता को प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि शुद्ध विद्या में भेदावभास जनक समस्त विकल्पों का संहार हो जाता है[३] फिर भी जहाँ अनुपपन्न अवभासन[४] प्रारम्भ होता है, वहीं माया[५] का उन्मेष होता है और वहीं संकोच का भी प्रारम्भ हो जाता है। 'सर्वमिदमहमेव'[६] रूप परा-मर्श दशा में, प्रतिबिम्ब ग्रहण सहिष्णु स्फटिक रूप अहम् में सर्वम् इदम् का अवभासन, प्रमातृप्रमेय रूप भावसमूह का विकल्पन मायीय परामर्श ही है। यही परापर रूपता है। इदम् इदम्, अहम् अहम्, अहमिदम्, के परामर्श में 'समधृततुलापुट' न्याय के अनुसार पर अहमंश है और अपर इदमंश है। इसमें प्रमातृप्रमेय भावराशि का वैभव मायीय विकल्प ही है। शुद्ध विद्या-तत्त्व में मन्त्र प्रमाता और अनन्त भट्टारक **विद्येश्वर कहलाते हैं। अपर अपूर्ण इदमंश अन्य साकाङ्क्ष** है। **पूर्ण अहमंश 'पर'** है। वेद्यभाव स्थित **अवस्था विद्या तत्त्व** है। इसमें वेद्यनिष्ठ संवित्ति का बोधसार परामर्श होने के कारण शुद्धता अवस्थित है। शुद्ध विद्या में भेददर्शी मन्त्र-प्रमाता वर्ग है और शास्ता विद्येश्वर है।[७] वास्तव में विद्येश्वरत्व एक प्रकार

१. तन्त्र० ६।७, ३।२५३

२. तन्त्र० ६।७, ३।२५३, ४।११८

३. ४। १३-११८

४. ई० प्र० पृ० २२३ पं० ३

५. ई० प्र० ३।१।३ पृ ३७ पं० ४, १५, १८

६ तं० ४।११२

७. विद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः तं० ८।२९१-२९३, ९५,३४४,३५०,३५२ ४।३४,३९
पृ० २०२ पं० ४-५
पृ० २०० पं० ४, स्व० १०।११०१, ई०प्र० ३।१।३ पृ० ३६ पं० १८-१९

की मुक्ति दशा ही है। अहन्ता में इदन्ता की विश्रान्ति के कारण यहाँ परप्रमात्रैक्य का स्वात्मसात्कार होता रहता है। मायोन्मेष जन्य संकोच के कारण, विद्येश्वर प्रमाता स्वात्मसत्ता में, विपर्यासराहित्य में भी स्व से भिन्न, वेद्य का दर्शन करने में सक्षम होते हैं।

इस प्रकार यह द्वादश परामर्श शक्ति रूप शुद्ध परामर्श हैं। यही छः प्रकार की संवित्तियों से क्रियाशक्ति के समुदय के कारण परस्पर संघट्टन से द्वादश रूपता को प्राप्त करते हैं। यही बारह 'षण्ठ वर्ज' स्वरों के रूप में भी अवभासित होते हैं।

मायायां पुनः स्फुटीभूतभेदविभागा मायीयवर्णतां भजन्ते। ये पश्यन्तीमध्यमावैखरीषु व्यावहारिकत्वमासाद्य बहीरूपतत्त्वस्वभावतापत्तिपर्यन्ताः ते च मायीया अपि शरीरकल्पत्वेन यदा दृश्यन्ते, यदा च तेषाम् उक्तनयैरेतैः जीवितस्थानीयैः शुद्धैः परामर्शैः प्रत्युज्जीवनं क्रियते, तदा ते सवीर्याः भवन्ति। ते च तादृशाः भोगमोक्षप्रदाः।

उक्त शाक्त परामर्श माया के क्षेत्र में स्फुट भेद विभाग के भाजन बन कर मायीय वर्ण रूपता को प्राप्त कर लेते हैं। उनका यह भेदावभास है। अभिव्यक्तियों के व्यावहारिक क्रम में प्रथमतः पश्यन्ती, पुनः मध्यमा, पुनः बैखरी वाणी का आश्रय वे ग्रहण करते हैं। तत्त्व का बाह्यावभास स्वाभाविक है। बाह्यावभास को स्वरूपतापत्ति पर्यन्त ये मायीयवर्ण-परामर्श शरीर में जीव की तरह हैं। उनमें प्राण या जीवन रूप शुद्ध परामर्शों का प्रवेश होता है। मानो उनको प्रत्युज्जीवन प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में वे सवीर्य बन जाते हैं। ऐसे सवीर्य वर्ण मन्त्रवत् प्रभावपूर्ण होते हैं। ये भोग और मोक्ष दोनों के प्रदाता बन जाते हैं।

वास्तव में अभिव्यक्ति के दो स्रोत हैं। १. शुद्ध स्रोत और २. अशुद्ध स्रोत। शुद्ध स्रोत में शिवशक्ति परामर्शों का प्राधान्य होता है और अशुद्ध स्रोतों में माया भगवती जगत् की निष्पत्ति की निमित्त बनती है। माया एक गुहा है, एक बिल है। यही भग है। इन काम समृद्ध योनि विवरों

में पति की शक्ति का क्षोभ होता है। यही क्रम मायीय वर्ण समुदाय में भी होता है।[1]

जननौन्मुख्य के कारण माया को तत्त्व मानते हैं।[2] इस तत्त्व में भेदावभास की प्रमुखता स्वाभाविक होती है। यह जगत् की योनि है। कभी यह ग्रन्थि रूप से और कभी तत्त्व रूप से भासित होने के कारण दो प्रकार की मानी जाती है।

इस माया रूप व्यापक तत्त्व की सूक्ष्मता में भी सूक्ष्म क्रम से समस्त विश्व अवस्थित होता है। भेद की विभागावस्था में उक्त शक्ति परामर्श मायीय वर्ण बन जाते हैं। यही वर्ण रूप परामर्श पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी वाणियों में व्यवहार के विषय बनते हैं। अत्यन्त स्थूल द्रव्य रूप में कलादि धरान्त अखिल आवरण जाल का असंख्य वैचित्र्य माया में ही अवभासित होता है।[3]

जिस समय मायीय वर्ण निष्पन्न होते हैं, उस समय उनकी वही दशा होती है, जो जीव रहित शरीर की होती है। सारा भेदावभास भी जीव रहित शरीर के समान ही है। इसमें परामर्श ही प्राणरूप से संचरण करते हैं। प्राण संचार से जैसे निर्जीव शरीर भी प्रत्युज्जीवित हो उठता है; उसी प्रकार व्यंजन वर्णों में शुद्ध शक्ति परामर्शों के प्रतिसंचरण से व्यंजनों को प्रत्युज्जीवित्व प्राप्त होता है और व्यंजन सवीर्य बन जाते हैं।

यही शुद्ध शक्ति परामर्श भोग मोक्ष प्रदान करने वाले होते हैं। स्थूल भेद सत्ता से सूक्ष्म परामर्श सत्ता का चिन्तन व्यक्ति को विश्व की वास्तविकता के प्रति उद्बुद्ध कर देता है। वह भोग का अधिकारी हो जाता है। भोग भोग्य (प्रमेय) का ही हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान के बल पर भोक्ता और भोग्य का अभेद बोध उद्भूत होता है। भोक्तृत्व भोग्यत्व के ऐक्य बोध की दशा में मोक्ष ही प्रस्फुटित हो उठता है।

वस्तुतः महामाहेश्वर साधक के लिए भोग और मोक्ष का अन्तर भी विलुप्त हो उठता है। अन्तर की अनुभूति, शक्ति का ही विलासमात्र है। जैसे ज्ञाता में विश्रान्ति ही ज्ञेयत्व है, उसी तरह भोग्यत्व भी भोक्ता

१. तं० ८।३०, ७-३[illegible]) २. तं० ८।३२१ ३. तं० ८।३२४

में विश्रान्ति ही है। इनमें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। इसी प्रकार इन परामर्शों के अनुसन्धान में भोक्तृत्व, भोगत्व और भोग्यत्व सबका स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है। विभागैकरूपता उसी परमेश्वर की परुषता और अविभागैकरूपता उसी परमेश्वर का माधुर्य है। इसी पारुष्य और माधुर्य का अनुकल्पन शक्ति परामर्शों से प्रतिक्षण होता रहता है।

विभागैकरूपता की परुषता परमेश्वर के स्थूल उपक्रम की अभिव्यक्ति मात्र है। पश्यन्ती दशा में वर्ण आदि का प्रविभाग यद्यपि नहीं रहता फिर भी प्राथमिक नाद मात्र अवस्था में अविभागैकरूपता के माधुर्यातिशयाह्लाद से संवलित षड्जादि स्वरों के पारस्परिक लोलीभाव का स्वर सन्दर्भ विद्यमान रहता है। यहीं से स्थूलता का श्री गणेश होता है।'

मृदङ्गादि वाद्यों में करपीडन से उत्पन्न षड्जादि स्वरों का प्रविभाग तो अनुभव सिद्ध ही है। यद्यपि सरगम के किसी एक स्वर के बोल उसमें से निकलते हैं, फिर भी उनमें वर्णों की प्रविभागता का उल्लास नहीं होता। इसीलिये यहाँ स्फुटता और अस्फुटता दोनों साथ ही साथ विद्यमान रहते हैं। इसी अवस्था को मध्यमा वाक् की अवस्था कहते हैं। स्वर, लय, तालों से उत्पन्न ध्वनियों में जो आलाप हैं, उनमें भी माधुर्य की धृति विद्यमान रहती हैं।'

जब परस्पर वैलक्षण्य से संवलित, श्रोत्रेन्द्रिय से अलग-अलग आकर्ण्यमान वर्णराशिका स्थान-प्रयत्न के अभिघात के कारण उच्चारण होता है, उसी समय बैखरी वाणी स्थूल पारुष्य से विशिष्ट और माधुर्य से विधुर होकर अभिव्यक्त होती है।

तीनों अवस्थाओं में जिज्ञासा, विवादयिषा और विवक्षा तीन वृत्तियों के पृथगनुसन्धान के कारण भेदावभास सुस्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है। यही इन तीनों की व्यावहारिक दशा है, जिसमें माया की व्याप्ति है, बहिरौन्मुख्य का विलास है और स्थूलोपक्रमता का उल्लास है। इनकी वीर्यदत्ता स्वर रूप शुद्ध शाक्त परामर्शों के सम्पर्क से ही सम्भावित है।[२]

---

१. तं० ३।२३७-२३८ २. तं० ३।२४५-४६

इत्येवं सकलपरामर्श विश्रान्तिमात्ररूपं प्रतिबिम्बित-समस्ततत्त्वभूतभुवनभेदम् आत्मानं पश्यतो निर्विकल्पतया शाम्भवेन समावेशेन जीवन्मुक्तता। अत्रापि पूर्ववत् न मन्त्रादियन्त्रणा काचिदिति।

अन्तर्विभातिसकलं जगदात्मनीह, यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः परं निजविमर्शरसानुवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथापि॥

प्रा०—संवेअण निम्मल दप्पणस्मि, सअलं फुरन्त निअसारम्।
आमरिसण रससरहस विमट्टरूअं सइं भाइ॥

सं० छा.—संवेदननिर्मलदर्पणेऽस्मिन् सकलं स्फुरन्निजसारम्।
आमर्शनरसभरहस्यविमृष्ट रूपं सत्यं भाति॥२॥

प्रा०—इय सुणअ विमलमेणं निअ अप्पाणं समत्थवत्थ मअम्।
जो जोअय सो परभैरइ बोव्व परणिव्वइं लहइ॥

सं०—इति श्रुत्वा विमलमेवं निजात्मानं समस्तवस्तुमयम्।
यो योजयति स परभैरवो भूत्वा परं निर्वृतिं लभते॥३॥

इति श्रीमदाभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे शाम्भवोपाय प्रकाशनं नाम तृतीयमाह्निकम्॥ ३॥

इस प्रकार परामर्शों के क्रम से जीवन्मुक्ति का बोध होता है। प्रत्यभिज्ञान दशा में यह अनुभव स्वाभाविक है कि मैं समस्त परामर्शों का—विश्रान्ति स्थान हूँ। सविकल्पकता की समाप्ति निर्विकल्प परामर्श में होती है। फलतः शाम्भवसमावेश दशा की प्राप्ति अवश्य भावी है। यही जीवन्मुक्ति दशा है। इस अवस्था में भी मन्त्र-यन्त्र आदि क्रियाकलाप के कर्मकाण्ड की यन्त्रणा अनावश्यक होती है।

आत्मसंवित्ति की परावस्था में समस्त जगत् सूक्ष्मरूप से अन्तः अवसित रहता हुआ भासमान रहता है। मुकुर के अन्तराल में समस्त विचित्र रचना का परामर्श होता है। स्थूल दर्पण और आत्मदर्पण में यही अन्तर होता है कि, स्वात्मपरामर्श का परानन्द आह्लाद और विश्वात्मकता का परामर्श स्थूलदर्पण में नहीं हो सकता ॥१॥

संवित्तिरूप स्वात्मदर्पण में सामस्त्य का सार रहस्य संस्फुरित होता रहता है। परामर्श के परमानन्द रसास्वाद का आह्लाद विमृष्ट होता रहता है और शाश्वत रूप से संवित्सत्य को विभा भातमान होतो रहती है ॥२॥

इस प्रकार समस्तविश्वमय स्वात्म परामर्श रसानुभूति के द्वारा जो साधक स्वात्म को परात्म से संयोजित कर सकने में समर्थ हो जाता है, वह पर भैरव हो जाता है और जीवन्मुक्ति को पर-निर्वृति को प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

यह समस्त विश्वात्मक प्रपञ्च, शाक्त शुद्ध बीज परामर्शों और मायीय स्फुट वर्ण परामर्शों की मातृका या कालिका या कौलिकी शक्ति से ही उत्पन्न है। समस्त परामर्शों की विश्रान्ति अनुत्तर की परम चरम संविदात्मकता में समाप्त होती है। संविदात्म शक्ति में यह समस्त परामर्शात्मक प्रपञ्च प्रतिभासित प्रतिबिम्बित है—इस प्रकार की अनुभूति जिस महामाहेश्वर के हृदय में होती है, वह वस्तुतः विश्वेश्वर है[१]। इस निर्विकल्पक परामर्श का सर्वदा समुदित रहना ही शाम्भव समावेश है। यही शाम्भवोपाय मुद्रित दशा है। यही पूर्णाहन्ता परामर्श है[२] और सततोदित स्वात्मसंविद्विमर्श है तथा रसास्वादाह्लादमय परनिर्वृति है।[३]

इस रस के आस्वाद का जिसने तनिक भी आनन्द प्राप्त कर लिया, वह परप्रकाश्य पारतन्त्र्य को परास्त कर स्वातन्त्र्य शक्ति-स्फार का प्रतीक बन जाता है। उस अवस्था में समाधि, योग, व्रत, मन्त्र, मुद्राजपचर्यादि विधान अनावश्यक हो जाते हैं।[४] वास्तव में यह सभी संविधियाँ भेद विधान की

१. तं० ३।२८६
२. तन्त्र० ३।२६९
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् १६
४. तन्त्र० ३।२७०, २९०

अधिकृति में ही होती हैं। जब भेद का भूधर ही अभेद बोध के वज्र से ध्वस्त कर दिया गया हो,[१] तब किसी क्रिया की सिद्धि की कल्पना भी हास्यास्पद हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्धान्त बनता है कि, आत्मदर्पण में यह समस्त जगत्, दर्पण में प्रतिबिम्बित छायावैचित्र्य की तरह, प्रतिभासित है। स्वात्ममात्र परामर्श के कारण साधक बोधसिद्ध विशुद्ध अनुत्तरपद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। शक्तिपात के कारण उसे स्वात्मविमर्श की रसानुभूति होती है। यह सब शिव स्वातन्त्र्य का सुप्रभाव है। स्थूल दर्पण परप्रकाश्य है, परतन्त्र है, जड है और परामर्श विमर्श प्रक्रिया से शून्य है। इसलिये उसमें विमर्श की शक्ति का सुतराम् अभाव है ॥ १ ॥

संवेदन का निर्मल स्वात्म दर्पण है। इसमें विश्व का सामस्त्य प्रस्फुरित है। यह चिति भगवतो के शक्ति स्वातन्त्र्य का ही परिणाम है। यह स्वेच्छा से स्वभित्ति में ही विश्व का उन्मीलन करती है।[२]

स्व स्वातन्त्र्य माहात्म्य के कारण स्वात्मभित्ति में ही अतिरिक्त न रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह भासमान इस विश्ववैचित्र्य को परमेश्वर हीं प्रदर्शित करता हैं। परमेश्वर की स्वात्मभित्ति ही संवेदन का निर्मल दर्पण है। उसी में आमर्श-इच्छाशक्ति के आनन्दोन्मेष रहस्य का शाश्वत प्रत्यवमर्श होता रहता है और चिन्मय परमेश्वर में विश्ववृत्तियों का प्रतिबिम्बन होता रहता है।[३] यह समस्त प्रतिबिम्ब बिम्ब के अतिरिक्त कुछ नहीं है। दर्पण में प्रतिबिम्बित आकार विशेष मूल पदार्थ बिम्ब से अतिरिक्त न रहने पर भो अतिरिक्त भासित होते हैं। उसी तरह यह सब जो कुछ भी प्रतिभासित होता है, वह सब कुछ सत्य ही है—निज सार ही है ॥ २ ॥

गुरु मुखारविन्द से यह परमार्थ संवित्सार सरहस्यज्ञान सुनकर इसका आकलन करना चाहिए। श्लोक में श्रुत्वा शब्द में श्रोत्रेन्द्रियजन्य ज्ञान

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ११
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २
३. तं० ३।३-४

की ओर विशेष बल देने का यही कारण है। फिर भी यह इन्द्रियजन्य ज्ञान का उपलक्षण है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का वर्ग पंचक ही यह विश्व है। यह पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही गृहीत होता है। यह सारा विश्व प्रपंच, समस्त वस्तुमय यह भासमान बाह्याडम्बर निजात्मरूप ही है। स्व पर की इस अभेदवादिता के सन्दर्भ में स्व पर का संयोजन साधना का विषय है। साधक स्वात्म साक्षात्कार कर समस्त भेदवाद का विध्वंसन करता है और जीवन्मुक्त बनकर परम भैरव पद प्राप्त कर लेता है। यही परभैरवता की स्थिति परनिर्वृति अर्थात् परमानन्द दशा है। यही जीवन का परम लक्ष्य है।

श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के शाम्भवोपाय प्रकाशन नामक तृतीय आह्निक का नीरक्षीरविवेक भाष्य सम्पूर्ण।

चतुर्थमाह्निकम्

अथ शाक्तोपायः

तत्र यदा विकल्पं[1] क्रमेण संस्कुरुते[2] समनन्तरोक्तस्वरूप-प्रवेशाय, तदा भावनाक्रमस्य सत्तर्क-सदागम-सद्गुरूपदेशपूर्वकस्य अस्ति उपयोगः। तथाहि—विकल्पबलात् एव जन्तवः बद्धम् आत्मानम् अभिमन्यन्ते, स अभिमानः संसारप्रतिबन्ध-हेतुः, अतः प्रतिद्वन्द्विरूपो विकल्प उदितः संसारहेतुं विकल्पं दलयति इति अभ्युदयहेतुः।

समनन्तर उक्त स्वरूप में प्रवेश के लिए साधना पथ में, जब साधक क्रमशः विकल्पों का संस्कार करता है, उस समय सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेश पूर्वक भावनाक्रम का उपयोग होता है। स्पष्ट है कि] विकल्प के बल से ही जीव (पशु) अपने को बद्ध मानता है। यह अभिमान संसार के प्रतिबन्ध का कारण है। इस प्रकार [प्रथम विकल्प का] प्रतिद्वन्द्वी एक अभिनव विकल्प उदित होता है, वह संसार के हेतु [प्रथम] विकल्प को दलित करता है। इसीलिए यह [द्वितीय विकल्प] अभ्युदय का हेतु [स्वतः सिद्ध] है।

शिव तत्त्व प्रकाश रूप है। उसी अखण्ड मण्डल में प्रवेश करना जीवन का परम लक्ष्य है। जब तक उस परममाहेश्वर्य दशा में प्रवेश नहीं होता, साधक चुप नहीं बैठा रहता। वह निर्विकल्पक भैरव समावेश का अनुभव करता है। वह यह मानता है कि, प्रकाश का स्वभाव ही

---

१ Differencc of perception, divensity, distinetion, option, an idea as different from other idea, ideation, fancy, imagination.

गुणान्तरोत्पादनं संस्कारः। स चाभ्यासातिशय-तारतम्येन भवति। तं० सा० ४ पृ० २१ पं० २-३

स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य प्रकाशन क्रिया का कर्तृत्व ही है। इसीलिए यह स्वातन्त्र्य शक्ति के निर्विकल्प परामर्श के द्वारा उस परमोपाय दशा में प्रवेश का पुरुषार्थ करता है।

वास्तव में उस स्पृहणीय अवस्था की प्राप्ति के लिए विकल्पों का संस्कार आवश्यक है। विविध[1] कल्पन ही विकल्प कहलाता है। कल्पन का तात्पर्य है—पदार्थ की एकात्मकता में भी वैशिष्ट्य की भावना अर्थात् अन्य का व्यवच्छेद अर्थात् विभागावभास के कारण स्वरूप से च्यवन अर्थात् शिवत्त्व से पशुत्व की दिशा में अधःपात।

किन्तु जब संस्कार होता है, उस समय विकल्प विकल्प न रहकर शुद्ध विमर्श बन जाता[2] है। अहं प्रत्यवमर्श होने लगता है। विकल्प अशुद्ध परामर्शात्मक होता है।[3] शुद्ध विकल्प ही विमर्श का रूप ग्रहण करता है।

पारमेश्वर स्वभाव में प्रवेश के लिए विकल्प का संस्कार आवश्यक है।[4] संस्कार न करने पर यह भय रहता है कि, कहीं विरुद्ध विकल्पान्तर की उत्पत्ति न हो जाय। विरुद्ध विकल्पान्तर के उत्पादन से संस्कार नहीं हो सकता, वरन् वह और भी विकृत होता हैं। विपरीत स्थिति में, बीज में अंकुर के प्ररोह के समान प्ररोह की सम्भावना ही समाप्त हो सकती है।[5] गुरूपदेश श्रवण, चिन्तन और मनन के फलस्वरूप साधना पथ के पथिक की चित्तवृत्ति की अस्फुटता का परिष्कार होने लगता है और प्रकाश का परिवेश पुलकित होने लगता है। एक अवस्था ऐसी आती है, जिसमें शुद्ध विद्या समावेश का श्रीगणेश हो जाता है। साधक वीतराग हो जाता है। सर्वत्र पारमेश्वर प्रकाश का दर्शन होने लगता है।

विकल्प की दशा ही पशुता है। पाशबद्धता की अवस्था में अणु कंचुकांचित रहता है। चिरन्तन का चिन्तन नहीं हो पाता। अशुद्ध अध्वा के सन्दर्भ में निरन्तर पतन की सम्भावना रहती है। इसीलिए यह अत्यन्त आवश्यक है, कि विकल्प की बाधाओं को ध्वस्त कर अभेदवाद

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा १।६।१ पृ० २४० पं० ५-७, द्वयाक्षेपो पृ० २४५ पं० ३-८
२. ई० प्र० ५५ पं ५
३. ई० प्र० पृ० २५ पं० ४-६
४. तं० आ० ४।२
५. तं० ४।२

के कुठार से भेदभूधर को ध्वस्त कर, जीवन में स्फुटता का उदय किया जाय!

प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान तो क्षणिक होता है। विकल्प भी ज्ञान रूप ही होते हैं। अतः वे भी क्षणिक हैं। उत्पत्ति के तुरन्त बाद ही जिनका विनाश अवश्यम्भावी है। उनमें संस्कार की गुञ्जायश ही कहाँ है? संस्कार तो स्थिरता में ही सम्भव है। सिद्धान्त है कि, कारण के अनुरूप ही कार्य की निष्पत्ति होती है। कारण विकल्प अस्फुट है। वह अस्फुट रूप में विनष्ट होगा। विचारणीय विषय यह है कि, संस्कार की भावना रहने पर अस्फुटता भी धीरे-धीरे स्फुटता में परिवर्तित होती जायेगी। स्फुटता की—१. भ्रश्यदस्फुटत्व, २. ईषत्प्रस्फुटत्व, ३ अंकुरित स्फुटितत्व, ४. आसूत्रित स्फुटत्व तथा ५. उद्गच्छत्स्फुटत्व यह पाँच दशायें निश्चित और क्रमिक हैं। यही भावना का क्रम है। जिस प्रकार परमप्रकाश परमेश्वर स्वरूपगोपनकारिणी अघटितघटनापटीयसी शुद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण परप्रमाता रूप स्वात्मस्वभाव का भी प्रच्छादन कर लेता है, ग्राह्य ग्राहक रूप भेदावभास के उल्लास से, विभिन्न रूपों में अवभासित होने लगता है तथा शाश्वत और अनावृत होते हुए भी अपनी क्रीडात्मिका स्वतन्त्र प्रवृत्ति के प्रभाव से आवृत होकर ही अवभासित होता है,[1] उसी प्रकार विकल्पों के संस्कारों में भी क्रमिकता अपेक्षित है, जिससे पशु-जीव शिवत्व का अनुसन्धान करने लगता है। वास्तव में एक बार बीज के वृक्ष का रूप ले लेने पर फिर उसका उन्मूलन बड़ा ही दुःसाध्य हो जाता है।

वृक्ष को काटने के लिए कुठार की आवश्यकता पड़ती है। यदि इस विकल्पात्मक भेदवाद को दुर्भेद्य वृक्ष की संज्ञा दें, तो इसे काटने वाले कुठार को हम 'सत्तर्क' कह सकते हैं। प्रत्यभिज्ञातस्वात्म साधक तात्त्विकता का साक्षात्कार कर अन्य तर्कों से विलक्षण, शुद्ध विद्या के संस्पर्श से पवित्र स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन्न रूप शाण पर चढ़ायी धारवाले 'सत्तर्क' के कुठार से उस वृक्ष के अख्याति रूप जड़ को काट डालता है। यह सत्तर्क मानो भावना की कामधेनु है।[1] इससे समस्त अस्फुटता समाप्त होती है और सारी स्थिति स्फुट हो जाती है।

१. तं० ४-१०

सत्तर्क के प्रभाव से ही साधक वैचारिक भूमिका के तथ्यों का विश्लेषण करता है और भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोणों का ऊहापोह करता है। वैष्णव, वेदान्ती, सांख्यवादी, स्मृति पुराणों के अनुगामी, पाञ्चरात्रिक बौद्ध, जैन आदि अख्याति को हो ख्याति मान लेते हैं। ये पाशबद्ध विचारक हैं।

शैवागम के हेयोपादेय[1] विज्ञान में विचक्षण विज्ञ साधक पारमेश्वर अनुग्रह के कारण शैव महाभाव की प्राप्ति करता है। 'सत्तर्क' का ही यह महाप्रभाव है कि, वह चाहे भले ही पहले वैष्णव या अन्य मतवादों की सीमित मान्यताओं को मानता रहा हो, पर अब सदागम-शैवागम-अनुगत होकर परमेश्वर की इच्छा रूप शुद्ध विद्या विधान से सद्गुरु को प्राप्त करता है। साधक के ऊपर शक्तिपात होता है। शास्त्रान्तर के वैचारिक असत्पथ से बच कर वह शैवगुरुशास्त्र रूप सत्पथ को प्राप्त कर लेता है। शैवमहाभाव में प्रवेश पाने के लिए भावना-क्रम का सार्वकालिक गुरुतर उपयोग है।[2]

उपयोग की वास्तविकता का रूप विकल्पों की सांस्कारिकता पर ही निर्भर है। समस्त जीव जगत् विकल्पों के प्रभाव से ही अपने को बँधा हुआ मानता है। अर्थात् ग्राह्यग्राहक भावों से अनुभावित होता है। अनावृत स्वात्म को नितान्त आवृत मान लेता है। अपने को बद्ध मान लेने का अभिमान एक विकल्प ही है। यह संसार के बन्धनका कारण है। आवश्यकता इस बात की है कि, इसी समय एक ऐसा विकल्प उदित हो, जो इस प्रथम विकल्प का ही प्रतिबन्धक हो। प्रथम विकल्प का प्रतिद्वन्द्वी बनकर संसार के कारण रूप विकल्प का उन्मूलन करता हो! जिस समय यह विलक्षण विकल्पान्तर उदित हो जाता है—यह निश्चित है कि, उस समय से ही जीव के अभ्युदय का, उत्तरोत्तर उत्कर्ष का, पारमेश्वर प्रकाश में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। वस्तुतः यह निर्विकल्प स्थिति होती है। वहाँ विकल्प रहता ही नहीं है।[3]

अपने को बद्ध मान लेना अनपेक्षित भाव है। मैं हूँ। पहले स्वतन्त्र था। अब बँध गया हूँ। यह अभिमान जहाँ जाग्रत हुआ, वहीं संसार का

१. मा० वि० तं० अ० १।१५।१३
२. तं० आ० ४।२०-३७ ३. तं० ७।२३

प्रतिबन्धक हेतु उपस्थित हुआ। वह क्षण, जिस समय बद्धता की अनुभूति होती है, आत्मोत्कर्ष की सम्भावना का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है। उस समय मुक्ति की आकांक्षा प्रबल हो सकती है। होता भी यही है। एक नया विकल्प उदित हो जाता है। संसार का प्रतिबन्धक वह विकल्पात्मक अभिमान ही प्रथम विकल्प का प्रतिद्वन्द्वी द्वितीय विकल्प बन जाता है। यही संसार के हेतु भूत प्रथम विकल्प का उन्मूलन कर देता है। प्रथम विकल्प का उन्मूलन ही अणु के अभ्युदय का हेतु है। शिव की कर्त्तृत्व सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व स्वातन्त्र्य शक्तियाँ, माया से उत्पन्न कला, विद्या, राग, काल और नियति से क्रमशः कीलित और आवृत हो जाती हैं। परिणामतः शिवत्व का ह्रास हो जाता है। शिव अणु और पाशबद्ध पुरुष पशु बनकर प्रकृति के कृत्यों, बुद्धि, अहंकार मन, इन्द्रियों एवं धरान्त असद् उपाङ्गों से गृहीत और व्यथित हो जाता है। विविध विकल्पों का आगार बन जाता है। इसी अवस्था में संसार प्रतिबन्धक द्वितीय विकल्प उत्पन्न हो जाता है अर्थात् सत्तर्क सदागम और सद्गुरूपदेश द्वारा भावोत्कर्ष का संस्कार क्रम प्रारम्भ हो जाता है। अणु की अणुता विगलित होने लगती है। यही अणु के अभ्युदय का आरम्भ है।

स च एवं रूपः समस्तेभ्यः परिच्छिन्नस्वभावेभ्यः शिवान्तेभ्यः तत्त्वेभ्यो यत् उत्तीर्णम् अपरिच्छिन्नसंविन्मात्ररूपं तदेव च परमार्थः, तद् वस्तुव्यवस्थास्थानम्, तत् विश्वस्य ओजः, तेन प्राणिति विश्वम्, तदेव च अहम्, अतो विश्वोत्तीर्णो विश्वात्मा च अहम्। स च अयम् मायाधीनां न उत्पद्यते सत्तर्कादीनामभावात्।

वह [संस्कृत विकल्प] ऐसा ही [होता है]। समस्त परिच्छिन्न स्वभाव वाले धरादि सदाशिवान्त तत्त्वों से जो उत्तीर्ण, [है], [और] अपरिच्छिन्न सविन्मात्ररूप [है] वही परमार्थ है। [संवित् स्वभाव 'अहम्' रूप परमार्थ ही] वस्तुव्यवस्था का अन्तिम स्थान है। वही [भैरवीय तेज रूप संवित्] विश्व का ओज है। उसी से सारा विश्व प्राणशक्ति प्राप्त करता है। वही 'अहम्' है। अतः 'अहम्' ही विश्वो-

त्तीर्ण भी है और विश्वात्मा भी है। यह (अपरिच्छिन्न संविन्मात्ररूप 'अहं' परमार्थ तत्त्व) माया से अन्धे हुए व्यक्तियों में उत्पन्न ही नहीं होता (क्योंकि) वहाँ सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेश का नितान्त अभाव होता है।

अभ्यासातिशय के तारतम्य से वही आद्य संस्कार प्रस्फुटित होता हुआ और प्ररोह को प्राप्त करता हुआ निर्विकल्पक कक्षा को प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में पहली विकल्परूपा संवित् ही संकोचरूपी कलङ्क के निवारण के द्वारा अविकल्प संवित् रूप में स्फुरित हो जाती है। वास्तव में सदाशिवतत्त्व से विश्व का आरम्भ हो जाता है। सदाशिवादि धरान्त ३४ तत्त्वों में विश्व का भेदावभास होता है। ये सभी परिच्छिन्न स्वभावात्मिक हैं। संस्कारों की स्फुटता के द्वारा ही अणु इनसे उत्तीर्ण होता है। उत्तीर्ण होने पर ही संवित् की निर्विकल्प दशा प्राप्त होती है। यही परमार्थ 'अहं' का परिपूर्णोदय है।

वही परमार्थ है। अहं प्रत्यवमर्श (स्वात्ममात्रसंविद्रूप) समस्त वस्तुओं की व्यवस्था का स्थान है। 'संविन्निष्ठा हि विषय व्यवस्थितयः[1]' इस उक्ति के अनुसार सभी विषयों की व्यवस्थिति संवित् निष्ठ होती है। नदी के स्रोत से होकर समस्त प्रवहमान पदार्थ जैसे समुद्र में चले जाते हैं, उसी प्रकार 'अहम्' प्रत्यवमर्श रूप महासंवित्समुद्र में सभी ग्राह्य-ग्राहकात्मक नील सुखादि विकल्पात्मक परामर्श संस्कृत होकर समाविष्ट हो जाते हैं और वहीं पराविश्रान्ति प्राप्त करते हैं।

अपरिच्छिन्न संविन्मात्ररूप परमार्थ ही विश्व का ओज[2] है। अवच्छिन्न प्रकाश परमेश्वर, निजानन्द परिप्लुत परम शिव ही अपने परम प्रकाश से समस्त विश्व को विभासित करते हैं। वस्तुतः प्रकाश ही प्रकाशित होता है। यदि विश्व प्रकाशमान है, तो यह प्रकाश के अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं हो सकता। इसीलिए विश्व को चित्प्रतिबिम्ब कहते हैं। तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्वै बलवतां बलम्। तदोजश्चौजसां सर्वं शाश्वतं ह्यचलं 'ध्रुवम्' के अनुसार वही सबका ओज है।[3]

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा पृ० २८१ पंक्ति ५ कारिका २
२. तन्त्रा० आ० ३।२३०
३. पूर्णता प्रत्यभिज्ञा ६५-६८, तन्त्रालोक: आ० ३ श्लोक: २

परमेश्वर की शक्ति के वाचक भेदों के रूप में वर्णों की व्युत्पत्ति शास्त्रसम्भव है। 'स' वर्ण विसर्ग की जीवात्मक स्फुरत्ता का प्रतीक माना जाता है। 'स' ही प्राण है। यह प्राणवत्ता उसी की शक्ति है।[1] शिव शक्ति की उभयात्मकता से प्राणियों के सारे व्यापार चलते हैं—सारी चेष्टायें सम्भव हैं।

वही स्वात्ममात्र संविद्रूप परमार्थ सार 'अहम्' है। यह निर्विभाग परप्रकाश स्वभाववान् परामर्श है। अनुत्तर विसर्गात्म शिवशक्त्यद्वयात्म सामरस्यानन्द में निर्भर होने के कारण 'अहम्' की यह स्थिति विश्वोत्तीर्णता की चरम दशा मानी जाती है।[2] मातृका शक्ति के अनुसार भी अनुत्तर 'अ' कार रूप परमशिवात्म संवित्ति में 'ह' कला रूप विश्व अपने संविद् बिन्दु प्रकाश के साहचर्य से सुशोभित है। यह परविमर्शस्वभावात्म प्रकाशक शरीर 'अहम्' रूप से ही भासित है।

यही कारण है कि अहम् की सर्वातिशायिनी दशा विश्वोत्तीर्ण भी है[3] और विश्वात्मक भी है। विश्वोत्तीर्णता अकारात्मक अनुत्तरता में और विश्वात्मकता[4] 'ह' कलात्मकता में उजागर है। विकल्पों के क्षय के उपरान्त तन्मयता की अनिर्वचनीय अवस्था में मनोरूढ़ि समाप्त हो जाती है।[4] साधक आनन्द की सामरस्य दशा की चरम अनुभूति से समन्वित हो जाता है।[5] विश्वात्मकता सदाशिव के स्तर से प्रारम्भ होती है। ईश्वर, सद्विद्या, पुरुष और प्रकृति दशाओं के अनन्तर माया के आवरणात्मक स्तर पर बद्ध, अतएव प्रकाशराहित्य के कारण जड़ बने हुए मायान्ध व्यक्तियों को इस प्रकार के अभ्युदय हेतुक विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। परिच्छिन्नता और भेदवादिता का भूधर उन्हें दबाये रहता है। इसीलिए सत्तर्क की वहाँ सत्ता ही नहीं होती। सद्गुरूपदेश उन्हें भासता ही नहीं और सदागमों के स्वाध्याय का तो अवसर

१. मा० वि० तन्त्रा० अधि ३।३९-४०, तन्त्रा० ५।४३-५०
२. तं० ३।२०१-२०३
३. तं० ३।२८४, प्र० हृ० सू० ३ भाष्य पृ० ४२ पं० ४-७ तदेव विश्वोत्तीर्णं विश्वमयंचेति त्रिकादिदर्शनविदः पृ० ५६ पं० ३
४. वि० भै० ७३ ५. तं० ३।२७१

ही नहीं मिलता। इस घोर मायान्धता में पड़ा वह पशु का पशु ही बना रह जाता है।

वैष्णवाद्या हि तावन्मात्र एव आगमे रागतत्त्वेन नियमिता इति न ऊर्ध्वदर्शनेऽपि तदुन्मुखतां भजन्ते, ततः सत्तर्क-सदागम-सद्गुरूपदेशद्वेषिण एव। यथोक्तं पारमेश्वरे—

वैष्णवाद्याः समस्तास्ते विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं तत्त्वं सर्वज्ञज्ञान-वर्जिताः॥ इति[2]

तस्मात् शाम्भवदृढशक्तिपाताविद्धा एव सदागमादिक्रमेण विकल्पं संस्कृत्य परं स्वरूपं प्रविशन्ति।

वैष्णव आदि (विभिन्न मतवादों से विद्ध) अपने-अपने सीमित आगमों में रागतत्त्व से नियमित होते हैं। इसीलिए उस निम्न स्तर से ऊपर के तत्त्वदर्शन की ओर उन्मुख भी नहीं हो पाते। परिणामतः वे सत्तर्क के, सदागम के और सद्गुरूपदेश के द्वेषी हो बने रह जाते हैं।

"वैष्णव आदि सभी मतवादी विद्या कञ्चुक के राग से रंजित हैं। वे सर्वज्ञ (सर्वज्ञातृत्व सम्पन्न शिव) के ज्ञान से वंचित हैं। इसलिए परम तत्त्व को जान ही नहीं पाते।"

इस प्रकार शाम्भव[3] दृढशक्तिपात से आविद्ध साधक ही सत्तर्क सदागमादिक्रम से विकल्पों का संस्कार कर परप्रकाश स्वात्म स्वरूप में प्रवेश प्राप्त कर लेते हैं।[4]

---

१. तं० ९।२१७-२१८, मा० वि० १।२७ तं० ९ पृ० १६१-२०३

२. स्वच्छन्द तन्त्र पटले १०।११४१, नेत्रतन्त्र पटल ८।३० भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षेमोक्षलिप्सया। तं० ८।१४६

३. तं० ३।२८० मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥ २८०॥

४. तं० ३।२८८

संसार हेतु विकल्पों का उन्मूलन कर जब साधक प्रतिद्वन्द्वी अर्थात् संसार प्रतिबन्धक विकल्पों का संस्कार करता हुआ विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता की महानुभूति की परमार्थता का परामर्श कर लेता है, तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जो साधक माया के तैमिरिक आवरण से समावृत है, उसे उस अहं प्रत्यवमर्श के अपरिच्छिन्न संविन्मात्र परमार्थ का बोध सम्भव नहीं है।

दार्शनिक क्षेत्र में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, तात्त्विक दृष्टि से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि, वे सभी मायान्ध मुग्ध-मतवादहैं। उनसे मोक्ष का वास्तविक परिज्ञान नहीं होता। मोक्ष तो 'सर्व' के प्रकाश को कहते हैं। सृष्टि के आदि और अन्त को वास्तविकता से परिचित और अणुत्व से उन्मुक्त होकर अहम् की महानुभूति से भावित साधक ही जीवन्मुक्त होता है।[1] इसके विपरीत अज्ञान बन्धन में बँधा पशु न मोक्ष को जान पाता है, न मुक्त हो पाता है और न किसी को भवबन्धन विमुक्त ही कर सकता है।

वैष्णव आदि मतवादी इसी कोटि में आते हैं। वेदवादी, सांख्यानुयायी, पौराणिक, पाञ्चरात्र-परायण अथवा शास्त्रान्तर-रहस्यमन्थन-श्रम-श्रान्त बौद्ध, जैन आदि सभी, जिसको मोक्ष कहते हैं—वह वस्तुतः उनका अज्ञान ही है। वे मोक्ष ज्ञान से नितान्त-दूर हैं। ये सभी अशुद्ध अध्वा के पथिक हैं। विद्या और राग के कंचुकों से कंचुकित हैं। इसी कारण माया के पाश से आबद्ध हैं। माया से उत्तीर्ण आत्मज्ञान (शैव ज्ञान) से वे वंचित रह जाते हैं।[2]

'परप्रकृतिसायुज्यं मोक्षः' वैष्णवों का सिद्धान्त वाक्य है। उनके मतानुसार महाविभूति भगवान् वासुदेव ही चेतन और अचेतन सबके विधाता हैं, वे ही पर प्रकृति रूप हैं। वे विश्वरूप से अनेकात्म हैं। 'एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म' के अनुसार एक हैं। इस तत्त्वज्ञान के अभ्यास से परिपूत संविद्रूप एकमात्र तत्त्व वही हैं। अनैक्य एक अपारमार्थिकदशा है। इस अनुभव के कारण विकार ग्रन्थियों की समाप्ति हो जाती है तथा ऐकात्म्य का अवगम हो जाता है। यही मोक्ष है। श्रुति वाक्य है—"पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपा-

---

१. तं० ६।५८-५९ २. तं० ४।२६-२७

दस्यामृतं दिवि" । वस्तुतः यह उक्त अवगम शैवदर्शन के सवेद्यप्रलयाकल दशा की ही अनुभूति मात्र है। इस दशा में स्वात्म परामर्श होता है। यह कथमपि मोक्ष नहीं है। इसमें संसार का प्रक्षय नहीं होता। इसके ऊपर विज्ञानाकल, मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्र महेश्वर और शिव प्रमाता की महादशायें हैं। यह स्पष्ट है कि, प्रकृति-पुरुष के मतवादों से ग्रस्त लोग माया के क्षेत्र में ही विक्षिप्त से विभ्रान्त रहते हैं[1]। इन लोगों को मित-दृष्टि कहते हैं। ये परमेश्वर की अंशांशिका कलाओं में ही उसी की इच्छा से अभिमान ग्रस्त रह कर मोक्ष से वंचित रह जाते हैं।[2]

इस प्रकार अपने परिसीमित मतवाद में अन्ध बुद्धि से ग्रस्त ये लोग रागतत्त्व से नियमित और आसक्त हो जाते हैं। जैसे हेय-उपादेय विज्ञान को न जानने वाले लोग दुर्गतजनोपभोग्य भोग में अनुरक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी रागानुरक्त[3] होकर वास्तविक मोक्ष से वंचित हो जाते हैं।

यही दशा ब्रह्मवादियों, विज्ञानवादियों वैभाषिकादिकों की होती है। ये लोग भी निम्नस्तरीय संस्कृत विकल्पों को ही मोक्ष मानकर अवास्तव जगत् में विचरण करते हैं। माया इन्हें अमोक्ष में भी मोक्ष की लिप्सा से भ्रान्त ही करती रहती है।

यही कारण है कि ये लोग अपने से उन्नत स्तर की वैचारिक भूमिका में प्रवेश ही नहीं कर पाते! हमसे भी ऊँचा कोई अन्य दर्शन है, इस ओर सोच भी नहीं पाते। सचमुच ये सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेश के द्वेषी होते हैं।

शास्त्रान्तरों में जिसे तर्क कहते हैं, वह वस्तुतः असत्तर्क है। वस्तु[4] निर्णय शून्य छलादिप्रधान परपराजय मात्र में पर्यवसित जल्पप्राय जो तर्क है, वह हेय है। हेतुवादी तार्किक नैयायिक इसी को स्वीकार करते हैं। सत्तर्क इसके विपरीत वस्तु निर्णय फलक, छलादि शून्य प्राय होता है। वह दुर्भेद पादप का उन्मूलन करता है।[5] जय पराजय की हीन

१. तं० ४।२६-३३
२. प्र० ह० सू० पृ० ५६ पं० ६-८
३. तं० ४।१८-२१
४. तं० ४ पृ० २० पं० ८-९
५. तं० ४।२-७

भावना इसमें नहीं होती। स्वात्मपरामर्श द्वारा हेय और उपादेय का ज्ञान सत्तर्क द्वारा हो जाता है। इसी आधार पर साधक सत्य शैवागम की भूमिका को स्वीकार कर सद्गुरूपदेश के द्वारा उन्नति करते हुए परमाहेश्वरत्व की उपलब्धि कर लेते हैं। परमेश्वर शास्त्र में यही तथ्य इस रूप से उद्घाटित किया गया है :—वैष्णवादि सभी मतवादी विद्याराग से रंजित होते हैं। वे सर्वज्ञ परमेश्वर के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं क्योंकि पारमार्थिक तथ्य को जान ही नहीं पाते।

इसलिये शांभव दृढशक्तिपात से आविद्ध साधक सदागम, सद्गुरूपदेशके क्रम से विकल्पों का संस्कार कर लेते हैं। एक विकल्प संस्कृत होकर अपने सदृश ही दूसरे संस्कार संपन्न विकल्प को, वह दूसरे को, वह तीसरे को उत्पन्न करने लगता है। पहले अस्फुट अवस्था का ज्ञान होता है और होते होते परम स्फुट प्रकाश विमर्श को पार कर प्रकाश रूपता को प्राप्त कर लेता है।[1] शक्तिपात का पात्र अणु होता है। स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न शिव ही शक्ति के पातयिता हैं। परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित मंत्र आदि स्वरूपता, माया-पुरुष, पुरुषप्रकृति विवेक, पुरुषबुद्धिविवेक रूपी फल शक्तिपात से तत्काल प्राप्त हो जाता है। यह सापेक्ष-निरपेक्ष शक्तिपात तीव्र, मध्य, मन्द भेद के उत्कर्ष, माध्यस्थ, निकर्ष से त्रिगुणित होनेपर नव प्रकार का है। जब तीव्र शक्तिपात के द्वारा पूर्णज्ञान प्राप्त होने लगता है, तब पुनः शिवरूपता में प्रवेश निश्चित हो जाता है।

ननु इत्थं परं तत्त्वं विकल्प्यरूपं स्यात् ? मैवम्—विकल्पस्य द्वैताधिवासभङ्गमात्रे चरितार्थत्वात्, परं तत्त्वं तु सर्वत्र सर्वरूपतया स्वप्रकाशमेव इति न तत्र विकल्पः कस्यैचित् उपक्रियायै खण्डनायै वा। तत्र अतिदृढशक्तिपाताविद्धस्य स्वयमेव सांसिद्धिकतया सत्तर्क उदेति, योऽसौ देवीभिः दीक्षित इति उच्यते। अन्यस्य आगमक्रमेण इत्यादि सविस्तरं शक्तिपात प्रकाशने वक्ष्यामः।

१. तं० ४।१-१६

क्या इस तरह पर तत्त्व की विकल्पसाध्य रूपता सिद्ध हुई ? नहीं। क्योंकि विकल्प तो द्वैत भाव की स्थिति को भङ्ग कर चरितार्थ हो जाता है। परतत्त्व तो सर्वत्र सर्वरूप से स्वातन्त्र्यपूर्वक प्रकाशमान प्रकाश ही है। वहाँ विकल्प की सत्ता नहीं होती, जिससे किसी भावना का समर्थन हो या किसी का खण्डन हो। जिस साधक में तीव्रतम शक्तिपात का समावेश होता है, उसमें सांसिद्धिक रूप से सत्तर्क समुदित होता है।[1] ऐसा साधक (अपनी संवित्ति रूपी) देवियों से ही दीक्षित होता हैं। जो दृढ़ शक्तिपात से आविद्ध नहीं हैं—उनका आगमक्रम से आगे शक्तिपात प्रकाश प्रकरण में वर्णन होगा।

विकल्प के विषय में इस प्रकार से गहराई और गम्भीरतापूर्वक विचार करने की अवस्था में एक शङ्का उठ खड़ी होती है। शङ्का का उठना स्वाभाविक है और अज्ञता-द्योतक है। श्रद्धापूर्वक की गयी शङ्का जिज्ञासा होती है। यहाँ पूर्वपक्ष का प्रस्तुतीकरण शङ्का के माध्यम से कर रहे हैं। यदि कोई विचारक विचार के क्रम में इस भ्रान्ति से भावित हो जाये कि, क्या विकल्पों के क्रम से प्राप्त होने वाला परमतत्त्व विकल्प ही है ? विकल्प से ही उत्पन्न है ? कार्यकारणवाद के अनुसार परतत्त्व भी यदि क्रिया विकल्प रूप ही हुआ, तब तो अच्छा यह अनुपायविज्ञानात्मक परममाहेश्वरत्वका शास्त्रार्थ हुआ ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। देखना यह है कि, विकल्प की चरितार्थता कहाँ तक है ? जिस अवस्था में द्वैत का उदय होता है, विभागावभास का उपक्रम होता है, वहाँ से लेकर पूर्ण प्रतिबद्धता की अधोगर्तितक विकल्प का साम्राज्य फैला हुआ है। उसकी अनुभूति के [द्वैतसत्ता में अवस्थिति के बोध के] ध्वंस में ही विकल्प बोध समाप्त हो जाता है। द्वैत सत्ता की समाप्ति में ही विकल्प चरितार्थ है। उसी क्षण संकोच की कला का अपहस्तन हो जाता है। विकल्प रूपा संवित् शुद्ध अविकल्प स्वरूपता को प्राप्त कर लेती है। शाम्भवआवेशवशीकृत साधक संविदात्मक परभैरवीय तेज का साक्षात्कार कर लेता है।[2]

परम तत्त्व की सर्वातिशायिनी अवस्था में विकल्प की सत्ता ही नहीं रहती। वहाँ तो स्वात्मप्रकाश की निर्विकल्प संविदात्मक महा भासमानता ही व्याप्त रहती है। स्व और सर्व का भेद ध्वस्त हो जाता है।

१. त० ४।४९-४३ २. तदेव ४।६-७

इसीलिए सर्वरूपता के अक्षुण्ण रहते हुए भी वह परमतत्त्व परामृश्यमान होता है।

उस अवस्था में विकल्प किसी के समर्थन या खण्डन के लिए नहीं रह जाता। वस्तुतः विकल्परूपा संविद् ही प्रतिद्वन्द्वी विकल्पों के उदित होने से संस्कार सम्पन्न होती है। फिर वही अविकल्प संविद् रूप में परिस्फुरित हो जाती है। न वहाँ किसी के समर्थन की और न खण्डन की स्थिति रहती है। वहाँ सारी अस्फुटता स्फुटता में बदल जाती है। वही पराकाष्ठा होती है। उस दशा में साधक दृढ़ शक्तिपात आविद्ध होता है। उस समय अपने आप सत्तर्क का उदय होता है। यह तर्क स्वप्रत्ययात्मक होता है। स्वतः प्रवृत्त होता है। स्वतः संसिद्ध होता है। स्वतः उत्पन्न होता है। गुरु और शास्त्र की अपेक्षा के विना ही स्वयं इसका उद्भव होता है। इसलिए यह सांसिद्धिक होता है।[1] उस परम ज्ञान को जानने के तीन ही प्रकार हैं—या तो वह १. गुरु से या २. शास्त्र से या ३. स्वयं जाना जाय। विकल्पों के क्षय के बाद चिरन्तन के चिन्तन के क्षणों में शक्तिपात स्वतः सम्भव है। गुरु से शास्त्रों का ज्ञान और शास्त्रों के ज्ञान से स्वात्मपरामर्श ! गुरु शास्त्र ज्ञान में उपाय है। शास्त्रज्ञान सत्तर्कोदय में उपाय बनता है। वास्तव में स्वपरामर्श की प्रधानता ही साधक को सर्वत्र अधिकारवान् बनाती है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, विना दीक्षा के कोई परम ज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता। कहा भी गया है—"न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शांकरे"। इसका समाधान यही है कि, ऐसा साधक अपनी संवित्तिरूपी देवियों से दीक्षित होता है। संवित्तिरूपी देवियों से तात्पर्य ज्ञानेन्द्रियों से है। वर्ण, पद और मन्त्र की बहिर्मुखता में जो वृत्तियाँ होती हैं, अन्तर्मुख अवस्था में वे शक्तियाँ कहलाती हैं। उन्हीं इन्द्रिय वृत्तियों के द्वारा ज्ञान और क्रिया का उत्तेजन होता है। इन्द्रिय वृत्तियाँ शक्ति रूपा ही हैं। मन्त्र ही इन दोनों का प्रमाता होता है। शक्तिरूपा इन्द्रिय वृत्तियों के द्वारा साधक दीक्षित होता है अर्थात् स्वातन्त्र्य को प्राप्त कर लेता है।

यही कारण है कि, शक्तिपात से अनुगृहीत साधक गुरु आदि को

१. तं० ४।४०-४१

अपेक्षा के विना ही बाह्य दीक्षा के उपकरणों, सज्जा सामग्रियों, याग आदि साधनों के न रहने पर भी, तिल घी आदि की आहुतियों से रहित, असंदिग्ध निर्वाण गामिनी मोक्षदायिनी दीक्षा को प्राप्त कर लेते हैं। अपनी संवित्ति की उक्त देवियों से ही उनके पाश ध्वस्त हो जाते हैं। स्वात्म ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता वे पा लेते हैं। इसलिए व्युत्थान दशा में भी परमेश्वर से ऐकात्म्य का अनुभव उन्हें हो जाता है। वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं।[१]

इसके अतिरिक्त जो गुरु के परम अनुग्रह से या शास्त्राभ्यास-जन्य ज्ञान से परतत्त्वानुसंधानपूर्वक परमतत्त्व का अधिगम कर लेते हैं, शक्तिपात प्रकाशन प्रकरण में उनका विशद विश्लेषण करने की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार करते हैं।

किन्तु गुरोरागमनिरूपणे व्यापारः; आगमस्य च निःशङ्क-सजातीयतत्प्रबन्धप्रसवनिबन्धनसमुचितविकल्पोदये व्यापारः। तथाविधविकल्पप्रबन्ध एव सत्तर्क इति उक्तः, स एव च भावना भण्यते- अस्फुटत्वात भूतमपि अर्थम् अभूतमिव स्फुटत्वापादनेन भाव्यते यया इति।

गुरु का व्यापार आगम के निरूपण तक सीमित है। निश्चित सजातीय आगम प्रबन्धों के प्रादुर्भाव के निबन्धन से संस्कृत विकल्पों के उदय में भी आगम का व्यापार है। ऐसे संस्कृत विकल्पों का प्रादुर्भाव ही सत्तर्क है। सत्तर्क को ही भावना कहते हैं। अस्फुटता के कारण भूत अर्थ को भी अभूत की तरह स्फुटत्व से युक्त और भावित करती है। अर्थ का भावन भी [उसी के द्वारा] होता है। अतः वह भावना भी कही जाती है।

गुरु कई प्रकार के होते हैं। अकल्पित, कल्पित, कल्पिताकल्पित, सांसिद्धिक, अकल्पित कल्पक और आचार्य गुरु हैं।[२] इनमें कोई भी गुरु हों, सभी शास्त्र के अधिगम के ही कारण हैं।

गुरुमुख से विद्या का अध्ययन श्रवण करने वाला साधक अधीत

१. तं० आ० ४।४९-५० २. ४।५०, ५४, ५९ ६३, ७०, ७३

विषय का मनन चिन्तन करता है। मन्त्रों के तत्त्व का उसे साक्षात्कार हो जाता है। विपरीत इसके जो स्वतः शास्त्र का अभ्यास करते हैं, बौद्ध और पौंस्न दो प्रकार के अज्ञान से विमुग्ध रह जाते हैं। पुस्तकाधीत मन्त्र वस्तुतः निर्वीर्य होते हैं।[१] उनका मौलिक तत्त्वज्ञान उन्हें नहीं होता, शास्त्रों के प्रति उनकी आस्था ही शिथिल हो जाती है। परिणामतः दूसरों के मानस पटल पर भी वे कोई अनुकूल प्रभाव या संस्कार नहीं छोड़ पाते।

जिस साधक को शास्त्र का अध्ययन करने के उपरान्त भी तत्त्वज्ञान नहीं होता, सत्तर्करूपी सद्विद्या का प्रादुर्भाव उनके मस्तिष्क और हृदय में नहीं होता। वह गुरुजनों की शुश्रूषा के माध्यम से शास्त्रीयतत्त्वों का अनुसन्धान कर सिद्धि लाभ कर सकता है। इस विकास का क्रम भी गुरुमुख से ही साधक को प्राप्त हो जाता है। पहले गुरु की आराधना, फिर शुश्रूषा और सेवा अपेक्षित होती है। कोई गुरु धन से और कोई प्रतिविद्या के अध्यापन से भी आराधित होता है। गुरु भक्ति से दीक्षा में सारल्य तथा सौविध्य हो जाता है। दीक्षा अनिवार्य मानी गयी है। अदीक्षित से शिव-संहिता के कथन का ही निषेध है। गुरु कृपा प्राप्त पुरुष समस्त जागतिक पाशों को उच्छिन्न कर देता है, कुसंस्कारों के विनिवर्त्तन में दक्ष हो जाता है। इसलिए शास्त्र के अधिगम में गुरु प्रधान कारण स्वतः सिद्ध है।

जहाँ तक आगम का प्रश्न है—उसका व्यापार संस्कृत विकल्पों के उदय में है। साधक शास्त्रों का मनन चिन्तन करता है। उसे उस समय गुरु आदि की अपेक्षा के विना ही परशक्तिपात से अनुगृहीत होने के कारण शङ्का रहित असंदिग्ध निर्वाण-दायिनी दीक्षा प्राप्त हो जाती है। वह जीवित ही मोक्ष लक्षण सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। वह स्वयं अपनी संवित्तिमयी देवियों से दीक्षित होता है। उसके विकल्पों का प्रसव रुक जाता है और संस्कृत विकल्पों के उदय क्रम से निर्विकल्प दशा का अधिकारी हो जाता है।

निर्विकल्प दशा में पहुँचने के क्रम में सत्तर्क का बहुत बड़ा हाथ है। समस्त शास्त्रार्थों का अवगम सत्तर्क के द्वारा ही होता है।[२] जहाँ

१. त० ४ पृ० [illegible] पं० १२-१३ २. तं० ४।४४-४५

समुचित विकल्पोदय हुआ, वहीं सद्विद्या का स्वरूप व्यक्त हो जाता है। शुद्ध विद्या के उल्लास के कारण बिना गुरु और शास्त्र की अपेक्षा किये ही उसे प्रातिभ ज्ञान हो जाता है। सत्तर्क शुद्ध विद्या का ही अमृत परिणाम है। सत्तर्क को ही भावना कहते हैं। अस्फुट दशा में भूत कर्म भी अभूत की तरह (सदाशिव दशा में) भासित रहता है। ईश्वर दशा में इदमंश स्फुट होता है। सत्तर्क से साफ हो जाता है कि, जिसे हम 'वेद्य' 'मेय' 'दृश्य' 'कार्य' अर्थ के रूप में देख रहे हैं—होते हुए भी वह नहीं भी है। यह अभूत की तरह की स्फुटता है। सदाशिवत्व की भावना के बल से सम्भूत अर्थ भी असम्भूत अर्थ की तरह अनुभूत होता है। यह भावना का ही चमत्कार है।

वास्तव में भावना या सत्तर्क का स्तर साधना के क्रम में महत्त्वपूर्ण है। जिस समय साधक अनुत्तरोपाय दशा में प्रवेश के लिए प्राण और अपान के क्रम में उदान वह्नि में प्रवेश कर लेता है और उसके बाद निरुपाधि महाव्याप्ति रूप व्यान दशा में अधिष्ठित हो जाता है, वहाँ पृथिवी से कलापर्यन्त तत्त्वों में व्याप्त रहते हुए भी, सर्वमय होते हुए भी सर्वोत्तीर्ण बन जाता है अर्थात् उपाधिवर्जित दशा को प्राप्त कर लेता है। उस चिदानन्द संवित्ति में, उस अमृततत्त्व के परिबृंहण में भावना की साक्षात् उपायता समाप्त हो जाती है।[१] भावना का अर्थ अभ्यास भी है।[२] अभ्यास के क्रम में ही भावना उपाय बनती है। वह ज्ञान भी भावनामय कहलाता है, जिसके द्वारा योग का सम्पादन कर योगी योग का फल प्राप्त करता है।[३] यही भावना का क्रम है।

न च अत्र सत्तर्कात् शुद्धविद्याप्रकाशरूपात् ऋते अन्यत् योगाङ्गम् साक्षात् उपायः, तपः प्रभृतेः नियमवर्गस्य, अहिंसादेः यमप्रकारस्य, पूरकादेः प्राणायामवर्गस्य वेद्यमात्रनिष्ठत्वेन क इव संविदि व्यापारः ? प्रत्याहारोऽपि कारणभूमिमेव सातिशयां कुर्यात्, ध्यानधारणासमाधयोऽपि यथोत्तरम् अभ्यासक्रमेण निर्वर्त्यमाना ध्येयवस्तुतादात्म्यं ध्यातुः वितरेयुः। अभ्यासश्च

१. तं० आ० ५।८०-५१, तं० २।१३   २. तं० आ० ५१-१००
३. मा. वि. तन्त्र० ४।३१-३२

परे तत्त्वे शिवात्मनि स्वस्वभावे न संभवत्येव। संविद्रूढस्य प्राणबुद्धिदेहनिष्ठीकरणरूपो हि अभ्यासः, भारोद्वहन-शास्त्रार्थ-बोधनृत्ताभ्यासवत्, संविद्रूपे तु न किंचित् आदातव्यं न अपसरणीयम् इति कथम् अभ्यासः ? किं तर्केणापि इति चेत्, उक्तमत्र द्वैताधिवासनिरासप्रकार एव अयं न तु अन्यत् किंचिदिति।

साधना के इस क्रम में शुद्धविद्याप्रकाश रूपी सत्तर्क के बिना कोई दूसरा योगाङ्ग[१] साक्षात् उपाय नहीं है।[२] तप इत्यादि नियमवर्ग, अहिंसादि यम[३] और पूरक आदि प्राणायाम के वेद्यमात्र निष्ठ होने के कारण संविद् में इनका व्यापार हो क्या है ? प्रत्याहार कारण भूमि को ही सातिशय करता है। ध्यान, धारणा और समाधि नामक योगाङ्ग भी उत्तरोत्तर अभ्यास क्रम से हो ध्याता को ध्येय वस्तु से तादात्म्य वितरित करते हैं। अभ्यास भी स्वस्वभाव शिवात्म परतत्त्व में सम्भव नहीं है। संविद्रूढ साधक को प्राणबुद्धिदेह निष्ठ करना ही[४] अभ्यास है। बोझ उठाने, शास्त्रार्थ बोध और नृत्त आदि के अभ्यास की तरह (यह है)। संवित् दशा में हेयोपादेय की झंझट नहीं होती। तो वहाँ अभ्यास से क्या ? वहाँ तर्क से भी क्या लाभ ? यह कथित है कि द्वैताधिवास प्रकार के अतिरिक्त अभ्यास दूसरा कुछ नहीं हो सकता।

सत्तर्क शुद्धविद्या का प्रकाश ही है। गुरु आदि की अपेक्षा के बिना ही इसके द्वारा सत्य का स्वरूप व्यक्त हो जाता है। शुद्ध विद्या के आलोक से साधक का मस्तिष्क आलोकित हो उठता है। उसमें ऐसी शक्ति का अवतरण होता है, जिससे वह समस्त शास्त्रों के रहस्य का उद्घाटन करने लग जाता है, सभी शास्त्रीय तत्त्वों और तथ्यों का वेत्ता बन जाता है। सत्तर्क के उदय का ही यह महाप्रभाव है कि, वह सत्तर्क संवलित साधक सर्वत्र समान रूप से अधिकारी बन जाता है। सत्तर्क का उदय यह सिद्ध

१. प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, तर्क और समाधि   २. तं० ४।८६
३. अहिंसा सत्य:स्तेय ब्रह्मचर्य परिग्रहाः
४. तं० ४।९६-९८ पृ० १०३-१०६

कर देता है कि, यहाँ शुद्ध विद्या का प्रकाश हो गया है।[१] सत्तर्क माहेश्वर-तत्त्वज्ञान में साक्षात् उपाय है। इसके अतिरिक्त कोई भी योग का अंग साक्षात् उपाय नहीं माना जाता क्योंकि उनमें उपाय बनने की क्षमता ही नहीं है। शुद्धविद्या का पारमेश्वर समुल्लास आकस्मिक रूप से ही हेतु बन जाता है। जितने भी लोकसिद्ध हेतु हैं, वे सभी सामान्य कारण हैं। उनसे निष्पन्न कार्य भी सीमित, सामान्य और अनित्य हो सकते हैं किन्तु समस्त शास्त्रों के अर्थतत्त्व का प्रकाश सत्तर्क के कारण ही अकस्मात् सम्भव है। साक्षात् उपाय होने का तात्पर्य है कि, जैसे गुरु के उपदेश के श्रवण से ज्ञान होता है। ज्ञान में गुरु का उपदेश कारण बनता है किन्तु इस प्रकार के ज्ञान में भी मनन, चिन्तन और अभ्यास की अपेक्षा होती है। इसलिये गुरूपदेश को साक्षात् कारण नहीं कह सकते। इसी तरह ध्यान, योग, जप, मन्त्राराधन, व्रत, हवन, धर्मोपदेशश्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, अर्पण, वन्दन, देवदर्शन आदि भी लोक कल्मष को सद्यःध्वस्त करके परप्रवाह में अधिरोहणपूर्वक संशय-विपर्यास रहित आत्मज्ञान करा देने में साक्षात् कारण नहीं बन सकते। हाँ, यह निर्विवाद तथ्य है कि, सदागमों के स्वाध्याय से जिन्हें सत्तर्क नहीं उत्पन्न होता, उन्हें गुरुचरणारविन्द समाश्रित होना अनिवार्य है। गुरुशुश्रूषाके द्वारा वृद्धव्यवहाराधिगत परम्पराप्राप्त ज्ञान का वह साधकजिज्ञासु क्रमिक अधिकारी बन सकता है। पर इसे भी साक्षात् उपाय नहीं कह सकते। सत्तर्क ही वास्तविक योगाङ्ग है क्योंकि यही यथातथ रूप से संविद् के संन्निकर्ष का कारण है। यह शुद्ध विद्यात्मक परामर्श का पाटवातिशय उत्पन्न करता है। परिणामतः साधना के अन्त में योगी परा संवित् का साक्षात्कार कर सकता है। परा संवित् का साक्षात्कार ही महत्त्वपूर्ण माहेश्वर स्थिति है। सत्तर्क के द्वारा यह सुगमतया साध्य है। अन्य सभी योग के शास्त्रान्तर-व्याख्यात अंग साक्षात् उपाय नहीं कहे जा सकते।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन अष्टाङ्ग योग के अंगों में नियमों का मौलिक महत्त्व है। नियम ५ हैं—स्वाध्याय, शौच, संतोष, तप और ईश्वर प्रणिधान[२]। यम भी ५ ही हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[३]। ये साधना-

१. तं० आ० ४।४२-४५ पा० यो० २।२९
३ पा० यो० सू० २।३०, वि० पु० ६।७।३७

पथ के प्रारम्भिक उपक्रम मात्र हैं। साधक इनसे अपने दैनन्दिन व्यवहार को नियत एवं नियमित बनाता है। ये सकाम और निष्काम दो प्रकार से आचरणीय हैं। सकामकर्म के रूप में ये विशेष फल प्रदान करते हैं तथा निष्कामभाव से करने पर विमुक्ति प्रदान करते हैं।[१] विष्णुपुराण के अनुसार यद्यपि इन्हें निष्कामभाव से आचरित करने पर विमुक्ति प्रद माना गया है किन्तु ये दोनों यम और नियम वस्तुतः मुक्ति में साक्षात् उपाय नहीं हो सकते। इनमें एक क्रमिकता है, व्यवहार की एक परम्परा है। ये परस्पर उपाय हो सकते हैं। सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ने की तरह ऊपर उठाने उठने में साधन हो सकते हैं। साक्षात् हेतुमत्ता इनमें नहीं हो सकती। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथमतः संवित्ति में दीप्तिमन्त शुद्ध विद्या का परप्रकाश इनके द्वारा कथमपि सम्भव नहीं है। द्वितीयतः ये दोनों बाह्याचार की विडम्बना मात्र हैं। यदि स्वतः शक्तिपातविद्ध साधक को परम माहेश्वर्य अवस्था की उपलब्धि हो जाती है, तो उस अवस्था में ये निरर्थक ही हैं। उस समय तो प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी प्रकार से इनकी उपायता का प्रश्न ही नहीं उठता।

आसन का तो परतत्त्व प्रकाश क्रम में नाम भी नहीं लिया जा सकता। पतञ्जलि के अनुसार सुखद भाव से स्थिरतापूर्वक बैठने के ढङ्ग को आसन कहते हैं।[२] इनमें पद्म, भद्र, वीर, स्वस्तिक, दण्डक, सोपाश्रय पर्यंक, क्रौंच निषदन, उष्ट्रनिषदन और सम के दश आसन याज्ञवल्क्य ने मुख्यरूप वर्णित किये हैं।[३] आसनों की स्थिरता सिद्ध हो जाने पर प्राणायाम प्रतिष्ठित होता है। प्राणायाम के द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक क्रम से श्वास और प्रश्वासों के गतिशील क्रम को अवरुद्ध कर देते हैं। बाह्यान्तर वायु का संचरणाभाव ही प्राणायाम है।[४] दिन और रात मिलाकर २१६०० बार श्वास प्रश्वास होते हैं। आयुष्य की गणना इन्हीं के क्रम से की जाती है। इनको जीत लेने से आयुष्य पर भी आंशिक विजय मिल सकती है। इस विश्लेषण से ही यह सिद्ध हो जाता है कि, यह सभी कुछ बाह्य व्यापार का विजृम्भण मात्र है। कहाँ वेद्यमात्र निष्ठ संविद् का शुद्धविद्यात्मक परप्रकाश और कहाँ यह बाह्य शारीरिक व्यापार!

१. वि० पु० ६।७।३८ २. पा० यो० सू० २।३० वि० पु० ६।७।३६
३. पा० यो० २।४६ ४. सर्वदर्शन संग्रह, पा० दर्शन पृ० ७२१ पं० ६

इस प्रकार यम, नियम, आसन और प्राणायाम संविद् प्रकाश की उपलब्धि में साक्षात् उपाय नहीं हो सकते।

जहाँ तक प्रत्याहार की बात है—यह विचारणीय है कि, प्रत्याहार तो अन्तःप्ररूढ वृत्ति है। इन्द्रियों का विषय-ग्रहण रूप इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष-व्यापार से उपरामकर चित्तस्वरूपानुकारदशा को प्राप्त कर लेना ही प्रत्याहार होता है।[१] इससे यह स्पष्ट हुआ कि, इन्द्रियों का वशीकरण कर चित्त का अनुकारी बनाना ही प्रत्याहार का व्यापार है। देखना यह है कि, अपने स्वातन्त्र्य के कारण परा संविद् ने संकोच ग्रहण किया है और देशकाल वस्तु से अवच्छिन्न होकर बन्ध दशा को प्राप्त है। प्रत्याहार द्वारा मात्र यही सम्भव है कि, इन्द्रियों का विषयों से हटाकर चित्त में उपोद्वलन हो। भला संविद् के साक्षात्कार में जो सर्वव्यापक तत्त्व है, उसका चित्त में एकाकार करने से प्रत्याहार की उपायता कैसे सिद्ध हो सकती है ?[२]

हाँ इतना स्पष्ट है कि प्रत्याहार करण भूमि को ही सातिशय करता है। कार्यत्वातिरिक्त घटत्वादि रूप धर्म से अवच्छिन्न घट रूपी कार्य से निरूपित कारणता दण्ड में होती है। यही असाधारण कारणता कहलाती है। और असाधारण कारण को ही करण कहते हैं।[३] प्रस्तुत प्रसङ्ग में इन्द्रियार्थों से हटाकर चित्त में अवस्थापन का व्यापार एकाग्रतारूपी शान्ति कार्य का असाधारण कारण बन सकता है, संविद् के साक्षात्कार में नहीं।

शुभाश्रय में चित्त के स्थापन को धारणा कहते हैं।[४] इसके द्वारा चित्त को एक स्थान पर दृढ़ता से धारण किया जाता है।[५] इस व्यापार से चित्त का स्थिरीकरण होता है। ध्यान में स्थिरीकृत चित्त को ध्येय के अवलम्ब रूप प्रत्यय में [विसदृश ज्ञान के त्यागपूर्वक] प्रवाहित किया जाता है। धारणा में प्रत्यय की एकतानता को ही ध्यान कहते हैं।[६] विचारणीय विषय यह है कि, ध्यान में भी सजातीय ज्ञानों का प्रवाह तो अवश्य पुलकित होता है किन्तु अन्य असदृश ज्ञानों का (त्याग) भी वहाँ होता है।

१. पा० यो० २।४६ २. पा० यो० २।५४
३. असाधारणं कारणं करणम् (अन्नंभट्ट-तर्कसंग्रहः)
४. वि० पु० ६।७।४५ ५. पा० यो० ३।१ ६. पा० यो० ३।२

सजातीय विजातीय ज्ञानों का चक्कर यहाँ लगा ही हुआ है। स्पष्ट है कि, अभी यह विकल्प की वह दशा प्रतीत होती है, जहाँ एक का संस्कार हो चुका है और दूसरा विजातीय विकल्प चरितार्थ हो रहा है। विकल्पों के संस्कार की यह अवस्था भी सीमित एवम् एकाङ्गी है। इसीलिये व्यापिका परा संविद् के साक्षात्कार में यह प्रत्यक्ष हेतु नहीं हो सकता।

अन्तिम योगाङ्ग समाधि है। यह दो प्रकार की होती है। १–संप्रज्ञात और २–असंप्रज्ञात। जब चित्त की एकाग्रता में बाह्य विषयों का निरोध होता है, तो संप्रज्ञात समाधि होती है। इसमें ध्येय वस्तु प्रकृति से पृथक् प्रज्ञात होता है। किन्तु जब समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब असंप्रज्ञात समाधि होती है। समाधि की उपलब्धि क्रियायोग[१] से होती है। तप, स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान ही क्रियायोग के विषय हैं। इनसे अभ्यास और वैराग्य होता है। व्यक्ति सर्वसंकल्प सन्यासी बन जाता है।[२] अर्थात् इस दशा में ज्ञान और ज्ञेय की द्वैतबुद्धि नहीं रहती। केवल ज्ञेय मात्र का ही प्रतिभासन होता है। ध्याता ध्येयवस्तु से तादात्म्य स्थापित करता है। यहाँ ध्यान, धारणा और समाधि में एक क्रमिकता है। यथोत्तर विकास है और उसका फल ध्येयवस्तु की एकतानता मात्र है। सामान्य चेतना की स्थिति में आने पर अभ्यास के बल पर ही साधक ध्येय तादात्म्य का सुखद परिणाम प्राप्त करता है। यह तादात्म्य की स्थिति भी निमीलन समाधि दशा के अभी बहुत नीचे है। निमीलन समाधि में वेद्य रह ही नहीं जाता है। दूसरी बात विचारणीय यह है कि, परतत्त्व स्वस्वभावात्मक है। इस शिवात्मक परतत्त्व में अभ्यास चल ही नहीं सकता। यहाँ समावेश चलता है। स्वातंत्र्य रहित परिमित प्रमाता द्वारा अपने संकुचित रूप का हान कर स्वतंत्र चैतन्य में स्व का आत्मसात्करण ही समावेश है। देहादि में प्रमातृत्व के अभिमान को दूर करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है।[३] यदि अभ्यास करने पर भी योगफल रूप परमतत्त्व की अप्राप्ति हो, तो ऐसा अभ्यास व्यर्थ माना जाता है। परतत्त्व की उपलब्धि हो जाने पर भी योगाभ्यास व्यर्थ है। इसलिये पर तत्त्व की प्राप्ति में अभ्यास साक्षात् उपाय नहीं माना जाता है। अभ्यास या हठ बोधैकरूपता की प्राप्ति में उपाय रूप से अवश्य परिगृहीत है। बोध की अग्नि में सृष्टि

१. पा० यो० २।१ २. श्रो० गी० ६।४ ३. प्र० हृ० १५

आदिभाव हठपूर्वक ही समर्पित किये जाते हैं, तब कहीं ज्ञानाग्नि उद्दीप्त होता है। भेद का विलापन हो जाने के कारण परप्रकाश रूप परतत्त्व स्फुरित हो जाता है।[1]

योगदर्शन के अनुसार योगी चार प्रकार के माने हैं। १. प्राथमकल्पिक २. मधुभूमिक, ३. प्रज्ञाज्योति और ४. अतिक्रान्त भावनीय। इन चारों का स्तर अभ्यास से बढ़ता है। प्राथमकल्पिक योगी शुद्ध रूप से अभ्यास में लगा वह योगी है, जिसका ज्ञान परिणमित नहीं हुआ है, अभी मात्र ज्ञान की प्राप्ति में प्रवृत्त है।[2] अभ्यास के बल पर हो योगी मधुमती भूमिका प्राप्त करता है और अध्यात्म-परक उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, संविद् में अभ्यास का उपयोग ही क्या है? अभ्यास द्वारा संविद् में आरूढ़ अर्थात् संवेद्यमान होकर ही यम आदि योगाङ्ग प्राण, बुद्धि और देह में संस्कार पाटव उत्पन्न कर सकते हैं। यह सिद्धान्त है कि, असंविदित कोई वस्तु व्यवहार योग्य नहीं होती है। इस प्रकार संविद् के द्वारा ही आसन आदि से देह में, प्राणायाम से प्राण में और प्रत्याहारादि से बुद्धि में संस्कार होता है। यदि यमादि संविन्निष्ठ नहीं हैं, तो वे प्राण-बुद्धि-देह-निष्ठ नहीं हो सकते। प्राण, बुद्धि और देह में प्ररूढ यम आदि द्वारा संविद् का संस्कार करना, संविद् को असंविद् बनाने के समान है क्योंकि संविद् का संस्कार नहीं किया जा सकता। संस्कार आतिशय्य को कहते हैं। यमादि का प्ररोह संविद् में करना ही संस्कार की पटुता मानी जाती है। उदाहरण रूप से भारोद्वहन, शास्त्रार्थ-बोध और नृत्त के अभ्यास को लिया जा सकता है। उक्त तीनों क्रियायें संविद्रूढ प्राणायाम के द्वारा भारोद्वहन, प्रत्याहार द्वारा शास्त्रार्थबोध और आसन द्वारा नृत्ताभ्यास सम्भव हैं। यही संस्कार है। संविद् वह उच्च-स्तरीय तत्त्व है, जहाँ न तो कुछ अन्य की अपेक्षा है—आदान है और न कुछ त्याज्य है—अपसरणीय है। वहाँ अभ्यास व्यर्थ है।[3] अभ्यास में हान और उपादान की प्रक्रिया की ही मुख्यता है, जो संविद् के क्षेत्र में नितान्त असम्भाव्य है।[4]

१. तं० ३।२६ २. सर्वदर्शन सं० पृ० ७३३
३. तं० ४।१०४ ४. तं० ४।९७ पृ० १०३-१०४

यहाँ विचार के इस क्रम में एक नयी समस्या उत्पन्न हो जाती है। वह यह कि, यदि योगाङ्ग संविद्रूढ होकर ही प्राण, बुद्धि और देह निष्ठ होते हैं तथा उनकी साक्षात् उपायता सिद्ध नहीं होती, तो फिर तर्क की ही क्या उपयोगिता है? इसका समाधान अत्यन्त सरल है। तर्क ही संवित्ति में साक्षात् उपाय होता है। योगसिद्धि प्रवर्त्तक और योगसिद्धि निवर्त्तक पदार्थों का ऊहापोह और हानोपादान-ज्ञान सत्तर्क द्वारा ही सम्भव है। द्वैत को शङ्का तर्क द्वारा ही तर्कित होती है, क्रमशः सत्तर्क से साधनपथ में अग्रसर होते हुए यमादि साधन क्रम से द्वैतमालिन्य की शङ्का का निर्मूलन अन्त में सत्तर्क से ही सम्भव है। यही इसकी उपयोगिता है।[1] वास्तव में सत्तर्क स्वप्रत्ययात्मक होता है। यह परमेश्वर की साक्षात् समीहा है, यह शुद्ध विद्या[2] ही है। इसीलिए सत्तर्क के सम्बन्ध में उपयोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। यम आदि योगाङ्ग सत्तर्क में उपाय बनते हैं। यही वस्तुतत्त्व का रूप है।

लौकिकेऽपि वा अभ्यासे चिदात्मत्वेन सर्वरूपस्य तस्य तस्य देहादेः अभिमतरूपताप्रकटीकरणं तदितररूपन्यग्भावनं च इति एष एव अभ्यासार्थः। परतत्त्वे तु न किञ्चित् अपास्यम् इत्युक्तम्। द्वैताधिवासोऽपि नाम न कश्चन पृथग्वस्तुभूतः अपितु स्वरूपाख्यातिमात्रं तत्, अतो द्वैतापासनं विकल्पेन क्रियते इत्युक्तेः।

लौकिक व्यवहार में भी चिदात्मत्व के कारण सर्वरूप प्राप्त उस उस देह आदि का अभिमत रूपताप्रकटीकरण और उसके अतिरिक्त-रूपों का न्यग्भावन यही अभ्यास का अर्थ (गृहीत होता है)। परतत्त्व में तो कुछ भी अपास्य नहीं है—यह कहा जा चुका है। द्वैत (भाव) अधिवास भी कोई पृथग्वस्तु नहीं है, वरन् स्वरूप की अख्याति ही है। अतः द्वैत का अपासन विकल्प से किया जाता है—इस उक्ति से (यह सिद्ध है)।

लौकिक सिद्ध व्यवहार भी शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होते हैं।

१. तं० ४।४२-४३, १०५-१०८ २. तं० ४।३८

वास्तविक तथ्य यह है कि, चित् शक्ति सर्वत्र व्याप्त है। संसार के सभी पदार्थ, चाहे वे किसी भी रूप में दृश्यमान या अनुभूति के विषय हैं—चिदात्मक ही हैं।[1] यह संसारावस्था भी शिवात्मिका ही है[2]। इसके भिन्न भिन्न जितने रूप प्रतिभासित हैं, वे सभी देह ही हैं। देश, काल और आकार के भेद से भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब-धारण-व्यापार भी विश्वात्मक भगवान् की इच्छा शक्ति का चमत्कार है।[3] अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के बल पर वही विश्वात्मा अलग अलग अभिमत रूप में अभिव्यक्त होता है। ग्राह्य, ग्राहक, चिद्, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेशन इन सात प्रकार के करण[4] रूप अभ्यासों से एवं उच्चार, ध्यान, वर्ण और स्थान के प्रकल्पन से आणव समावेश समाविष्ट शिव पृथक् रूपों को प्राप्त करता है और इतर का न्यग्भावन करता है। मुद्रा[5] पद्धति द्वारा देह में स्वरूप प्राप्ति रूपी लाभ से उत्पन्न हर्ष का ऊहापोह होता है और उसका समर्पण होता है। करण रूप अभ्यासों के आधार पर यह सारी क्रिया निर्भर है। लौकिक व्यवहार में अभ्यास का यही अर्थ है—एक का स्वीकरण और अपर का तिरस्कार। इसी प्रक्रिया द्वारा देह, प्राण और बुद्धि प्राप्ति रूप हर्ष का परित्याग कर यदि साधक स्वात्मैकतानता प्राप्त करता है, तो इसमें भी अभ्यास का ही अर्थतः उपायत्व सिद्ध होता है।[6]

यह तो लौकिक अभ्यास की बात हुई। जहाँ तक परतत्त्व का प्रश्न है, वहाँ त्याग और आक्षेप रूप अभ्यास को, हानोपादान प्रक्रिया की कोई समस्या ही नहीं है। वह तो ऐसा लाभ है, जिसके मिल जाने पर दूसरा कोई लाभ प्राप्त करना शेष नहीं रहता।[7] परतत्त्व की पाँच विशेषताओं-सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व में से जहाँ कुछ भी अपास्त हुआ वही कंचुकांकित शिव जीव हुआ। यह बारम्बार उल्लेख किया जा चुका है। इसलिए उसमें कुछ भी अपास्य नहीं है।

द्वैताधिवास का तात्पर्य है—शिव द्वारा पशुरूप स्वीकारकर द्वैत अवस्था

१. तं० २।१८ २. पू० प्र० पृ० २ श्लोकः १०

३. चितिः स्वतन्त्राविश्वसिद्धि हेतुः। प्र० २-१

४. पू० प्र० श्लोकः ९२ तं० ११।७०

५. पू० प्र० श्लोकः ९३ ६. पू० प्र० श्लोकाः ९६-१००

७. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः, गीता

का उपभोग। शिव का विश्व रूपतया अवभासन ही द्वैत है।[1] यह ग्राह्य-ग्राहकात्मा भेदावभास शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति रूप माया का ही चमत्कार है कि, वह अपने अनावृत रूप को भी आवृत के समान ही आभासित करता है। इस अवस्था में रहना ही द्वैताधिवास है। सामरस्य के अनन्तर प्रथम स्पन्द की सदाशिव दशा से धरान्त अवभासन और उसमें रमण करते हुएं तत्तद् अनुकूल प्रतिकूल आकलन, भेद का दुर्भेद्य वृक्ष बन कर तन जाता है। इसका कृन्तन कोई कोविद ही कर पाता है, जो स्वात्म साक्षात्कार कर चुका होता है।[2] इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि, द्वैताधिवास भी शिव से पृथक् वस्तु नहीं है, अपितु शिव के पंच-शक्ति सम्पन्न स्वरूप का संकोच मात्र है। आणव, शाक्त और शाम्भव उपायों के द्वारा अथवा धारारूढ़ तर्क-कुठार द्वारा संकोच का अपहस्तन होता है। शुद्ध विद्या के स्पर्श से पवित्रित बुद्धि उत्पन्न होती है। उससे स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन होता है। विकल्पों का क्रमशः संस्कार हो जाता है। एक विकल्प के नष्ट होने प्रतिद्वन्दी दूसरा विकल्प उत्पन्न होता है। उससे दूसरा—उससे तीसरा और क्रमशः अविकल्प दशा का साक्षात्कार होता है। इसीलिए द्वैत भाव का अपासन संस्कृत विकल्पों से होता है—यह स्वतः सिद्ध है। स्वरूप का प्रथन ही मोक्ष कहलाता है। द्वैतापासन ही मोक्ष है, जीवन्मुक्ति है।

सिद्धान्ततः यह स्पष्ट हो जाता है कि, परम शिव का सर्वरूपत्व विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण दोनों अवस्थाओं में अपृथग्भूत है। सत्तर्क की चरितार्थता द्वैताधिवास निरास में ही है। पूर्ण परसंविन्मात्र की ख्याति के कारण फिर द्वैताधिवास नहीं होता। महात्मा साधक, देह, प्राण और बुद्धि आदि का अनुसन्धान करता है, आलोचन करता है और क्रमशः अभ्यासातिशय से विकल्पों का संस्कार हो जाता है। तदनन्तर पराकाष्ठा की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में अस्फुट संवित् स्फुट बन जाती है और परावाक् का परप्रकाश उपलब्ध हो जाता है।

अयं परमार्थः— स्वरूपं प्रकाशमानम्, अख्यातिरूपत्वं स्वयं स्वातन्त्र्यात् गृहीतं क्रमेण प्रोज्झ्य विकासोन्मुखम्, अथ

१. तं० ४।११ पृ० ११ पं० ३-४ २. तं० ४।१३

विकसत्, अथ विकसितम् इत्यनेन क्रमेण प्रकाशते । तथा प्रकाशनमपि परमेश्वरस्य स्वरूपमेव । तस्मात् न अत्र योगाङ्गानि साक्षादुपायः ।

निष्कर्षतः यह-'स्व' रूपतः [स्वतः] प्रकाशमान है। अपने स्वा-तन्त्र्य से स्वयं अख्यातिरूपत्व ग्रहण कर चुका है। [इस गृहीत अख्यातिरूपको] क्रमशः छोडकर विकासोन्मुख होता है। तदनन्तर विकसनशील [होता है] फिर विकसित [हो जाता है] इस क्रम से [वही पर प्रकाश परमशिव] प्रकाशित होता है। ऐसा प्रकाशमान [स्वरूप भी] परमेश्वरका ही स्वरूप है। इससे [यह सिद्ध है कि] इस [प्रकाशन क्रिया] में [यमनियमादि] योगाङ्ग साक्षात् उपाय नहीं। हैं

शिव परमप्रकाशात्मक होता है।[२] उसी के प्रकाश के प्रभाव से सारा ज्ञेय समुदाय भी प्रकशित है, प्रकाशित था और प्रकाशमान रहेगा। प्रकाश सम्बन्ध से प्रकाशमान नील पीत अदि स्वयं प्रकाशरूप होने के कारण ही प्रकाशित होते है क्योंकि अप्रकाशरूप कोई भी पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता। अश्वेत प्रासाद श्वेत वर्ण का सौन्दर्य नहीं विकीर्ण कर सकता। अतः प्रकाशात्मा शिव का 'स्व' रूप ही सर्वत्र प्रकाशित होता है। यही शिवका परमप्रकाशत्व है। शिवका दूसरा सबसे बड़ा गुण स्वातन्त्र्य है। इसी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण अख्याति द्वारा अवरोहक्रम से वह ज्ञेय ग्राह्य नीलपीतादि रूपता को ग्रहण कर लेता है। अख्याति भी उसी परमशिव की संकोच शक्ति है, जिसके द्वारा वह भेदाभेदविकल्पोपहत हो जाता है। फिर आरोह–विकासक्रम से उस स्वतः गृहीत अख्याति रूपको छोडकर विकासोन्मुख होता है। इदन्तावगाहिनी विलीनाहंभावा संसारा-वस्था के परिस्फुरण का परामर्श करने लगता है। स्वात्मसाक्षात्कार का प्रतिसंधान होने लगना लगता है और यह ज्ञान उदित हो जाता है कि, वह ईश्वर मैं हीहूँ।[३] प्रतिसंधान की इसी अवस्थाको विकासोन्मुखता कहते हैं। विकल्पक्षयऔरऐकाग्र्य के क्रम से अविकल्प परामर्श द्वारा देह, बुद्धि और

१. तं० १।५ २. तं० १।५२
३. ईश्वर प्र० वि० १।१।१ पृ. २१ पं. ३

प्राण आदि में अकलुषस्वचित्प्रमातृता के निभालन में साधक प्रवण बनता है।[१] इसके बाद प्रवणता का सातत्य होता है। वर्त्तमान जीवन के प्रत्येक क्षण में वह बलवत्ता प्राप्त करता है। देह-प्राणादि के आच्छादन से निम-ज्जित चिति-स्वरूप का उन्मज्जन व्यापार द्वारा विस्फार होता है। यही साधक के चिति की विकसदवस्था है। तत्पश्चात् वह विकसित हो जाती है। चिदानन्दका लाभ हो जता है। चिदेकत्व प्रथा रूपा जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[२] समस्त क्षोभों का क्षय हो जाता है और परमपद प्राप्त हो जाता है। परम शिव के प्रकाश का यही क्रम है। भाषा में उसे मुद्रा क्रम कहते हैं।

इस प्रकाश का प्रकाशन परमेश्वर का ही स्वरूप है। चाहे वह विश्वात्मकरूप से प्रकाशित हो या विश्वोत्तीर्ण रूप से। चाहे वह धरादि सदाशिवान्त किसी रूप में हो, विकासोन्मुखता का, विकसदवस्था का या विकसितावस्था का हो, किसी मुद्रा पद्धति की क्रम विकास दशा हो, या दृढशक्तिपात द्वारा अक्रम व्युत्थान का हो, जड़ या चेतन-ग्राह्यग्राहक संवित्ति समन्वित हो, विशाल ब्रह्माण्डमय हो अथवा लघु लघु कणिका मय हो; सब कुछ परमेश्वर का ही रूप है। इसलिए स्वरूप सिद्धि में उपाय का जैसे कोई उपायोग नहीं होता, उसी प्रकार परम शिव के परप्रकाश को प्राप्त करने में योगाङ्ग साक्षात् उपाय नहीं हो सकते।

[३]तर्कं तु अनुगृह्णीयुरपि, सत्तर्क एव साक्षात् तत्र उपायः। स एव च शुद्धविद्या। सच बहुप्रकारतया संस्कृतो भवति। तद्यथा—यागो होमो जपो व्रतं योग इति। तत्र भावानां सर्वेषां परमेश्वर एव स्थितिः। नान्यद्व्यतिरिक्तम् अस्ति इति विकल्प रूढि-सिद्धये परमेश्वर एव सर्व भावार्पणं यागः। स च हृद्यत्वात् ये संविदनुप्रवेशं स्वयमेव भजन्ते, तेषां सुशकं परमेश्वरे अर्पणम् इत्यभिप्रायेण हृद्यानां कुसुम-तर्पण-गन्धादीनां बहिरुपयोगः उक्तः।

१. प्र. हृ० सू. १८ २. प्र. हृ० सूत्र १५-१६-१७
३. स० द० सं० पृ० ४६७ पं० ११-१३

योगाङ्ग तर्क को अनुगृहीत भी करते हैं। सत्तर्क ही परतत्त्व की प्राप्ति में साक्षात् उपाय है। सत्तर्क ही शुद्ध विद्या है। वह अनेक प्रकार से संस्कृत होता है। जैसे—याग, होम, जप, व्रत और योग आदि। इस प्रकरण में [विचारणीय यह है कि] समस्त भाव समूह की स्थिति परमेश्वर में ही होती है। कुछ भी व्यतिरिक्त नहीं है। इस लिये विकल्प रूढ़ि की सिद्धि के लिये परमेश्वर में ही समस्त भावसमूह का अर्पण याग कहलता है। यह अत्यन्त ही मनोहर है। जो साधक स्वयम् संविद् में अनुप्रवेश [संवित्साक्षात्कार] प्रयत्नशील होते हैं, उनके लिये परमेश्वर में (सर्व भावका) अर्पण अत्यन्त सरल और सहज सम्भाव्य है [सुशक है]। इसी अभिप्राय से कुसुमार्पण, तर्पण, गन्ध आदिका बाह्य उपयोग विहित है।

शास्त्रान्तर में जिस तर्क की व्याख्या है—प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का सत्तर्क उससे विलक्षण है। शुद्ध विद्या के संस्पर्श से पवित्रित बुद्धि में तर्क उदीयमान होता है। यह स्वात्म प्रत्यभिज्ञापक होता है। उच्चकोटि के साधकों में देह-प्राण-बुद्धि की समालोचना अथवा प्रतिसन्धान द्वारा विकल्पों को यही शुद्ध भी करता है। विकल्प शुद्धि के अनन्तर जब वह अपनी चरम अवस्था को प्राप्त करता है, तो वही सत्तर्क भावना बन जाता है। ये योगाङ्गों के अन्तरङ्ग और मुक्ति प्राप्ति में उपकारक भी होते हैं, क्योंकि यह षडङ्गयोग का अन्तरङ्ग उपाय है। अंतरङ्ग उपाय होने के कारण सत्तर्क ही परतत्त्व की 'प्राप्ति में साक्षात् उपाय बनता है—यह स्पष्ट है।[१] यह भी स्पष्ट है कि सत्तर्क ही शुद्धविद्या है।[२] सत्तर्क बहुत प्रकार से संस्कृत होता है। विकल्पों की शुद्धि से तो वह पराकाष्ठा को प्राप्त करता ही है, हेय के हान के प्रयत्न से और उपादेय के उपादान के आग्रह से इसका प्रतिक्षण संस्कार होता रहता है।[३] उसके संस्कार के

१. प्राणायामस्तथाध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।
ऊहोऽन्तरङ्गं योगस्य तेन चाऽनन्यवस्थिते:।
साधारणोप्यसौ मुक्तेर्भूयसोपकरोति सः।
तं० ४ पृ० १५ प० १३-१४ संदर्भ श्लोक १६ पं० ६-७

२. तं० ४।३४ ३. तं० ४।१७ पृ० २० पं० ६

अन्य उपाय भी हैं; जैसे—याग, होम, जप, व्रत योगसाधना आदि। यह शास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि, समग्र भावों की स्थिति परमेश्वर में ही है। परमेश्वर से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के प्रतिद्वन्द्वी जितने विकल्प क्रमशः संस्कृत होकर क्रमिक रूप से उत्पन्न होते रहते हैं, उन विकल्पों की अन्तिम रूढ दशा अविकल्प के समान हो जाती है। विकल्पों की इसी प्रकार की रूढि सिद्धि के लिये यह भावना कि, जब सभी भाव परमेश्वर के ही हैं, तो उन्हें अपना न मानकर परमेश्वर में अर्पित कर देना ही चाहिये। यह सर्वभाव समर्पण ही याग है।

संविद् के अद्वैत में एकरस योगी के लिए कार्य और अकार्य का भेद नहीं होता। यह विहित है और यह प्रतिषिद्ध है—इस प्रकार की बुद्धि भेदवाद की ही उत्पादिका बनती है। यही विकल्प है। यही भेद भूधर है। यही द्वैत है। परमेश्वर का स्वभाव शुद्ध संविन्मात्ररूप है। उसका 'मैं ही सब कुछ हूँ' [अहमेव सर्वम्] यह परामर्श है।

साधक साधना के क्रम में १–इन्द्रियार्थ आदि उपायों की अपेक्षा के विना और २–इन्द्रियार्थों की सोपायता पूर्वक दो रूपों में 'स्व' का परामर्श करता है। ये दोनों परामर्श परमेश्वरस्वातन्त्र्य के ही उल्लास हैं और विकल्प हैं।[१] पहला विकल्प स्वच्छ और दूसरा नैश [मायीय] है। नैश विकल्प का अपोहन कर जब साधक समस्तार्थ परिपूर्ण स्वात्ममात्र निष्ठ अभेदरूप 'सर्वमिदमहमेव' सारा यह प्रसार मैं ही हूँ—यह विकल्पन करता है—उसी समय उसकी विकल्परूढि सिद्ध हो जाती है। मायीय विकल्पों का तत्क्षण विनाश हो जाता है। इसी को विकल्प संस्क्रिया संक्रमण कहते हैं। नैश विकल्प भेद भावक होता है। अतः इसका अपहस्तन आवश्यक है। अभेद भावकत्व के कारण स्वच्छ विकल्प उपादेय होता है। इसके द्वारा ही स्वात्मसाक्षात्कार सम्भव है। इसीलिये सर्वभावार्पण परमेश्वर में आवश्यक होता है। यही याग है।

यह प्रक्रिया बड़ी हृद्य है। मानसाह्लादि वस्तु के ब्रह्म सद्धाम-संयोजन से बहीरूपता का परित्याग और संविन्मात्रात्म परतत्व का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार करने का एक क्रम है। इसे तंत्र की भाषा में संविदनुप्रवेश कहते हैं। जो साधक निरन्तर अप्रतिरुद्धभाव से अनुप्रवेश

१. तं० ४।११०-१११

के इस सिद्धान्त का अनुपालन करता है, उसका सर्वभावार्पण सरल हो जाता है और अनायास ही वह इसे पा लेता है।

इसी अभिप्राय से अर्चक आराध्य के प्रति पुष्पाञ्जलि समर्पित करता है। कल्हार, उत्पल, नागकेशर, सरोज, मालती-मल्लिका, केतकी, अड़हुल आदि पुष्पों और पुष्पहारों का समर्पण करता है—यह क्या है ? मात्र समर्पण की बहीरूपता है। लक्ष्य इसका अन्तःसंवित् का साक्षात्कार ही है। विभिन्न प्रकार के तर्पण के उपचारों से अर्चित करना क्या है ? मात्र अनात्म में आत्मभाव की भेदवादिता के बीज का भर्जन है। बाह्योल्लास में उल्लसित पर-प्रकाशात्मा परमेश्वर की परा संवित् में प्रवेश का पावन प्रयास है। जटामांसी, गुग्गुलु, चन्दन, अगुरु, कर्पूर, शिलाजीत, मधु और घृत आदि सुरभित पदार्थों का समर्पण परमाराध्य की प्रीति के लिए ही तो किया जाता है ?

इस प्रकार कुसुमार्पण तर्पण, गन्धादिकों का अर्पण एक अनोखे उल्लास को उत्पन्न करता है। विश्व वन का इन्धन दग्ध हो जाता है। बोध वैश्वानर का प्रकाश प्रसरित हो जाता है और 'पर' तत्त्व में 'स्व' का समावेश हो जाता है। समस्त बाह्य उपकरणों के द्वारा स्वात्मोन्मुखता स्वतः सिद्ध होती रहती है। व्यतिरेकिणी अशुद्ध बुद्धि का विमर्दन और आत्मसंवित्ति का उद्बोधन ही इन बाह्य व्यापारों का लक्ष्य है। वास्तव में विधीयमान और प्रतिषिध्यमान सभी कार्य भेदवाद का आविर्भाव करते हैं। जबकि लक्ष्य स्वरस सिद्ध संविदद्वैत में प्रवेश ही है।

सर्वे भावाः परमेश्वर तेजोमयाः इति रूढविकल्प-प्राप्त्यै परमेशसंविदनलतेजसि समस्तभावग्रासरसिकताभिगते तत्तेजोमात्रावशेषत्वसहसमस्त भावविलापनं होमः। तथा उभयात्मकपरामर्शोदयार्थं बाह्याभ्यन्तरादिप्रमेय-रूपभिन्नभावानपेक्षयैव एवं विधं तत् परं तत्त्वं स्वस्वभावभूतम् इति अन्तःपरामर्शनं जपः। सर्वत्र सर्वदा निरुपाय-परमेश्वराभिमानलाभाय, परमेश्वर समताभिमानेन देहस्यापि घटादेरपि अवलोकनं व्रतम्। यथोक्तं श्री नन्दिशिखायाम्—सर्वं साम्यं परं 'व्रतम्' इति।

सभी भाव परमेश्वर तेजोमय है, रूढविकल्प की प्राप्ति के लिये समस्त भावों के ग्रास की रसिक परमेश्वर की संविदग्निके तेज में उसी तेजोमात्र की अवशिष्टता के साथ [अपने] समस्त भावों [विकल्पों] का विलापन होम है। उभयप्रकारक परामर्शों के उदय के लिये बाह्य और आन्तर प्रमेय रूप भिन्न भाव से निरपेक्ष, 'इस प्रकार का वह परतत्त्व स्वस्वभावभूत है'—यह अन्तः परामर्श ही जप है। सर्वत्र सर्वदा निरुपाय परमेश्वर [ही है—इस] अभिमान की उपलब्धि के लिये देह, प्राण, बुद्धि और घटपट नील-पीत आदि का भी परमेश्वर साम्याभिमान भावना के द्वारा अवलोकन ही व्रत है। नन्दिशिखा [नामक ग्रन्थ में] जैसा कि कहा गया है—सर्वसाम्य हो सबसे बड़ा व्रत है।

प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि जड का जडत्व भी प्रकाशमयता के अतिरिक्त कुछ नहीं है क्योंकि अप्रकाश का प्रकाशन कथमपि सम्भव नहीं है। इसलिये जो कुछ सत् है, भाव है, भूक्रिया का व्यापार या फल है या भू धात्वर्थ से व्यक्त है, परमेश्वर के तेज के अतिरिक्त नहीं है। जैसे मृन्मय घट मिट्टी के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी प्रकार परप्रकाश परमेश्वर के परप्रकाश से प्रकाशमान 'इदम्' उसके अनतिरिक्त ही है—इस विकल्प का हृदय में रूढ होना आवश्यक है। साधक की प्रथमावस्था में अनात्म में आत्मभाव की जो अख्याति घर किये बैठी है, उसका विनाश आवश्यक है। अनात्मभाव रूप विकल्प का कीलन, सब कुछ परमेश्वर प्रकाश ही है—इस विकल्प का उदय, विकास एवं रूढ़ि भी नितान्ततः अनिवार्य है। प्रश्न है कि, यह कैसे हो ? इसके लिये गुरुजनों का आदेश है कि, होम करो। पर होम साधारण नहीं अपितु जैसे सर्वग्रासी हुताशन में सर्वस्व स्वाहा हो जाता है; उसी प्रकार समस्त भाव राशिका ग्रास बना लेने के स्वाद की रसिक एक और आग है—उसे समझना है। वह आग अन्य कुछ नहीं, परम महेश्वर की शक्ति संविद् की महार्चि है। उस संविद् की आग में समस्त अख्यातिमय भावों को आहुति करनी है। यह सोचना भी है कि, इस आहुति के बाद जो अवशेष रहेगा, वह किसी यज्ञ की विभूति नहीं, वरन् परमेश्वर का परम प्रकाश मात्र ही अवशेष होगा। यही होम है। ज्ञान के प्रज्वलित अनल की सात इन्द्रिय शिखारश्मियों में समस्त भाववर्ग का भस्मसात् करना आगमिक यज्ञ है। इसी प्रक्रिया को होम या अग्नितर्पण कहते हैं। द्वैत वन के इन्धन से दीप्त अलौकिक याग में मृत्यु-

महापशु की आहुति के द्वारा नित्य यजन योगी के लिये अनिवार्य है। इससे बढ़ कर उत्तम किसी दूसरे यज्ञ की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस परम याग में विश्रान्ति प्राप्त करने वाले साधकों के भवडम्बर उसी प्रकार ध्वस्त हो जाते हैं, जैसे महाग्रीष्म में हिमानी स्वतः विगलित-समाप्त हो जाती है।[1]

आराध्य की आराधना में जप का अपना विशेष स्थान है। अन्य सम्प्रदाय वादियों के अनुसार वर्णात्मक मन्त्रों का पुनः पुनः स्पष्ट या उपांशु उच्चारण ही जप है। इस शास्त्र में यह जप नहीं है, वरन् पर तत्त्व का अन्तः परामर्शन ही जप है।[2] जड़ या पशु भावापन्न पुरुष इस देह को ही आत्मा मानता है। देहात्मवादियों या अनात्मवादियों का केवल एक यही परामर्श होता है किन्तु इदम् के अतिरिक्त अहम् का परामर्श भी साधक के लिये आवश्यक होता है। प्रथम विकल्प का उसी दशा में अपहस्तन हो सकता है। द्वितीय विकल्प, फिर तृतीय और क्रमशः इस प्रकार के परामर्शों के समुदय के लिये यह आवश्यक है, कि समस्त प्रमेय भले ही ये बाह्य हों या आन्तर हों, उनकी भेद वादिता पर ही आघात किया जाय। प्रमाता-प्रमेय भाव या ग्राह्य-ग्राहक संवित्ति का संवेदन, अख्याति का जनक है। इसकी भेदवादिता की भावना शिव को जीव बनाने में समर्थ हो जाती है। किन्तु जब इसकी अपेक्षा नहीं रहती, शान्त दान्त निरपेक्ष भाव से परतत्त्व का अनुसन्धान करना, स्व के अनतिरिक्त स्व में ही व्याप्त स्वात्मपारमैश्वर्य स्वातन्त्र्य संवलित स्वभाव से भूषित परमेश्वर का स्वात्मसंविद् में परामर्श करना ही वास्तविक जप है। परावाक्स्वभाव शिव का भूयः भूयः भावाभाव पदच्युत परामर्श[3] ही जप है। विश्व के अणु-अणु, कण-कण में शाश्वत रूप से निरुपाय परमेश्वर का अभिमान साधना की उच्च स्थिति है। दृढ़ शक्तिपात भावित साधक को नित्योदित अहमात्मक परामर्श की उपलब्धि के लिये, यह परामर्श करना पड़ता है, कि मैं काल अकलित हूँ। देश से अपरिच्छिन्न हूँ, उपाधि से अम्लान हूँ, आकृति से अनियंत्रित हूँ शब्द से असंदिष्ट हूँ। प्रमाण से अप्रपंचित स्वतंत्र और आनन्द घन परमतत्त्व मैं ही हूँ। यह दृढ़ धारणा या भावना निरुपाय पारमेश्वर समावेश का आधार है।

१. तं० ४।२७७ २. जप १।९० पृ० १३१ पं ६-७-८

समावेश की इस महनीय भावना के कारण, परमेश्वर-साम्य का भाव दृढ़तया समुद्भूत हो जाता है। उस समय भावदार्ढ्य की इस दशा में देह आदि स्थूल साकार पदार्थों की तरह, घट आदि पदार्थों में भी इसी प्रकार की साम्यानुभूति ही व्रत है। श्री नन्दिशिखा नामक ग्रन्थ में इसी बात को "सर्वं साम्यं परं व्रतम्" इन शब्दों के द्वारा व्यक्त किया गया है। अर्थात् सर्व की समता ही सबसे बड़ा व्रत है।

इत्थं विचित्रैः शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः यत् अनपेक्षितविकल्पं स्वाभाविकम् परमार्थतत्त्वं प्रकाशते, तस्यैव सनातनतथाविधप्रकाशमात्रतारूढये तत्स्वरूपानुसंधानात्मा विकल्पविशेषो योगः। तत्र परमेश्वरः पूर्णसंवित्स्वभावः, पूर्णतैवास्य शक्तिः, कुलं सामर्थ्यम्, ऊर्मिः, हृदयं, सारः, स्पन्दः, विभूतिः, त्रीशिका, काली, कर्षणी, चण्डी, वाणी, भोगो, दृक्, नित्या इत्यादिभिः आगमभाषाभि स्तत्तदन्वर्थप्रवृत्ताभिः अभिधीयते, तेन तेन रूपेण ध्यायिनां हृदि आस्ताम् इति।

इस प्रकार विचित्र शुद्ध विद्यांशरूपी विकल्पों के द्वारा जो विकल्पनिरपेक्ष स्वाभाविक परमार्थ तत्त्व प्रकाशित होता है, उसी शाश्वत परमार्थ प्रकाशमात्रता में रूढि के लिये तत्त्वस्वरूपानुसंधा[1]नात्मा विकल्पविशेष योग है। उक्त परिप्रेक्ष्य में [यह सिद्ध है कि] परमेश्वर पूर्णसंवित्स्वभाव[2] [होता है] पूर्णता[3] ही इसकी शक्ति है। कुल सामर्थ्य, ऊर्मि हृदय, सार स्पन्द विभूति, त्रीशिका काली कर्षणी चण्डी वाणी भोग दृक् नित्या इत्यादि उन उन अन्वर्थों में प्रवृत्त आगमोक्त पारिभाषिक शब्दों से ही (वह) कथित होता है। उन्हीं रूपों से ध्यानस्थ (व्यक्तियों) के हृदय में (वह साक्षात्कार का विषय) होवे।

पारमेश्वर 'स्व' भाव में प्रवेश के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि, अपने विकल्पों का संस्कार किया जाय। क्योंकि संस्कृत विकल्प अपने

१. तं० ९।१०७-११६ २. तं० ९।२०४-२११; ११।३४, ४।१२०-१२२
३. तं० १।२०८

ही तरह दूसरे संस्कृत विकल्पों को उत्पन्न करते हैं। इसी क्रम से स्फुट स्फुटतर और स्फुटतम होकर विकल्प उस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ किसी संस्कार की भी आवश्यकता नहीं रहती। उसे संस्कारान्तर-निरपेक्ष विकल्पावस्था कह सकते हैं और वहीं अविकल्परूपा संवित् का चमत्कार परिस्फुरित हो जाता है।[1] इसी से स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन होता है। स्वात्मपरामर्शमय भैरवीय तेज स्फुटित हो जाता है और स्वात्म-साक्षात्कार हो जाता है। इसी को सत्तर्क या भावना भी कहते हैं। यही सद्विद्या का परामर्श भी है।

इस प्रकार विकल्पों का संस्कार पूर्ण हो जाता है और स्वाभाविक परमार्थतत्व प्रकाशित हो उठता है। संस्कृत सभी विकल्प शुद्धविद्या के अंश रूप ही होते हैं। उत्तरोत्तर संस्कृत विकल्पों का समुदय ही इनका वैचित्र्य है। ऐसे शुद्ध विद्यांश रूप विचित्र विकल्पों से, सर्वोच्च स्तर पर संस्कारान्तर निरपेक्ष तथा विकल्पान्तर निरपेक्ष स्वाभाविक परमार्थ तत्त्व प्रकाशित हो जाता है। वह संकोचकलङ्क के उन्मूलन से उद्भूत होता है। भैरवीय तेजमय पारमेश्वर ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है।

वस्तुतः प्रकाशमानता दो प्रकार की होती है। १–ज्ञेय-नील आदि पदार्थों की नीलता रूपी प्रकाशमानता और २–प्रकाश की स्वतः प्रकाशमानता। इसमें नील आदि ज्ञेय पदार्थों की प्रकाशमानता अनित्य है क्योंकि वे स्वतः प्रकाशमान नहीं हैं। उनका प्रकाश प्रकाशात्मा शिव से तात्त्विक रूप से संप्राप्त है। शिव सर्वदा प्रकाशमान हैं;[2] अतएव सनातन है। उस परम प्रकाश की प्रकाशमात्रता में देश, काल और आकार मात्र की भेदवादिता का सर्वात्मना निरास है। उसी सनातन प्रकाशात्मक शिव में रूढि के लिये धारारूढ सत्तर्क की आवश्यकता होती है। अख्याति लक्षण[3] कारण का कृन्तन करते हुए परसंविन्मात्र अहमात्मक पूर्णप्रत्यवमर्श रूपतया[4] ['अहमेव इदम्, इदमहमेव अहम् च इदम् च अहम् च' रूप] शुद्ध विद्यात्मक जिस विकल्प का उदय होता है, उसी को योग कहते हैं।

परमेश्वर पूर्णसंवित् स्वभाववान् होता है। पूर्णसंवित् एक ही होती

१. तं० ४।२-७ २. तं० १।५४ पृ० ९.२ पं० ७

३. तं० ४।१३ ४. तं० ३।२३६

है। वहाँ काल भेद जनित ज्ञानभेद नहीं होता है। पूर्णसंविदैक्य इस दर्शन की प्रमुख सिद्धान्त वादिता है। इसके विना लोकपद्धति चल नहीं सकती। कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता।[1] पूर्णता प्रत्येक दृष्टि से होनी चाहिये। खण्डित संविद् ही विकल्प है। विकल्पों का क्षय और निर्विकल्प अखण्ड संवित् में अनुप्रवेश साधक की दो महती साधनायें हैं। पारमेश्वर ऐश्वर्य पूर्णत्व-सम्पन्न है। इसीलिये यह कहा जाता है कि, पूर्ण संवित् ही परमेश्वर का स्वभाव है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, पूर्णता ही परमेश्वर की शक्ति है। इस शक्ति के अनेक नाम है। उसका जिस रूप में योगी को अनुभव हुआ—जिस किसी रूप में साधक ने उस पराशक्ति का अनुदर्शन किया, आन्तर साक्षात्कार किया, उसी प्रकार उसका नाम दिया।

कुल—किसी आगमिक ने उसे कुल शब्द से बोधित किया है। कुल का अर्थ परिपूर्ण समग्र या सर्व ही होता है। कुल शब्द में आने वाले व्यंजन स्वर समुदाय में क्-उ-ल् और अ हैं। 'क्' प्राथमिक अभिव्यक्ति है—अनच्क कला की पहली कृति है और सूक्ष्मता को प्रारम्भिक आकृति है। यह केवल पहला व्यंजन ही नहीं पहला स्थूल बिखर-अभिव्यंजन भी है। 'उ' उन्मेष का प्रतीक है। ल धरातत्त्व और 'अ' अनुत्तर अकुल तत्त्व के प्रतीक हैं। इस प्रकार इन वर्णों से आविष्कृत अर्थ में अनुत्तर की भित्ति में विश्व का स्थिर अभिव्यंजन संगृहीत है। वह परमशिव तथा वह पराशक्ति दोनों कुल रूप हैं। कुल रूप परमेश्वर की पूर्णशक्ति को ही कौलिकी[2] कहते हैं। 'कुल' स्वयं शक्ति रूप है।[3]

सामर्थ्य—समर्थ के भाव को ही सामर्थ्य कहते हैं। उपसर्ग सम् से संयुक्त अर्थ [समर्थ] शब्द शक्तिमान् का बोधक होता है। शक्तिमान् की शक्ति के अतिरिक्त सामर्थ्य कोई अन्य पदार्थ नहीं। समरसता और समस्त अर्थवत्ता इसके धर्म हैं। इसलिये सामर्थ्य शब्द से भी उसीका अभिधान होता है। स्वभित्ति में विश्व के उन्मीलन का सामर्थ्य भगवती चिति का स्वातंत्र्य-

१. ई० प्र० वि० १।८।१०-११ २ तं० ३।६४

३. स्वच्छन्द तन्त्रम्-कुलम् शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते !
यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ ! शिवशक्ति विवर्जितम् ॥ ४।२६७, ३ ७५ पं० १३-१४

गत वैशिष्ट्य है। सामर्थ्य को क्षमता और सहिष्णुता शब्दों के द्वारा भी व्यक्त करते हैं।[1] अपने स्वातंत्र्य के माहात्म्य से समस्त बिम्बप्रतिबिम्ब समुदाय को परमेश्वर स्वात्म संविन्नैर्मल्य में अवभासित करता है। यही शक्ति सामर्थ्य है।

ऊर्मि—ऊर्मि साधारणतया तरङ्ग को कहते हैं। सिन्धु की सिन्धुता में तरङ्गवृत्ति और निस्तरङ्ग वृत्तिता की दो ही विशिष्ट दशायें होती हैं। सूर्यरूप ह्रस्व स्वर 'उ' कार की मूल वृत्ति को उन्मेष और उसकी आनन्द वृत्ति को 'ऊ' या ऊर्मि कहते हैं इस अवस्था में संवित् शक्ति के सर्वव्यापी नैर्मल्यपारावार में अनन्त अनन्त परामर्शात्मक लहरिकायें उल्लसित होने लगती हैं। उन्हें ही ऊर्मि कहते हैं। वास्तव में जब बोध सिन्धु में अन्य निरपेक्ष स्फुरण होता है; साधक यह सोचता है कि 'यह मैं हूँ'। इस अहमात्मक परामर्श की स्फुरत्ता ही ऊर्मि है। ऊर्मि के विना (परामर्श की वृत्ति के विना) संविद् का रूप ही क्या हो सकता है? जडता से संवित् का यही वैलक्षण्य है कि, संवित् में स्वतः प्रकाशमानता और परामर्श की ऊर्मियाँ दोनों साथ ही ऐकात्म्य रूप से प्रकाशित हैं, जब कि जड़त्व परतःप्रकाशमानता से प्रकाशित होता है।[2] ऊर्मिका एक दूसरा स्वरूप भी होता है। शून्य प्रमाता अपूर्णमन्यता रूपी आणवमल से संयुक्त होता है। उसमें साकांक्षता का संनिवेश होता है। वह उन्मुखीभाव में नील पीत आदि भेदित ग्राह्यों में 'स्व' से पार्थक्य का दृष्टिकोण अपनाता है। पुनः एकदशा से दूसरी दशा में प्रवृत्त होते समय उससे बाहर निकलने की चेष्टा करता है और बाहर निकल जाता है; उसी प्रकार एक मेय से, शून्य प्रमातृत्व से पृथक् वह समुच्छलित होता है और प्राणप्रमाता बन जाता है। इसे स्वात्मपरामर्श का आद्य प्रसर कह सकते हैं। यह किंचिच्चलनात्मक होता है। यही ऊर्मि दशा है।[3] एक मात्र संविन्नाथ परमशिव के संविन्नैर्मल्य में प्रतिबिम्बित सौम्य और रौद्र शरीरों का यह जगदात्मक आभास है। यह उसी ऊर्मिचक्र की प्रवाहमानता का एक स्वरूप है।

हृदय–सार–परमेश्वर प्रकाश रूप है। पारमेश्वर प्रकाश परामर्शात्मक होता है। यह बोधात्मक परामर्श है और परमेश्वर का हृदय[4] है। यही

१. तं० ३।१० २. तं० ४।१[illegible]
३. तं० ६।११ ४. तं० ४ पृ० २१३ पं० ४ श्लोक १८२

सार शब्द से भी अभिहित है। समस्त चेतनाचेतनात्मक विश्व का यह जीवन है। अहं परामर्शात्मा नाद जो परावाक् रूप है, स्वरसोदित ध्वनि है। अन्य निरपेक्ष भाव से स्वतः उच्चार्यमाण है। वही इस परा संविद् का हृदय है। महासत्ता देश काल से अविशिष्ट है। विश्व उसी की स्फुरत्ता है वही परमेश्वर का हृदय है।[1] हृदय को ही महत्सार कहते हैं।[2] बोध को भी हृदय कहते हैं।[3]

स्पन्द—स्पन्द भी स्फुरत्ता ही है। आद्य उद्यन्तृतात्मा परिस्पन्दशालिनी प्राणशक्ति, सामान्य परिस्पंदों से समन्वित होकर इस पांच-भौतिक शरीर को आक्रान्त कर अवस्थित है।[4] प्राणस्पन्द का विधान करने वाली तीन शक्तियाँ हैं—१. प्रभु २. शक्ति ३. आत्मा और स्वयं प्राण।[5] जननेन्द्रिय के संकोच और विकास में आत्मा का प्राधान्य है। क्योंकि वहाँ इच्छा ही मूल कारण है। हृदय के स्पन्दन में प्राण का प्रधान कर्तृत्व है और अङ्ग स्फुरण, निमेषोन्मेषशील पलकों में प्रभु शक्ति का प्राधान्य है।[6] इस प्रकार समस्त जीव समुदाय में वीर्य ओज बल स्पन्द और प्राणचार समान रूप से होते हैं।[7]

स्वात्मबोध का विमर्श हृदय और स्पन्द दोनों के माध्यम से होता है। हृदय तो बोध का पर्यायवाची शब्द ही है। बोध का ही विमर्श होता है अथवा बोध में ही विमर्श होता है। यह विमर्श साधक के द्वारा प्रसारित होता है—समस्त विश्वात्मैक्य के महाभाव का यह जनक होता है। विश्व की निर्मित्सा और संजिहीर्षा की आदिम और अन्तिम अवस्थाओं में भी विकास और संकोच के रूप से विद्यमान विमर्श को ही स्पन्द शास्त्र में 'स्पन्द' शब्द से अभिहित किया जाता है।

इस समस्त विश्वमय भाववर्ग में, विशेष-विशेष अर्थों की क्रियाकारिता में, औन्मुख्य शब्द से अभिधीयमान विमर्श को भी स्पन्द कहते हैं। इस प्रकार स्पन्द मुख्य रूप से बोध का विमर्श ही सिद्ध होता है। विमर्श भी प्रकाश के या परम शिव स्वातंत्र्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

१. ई. प्र. वि. १।५।१४, ६।१३ २. तं० ४।१८६ ३. तं० ५।६०
४. तं० ६।१३-१४ ५. तं० ६।५२ पृ० ४६ पं० ३-४
६. तं० ६।५३-५४ ७. तं० ६।६२

विभूति—ऐश्वर्य को विभूति कहते हैं। जो विभूतिमान होता है—श्रीमान् होता है, वह परमात्म तेज का ही प्रतीक होता है।[1] 'वि' उपसर्गपूर्वक भूधात्वर्थ की भावसत्ता ही विभूति है। परमेश्वर विभुरूप ही हैं। विभुता ही विभूति है। "सर्वो ममायं विभवः" इसका परामर्श है। ईश्वरता और स्वातन्त्र्य के बल पर शिव की विश्वात्मकता में परावृत्ति इसकी प्रत्यक्ष विभूति है।[2] वास्तव में विभु की तीन विभूतियाँ हैं—१. स्वातंत्र्य शक्ति, २. क्रमसिसृक्षा और ३. क्रमात्मकता। इनके द्वारा अनन्ताभाससंभिन्न ऐश्वर्य का प्रकाशन होता है।[3]

त्रीशिका[4]—परत्व, अपरत्व और परापरत्व; भेद, अभेद और भेदाभेदत्व रूप त्रिक अधीश्वरी भगवती चिति ही है। इसीलिये इसे त्रीशा, त्रीशिका, त्र्यधीशा शब्दों से अभिहित करते हैं। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री इन तीन शक्तियों के द्वारा ही यह सारा कर्तृत्व सम्पन्न होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तिरूपा त्र्यधीश्वरी भगवती चिति ही त्रीशिका है। अवबिभासयिषा, उच्चिचारयिषा और उल्लिलासयिषा के द्वारा स्वात्मभित्ति में विश्व का उन्मीलन होता है।

काली—पर प्रकाश के काल से संयोग द्वारा जिस शक्ति का समुच्छलन होता है, उसी को काली कहते हैं। यह पराशक्ति है। स्वेच्छावभासित प्रमातृप्रमेयात्म विश्व का उन उन विभिन्न रूपों में कलन करने वाली यह शक्ति है। काल क्रमाक्रमात्मा होता है। क्रमाक्रमावभास-भासित विश्व की कलना इसी के माध्यम से होती है।[5] कल धातु शब्द, क्षेप, संख्यान और गति इन चार अर्थों में प्रयुक्त होती है। क्रमशः—१. कलयति-परामृशति अर्थात् परामर्श करती है; २. क्षिपति अर्थात् विक्षेप करती है; ३. विसृजति, संहरति और गणयति अर्थात् सृष्टि संहार की गणना करती है तथा ४. गच्छति-गति प्रदान करती है। इन चार अर्थों की इयत्ता का आकलन करती है।

आकलन करने वाली शक्ति काली कहलाती है।[6] महाविद्या तत्त्व में

१. श्रीमद्भ० गीता १०।४१, १९
२. त० १.६०-६१
३. तं० १.५
४. पू० प्र० १४६-१४७
५. त० ६।७
६. त० ३।२५२-५३

वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी कलविकारिका मथनी दमनी और मनोन्मनी दश शक्तियों में काली मुख्य शक्ति हैं।

कर्षणी—अनुत्तरा संवित् सदाशिव से लेकर धरापर्यन्त जगत् को सृष्ट करने वाले काल का कर्षण करती है। इसीलिये उसे कर्षणी कहते हैं।[1] कर्षण का तात्पर्य स्वात्मायत्तापूर्वक अवभासन है। एतदर्थ यह कर्षणी है। कल धातु के अर्थानुसंधान से यह सिद्ध होता है कि काली ही कर्षणी भी है।[2]

चण्डी—चण्ड विक्रम होने के कारण यह पराशक्ति चण्डी है। यह अखिल जगत् का परिपालन करती है समस्त अशुभ से उत्पन्न भय का नाश भी करती है।[3] चण्ड मुण्ड घातिनी चामुण्डा भी यही है।[4] महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती तीनों के एकीकृत विग्रह को चण्डी कहते हैं। दुर्गा के अनन्त नामों में एक नाम चण्डी भी है। इसीलिए सप्तशती दुर्गा को चण्डीपाठ भी कहते हैं, जिसमें तीनों चरित्र निहित हैं।

वाणी—अनुत्तर पराशक्ति परावाक् रूप से सर्वत्र व्याप्त है। नाद इसका मूल स्वर है। पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी के क्रम से यह वाणी या सरस्वती के रूप में व्यक्त होती है। परावाक् के रूप में यह स्वरसोदिता प्रत्यवमर्शात्मा चिति सर्वत्र उल्लसित स्फुरित होती है।[5] उल्लिलसिषा के कारण यही त्रिपुरा भी कहलाती है। यह एकाशीति पदा होती है।[6] शब्दराशि के संघट्ट से यह मालिनी भी कहलाती है। पञ्चाशद् वर्णवाली मातृका या वर्णमाला भी यही है।[7] मूलतः वाणी जीवसमुदाय के जीवकला रूप से परिस्फुरित होती है। चित्प्रकाश से अतिरिक्त यह नहीं है। नित्योदित महामन्त्ररूपा पूर्णाहं विमर्शमयी आदिक्षान्तरूपा अशेषशक्तिचक्र गर्भिणी वाणी है।[8]

भोग—भोग, भोग्य और भोक्ता यह तीन स्थितियाँ शिव की शक्तिमत्ता की प्रतीक हैं। हठपाक क्रम से अलंग्रास युक्ति के द्वारा स्वात्मसात्कार को भोग कहते हैं। (तं० ४।१७०) प्रमात्र्येकात्म्यरूप से वर्तमान (सर्वःसर्वात्मकः

१ त० ३।२३४
२. त० ४।१७३-१७६
३. दु० स० ४।४
४. तं० ७।२७
५. पू० प्र० पृ० ४७।३७३
६. तं० शी० ९।७
७. तं० ३।१९९
८. प्र० हृ० सू० १२ का भाष्य

इति) सार्वात्म्य रूप भावों का ही भोग होता है। भोग्य चन्द्र होता है और भोक्ता सूर्य। जैसे प्रमेय प्रमाण के अतिरिक्त अन्य नहीं होता, उसी तरह भोक्ता ही भोग्यभाव से उपस्थित होता है। वास्तव में अनुत्तरानन्दमय परम शिव ही भोक्ता है और इच्छा उन्मेष आदि भोग्य हैं। भोग्यत्व को ही शक्तित्व कहते हैं। भोग्य की भोक्ता में विश्रान्ति होती है और उसका भोग करना उसकी परमानन्दानुभूति मात्र ही है। भोक्ता अ इ उ, भोग्य आ[1] ई और ऊ हैं। चित्, इषि और उन्मेष की विश्रान्ति ही भोग है।

दृक्—दृक् ज्ञान का ही पर्यायवाची शब्द है। जड से इसकी भेदवादिता स्पष्ट है। यह स्वभासा होती है। प्रकाशमानता ही आभास है। आभासन ही उसका रूप है। जो पर को भी प्रकाशित करता हुआ स्वात्मप्रकाशन में भी सक्षम है, वही स्वप्रकाश होता है।[2] बोधात्मक समस्त क्रियामय प्रकाशविमर्शरूप परमशिव की दो शक्तियों में पहली दृक् और दूसरी क्रिया ही है। यही उसकी गतिशीलता से सम्बन्धित रहस्य है।[3] माया अदृकक्रिय होती है। ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ वहाँ पूर्णतया तिरोहित रहती हैं। (तं० ९।१७५)

नित्या—परमेश्वर अकाल पुरुष है। उसके ५ गुणों में नित्यत्व चौथा गुण है। काल नित्यत्व को ही कलङ्कातङ्क से संकुचित और नियन्त्रित करता है, जिससे जीव कालकवलित होता है।

भगवती चिति स्वतन्त्र है। विश्वसिद्धि की वह कारण भी है। इसलिए देश, काल और आकार इस नित्य उदीयमान और उदित भगवती चिति के विश्वात्मक स्वरूप को परिच्छिन्न नहीं कर सकते। नित्योदित समाधि का लाभ प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के साधकों को अवश्य ही होता है। भगवती चिति, शाश्वत रूप से सर्वत्र व्याप्त है। यह महाभाव उसे सर्वदा तृप्त करता रहता है। यही नित्या शक्ति है।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार विभिन्न अर्थों के सन्दर्भ में, परमेश्वर की पूर्णता शक्ति का व्याख्यान और अभिधान आगमिक विद्वान् करते रहते हैं। उक्त सभी शब्द अपने अन्वर्थ में ही प्रवृत्त हैं। साथ ही सभी शिवशक्ति परक

१. तं० ३।१८६-१९१ २. ई० प्र० वि० १,३।२ ३. तं० ११।०३

भी हैं।[1] साधक किस प्रकार उसका ध्यान करता है, यह उसके ऊपर निर्भर करता है। साधक के हृदय में ध्यानानुसार व्यक्त शिवशक्ति होती और भक्ति का सञ्चार करती है। उससे संसार की सम्पत्ति की समवाप्ति भी सरलतया हो जाती है।

सा च समग्रशक्तितादर्शनेन पूर्णतासंवित् प्रकाशते। शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः। किं बहुना, यत् विश्वं ताः अस्य शक्तयः, कथम् उपदेष्टुं शक्याः इति। तिसृषु तावत् विश्वं समाप्यते। यया इदम् शिवादिधरण्यन्तम् अविकल्प्यसंविन्मात्ररूपतया बिभर्त्ति च, पश्यति च, भासयति च, परमेश्वरः सा अस्य श्रीपराशक्तिः

वह पूर्णता [परमेश्वर स्वभाव] मयी संवित् समग्र शक्तिमत्ता को दर्शित करती हुई प्रकाशित होती है। परमशिव की शक्तियाँ अनन्त हैं। अधिक क्या कहना, जो (कुछ) विश्व है [इस प्रसार में प्रसरित] उतनी ही इसकी शक्तियाँ हैं। [भला वे] किस प्रसार उपदिष्ट की जा सकती हैं। [फिर भी यह कहा जा सकता है कि] सारा विश्व प्रसार तीन शक्तियों में समाहित हो जाता है।

परमेश्वर जिस शक्ति के द्वारा सदाशिव से धरापर्यन्त इस [विश्वप्रसार को] अविकल्प्य संविन्मात्र से पोषित या धारित करता है, देखता है, भासित करता है, वह परमशिव की पराशक्ति है।

सिद्धान्त यह है कि प्रकाश ही प्रकाशित होता है। विश्व तो परतः प्रकाश्य है फिर यह कैसे प्रकाशित है? इस जिज्ञासा का उत्तर ग्रन्थकार दे रहे हैं कि, पूर्णतामयी संवित् ही सर्वत्र प्रकाशमान है।[2] वह इस सृष्टि में सामस्त्येन शक्ति का प्रदर्शन करती है। भगवती चिति स्वेच्छा से स्वभित्ति में विश्व का उन्मीलन करती है।[3] विश्व के उन्मीलन का तात्पर्य ही समस्त शक्तिमत्ता से विश्व का प्रकाशन है। विश्व तो संविन्मात्र में

१. प्र० प्र० १४६-१४७
२. तं० ३।११९ [संवित्प्रकाशं माहेशम्], ३।३ [इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रदर्शकः]
३. प्र० हृ० २

मयूराण्डरसन्याय से विद्यमान है। उसी का संविन्नैर्मल्य में प्रकाशन होता है। परमशिव ही इस सृष्टिसंहाराडम्बर का प्रदर्शक है। दर्शन शब्द का ण्यन्तर्गभितार्थ और सामान्यार्थ के दृष्टिकोण से दिखलाना और देखना दोनों अर्थ होता है। परमशिव की परासंविद् इस इदमात्मक प्रसार को देखती हुई और दिखलाती हुई शक्तिमत्ता का प्रदर्शन करती हुई प्रकाशित होती है। इस संवित् की शक्तियों की गणना नहीं की जा सकतीं। वे असंख्य हैं। असंख्यता के सम्बन्ध में कहा ही क्या जा सकता है। सदाशिव से लेकर धरा पर्यन्त इदमात्मक विश्व का विस्तार माना जाता है। यह विश्व का अप्रतर्क्य विस्तार परमेश्वर की पूर्ण शक्ति का चमत्कार है। विश्व का जितना विस्तार है—सब शक्तियाँ ही हैं। उनका उपदेश करना असम्भव है। सबका यथावत् कथन कैसे किया जाय ? फिर भी यह स्पष्ट है कि, तीन शक्तियों में विश्व का समापन होता है, विश्व सम्यक् रूप से आप्त होता है। परमेश्वर इस विचित्र विस्फार का भर्त्ता, द्रष्टा और आभासकर्त्ता, प्रकाशक या उन्मीलक है। वह संवित् शक्ति से इसका प्रकाशन करता है। विकल्प संवित् से यह नहीं होता है, उससे उच्च दशा में अवस्थित अविकल्प उस संवित् शक्ति के प्रभाव से ही वह इदमात्मक-रिक्तता को भरता रहता है। स्वयं तटस्थ द्रष्टा बनकर नहीं अपितु इसी में स्वतः स्वात्मैक्य भाव से विद्यमान रहते हुए देखता है और स्वात्म-भित्ति में ही इसका आभासन भी करता है। जिस शक्ति द्वारा यह सब होता है, वह उसकी परा शक्ति है। यह परमशिव की सर्वोत्कृष्ट, चिति, स्वातन्त्र्य शक्ति है।

यया च दर्पणहस्त्यादिवत् भेदाभेदाभ्यां सा अस्य श्री परापराशक्तिः। यया परस्परविविक्तात्मना भेदेनैव सा अस्य श्रीमदपराशक्तिः। एतत्त्रिविधं यया धारणम् आत्मन्येव क्रोडी-कारेण अनुसन्धानात्मना ग्रसते, सा अस्य भगवती श्रीपरैव श्रीमन्मातृसद्भावकालकर्षिण्यादि शब्दान्तरनिरुक्ता।

जिसके द्वारा दर्पण और हाथी के समान भेद और अभेद से [भासित करता है] वह इस [परम शिव] की श्री परापराशक्ति है।

१. प्र० हृ० १

जिसके द्वारा परस्पर विविक्तभाव से भेद से ही [भासित होता है] वह इसकी अपरा शक्ति है। इस त्रैविध्य का जिसके द्वारा धारण होता है, स्वात्म में ही क्रोडीकरण व्यापार के द्वारा अनुसन्धान-प्रत्यवमर्श या या विमर्श करते हुए ग्रसता है, वह इस [परमशिव] की भगवती श्री पराशक्ति ही है। यही श्रीमातृशक्ति सद्भाव-शालिनी काल-कर्षिणी इत्यादि विभिन्न शब्दों के द्वारा निरुक्त होती है।

दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखलायी देता है। वह दर्पण का रूप-नैर्मल्य है। रूप उसमें प्रतिबिम्बित हुआ। वह रूप यदि हाथी का हो, विशाल हो तो भी उसमें प्रतिबिम्बित होगा ही। वह प्रतिबिम्बित रूप, बिम्ब के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बिम्ब से अभिन्न है फिर भी भेदरूप से भासित होता है। यह भेद भी अभेद से संवलित है। भेदाभेद के द्वारा परम शिव ही प्रकाशमान है। परमशिव की यह शक्ति श्री परापरा देवी के नाम से अभिहित है।

इससे भी अवरोह रूप में आगे नीलपीत सुखादि ग्राह्य पदार्थों; देह प्राण, बुद्धि आदि विकल्प संविद् के प्रतीक प्रमेयों में विविक्त भाव का और व्यवहार में भी भेदवादिता के कारण पार्थक्य का आभास होता है। इस पृथगाभासप्रदायिनी शक्ति को परम शिव की अपरा शक्ति कहते हैं।

इन तीन प्रकार की परा, परापरा और अपरा शक्तियों के त्रैविध्य को जिस स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा स्वात्म में ही संधारण कर, अपने भुजान्तरों में आलिङ्गन सा करता हुआ, शाश्वत प्रत्यवमर्श द्वारा संहार भी कर लेता है, यह उस परम शिव की सृजन और संहार शक्तियों का ही चमत्कार है। पंचकृत्यविधायक परमशिव की सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व पूर्णत्व, नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व शक्तियों का समुल्लास है। ये समस्त शक्तियाँ भगवती श्री परा की ही विभूतियाँ हैं। इसी श्री परा शक्ति को मातृसद्भाव अर्थात् क्रमयौगपद्यावभास एवं सदोदित परामर्श स्वभाव के कारण कालकर्षणी इत्यादि शब्दों के द्वारा शास्त्र में अभिहित करते हैं।[१]

परा, परापरा और अपरा शक्तियों के कारण ही इसे षडर्ध दर्शन कहते हैं या त्रिक दर्शन की संज्ञा प्रदान करते हैं। इन शक्तियों के अधि-

१. तन्त्रा० ४-१७२-१८२

ष्ठान का ध्यान-क्रम पृथक्-पृथक् है। ईश्वर महाप्रेत है। उसकी नाभि से त्रिशूल निकला। उसके शृङ्गों पर तीन शाक्त पद्म हैं। मध्य शृङ्गपद्म पर परा शक्ति, दक्षिण शृङ्गपद्म पर परापरा और वाम शृङ्गपद्म पर अपरा-शक्ति विराजमान है। इस एकदण्ड त्रिशक्तिक शक्तिशूल का स्वरूप चिन्तन का विषय है।[1] महाडामरक याग में श्री परा शक्ति मस्तक में स्थित बतलायी गयी है। श्री पूर्वशास्त्र में यह मातृ सद्भाव शब्द से निरूपित है। मातृ शक्तियों का यह शोभन सद्भाव महत्वपूर्ण है।[2] परा शक्ति इच्छा शक्ति ही है। (तं० आ० ३।५९) परापरा ज्ञानशक्ति है। इनका विलक्षण विस्तार यह सूक्ष्म स्थूल जगत् है।

ताः एता चतस्रः शक्तयः स्वातंत्र्यात् प्रत्येकं त्रिधैव वर्त्तन्ते। सृष्टौ स्थितौ संहारे च इति द्वादश[3] भवन्ति। तथा-हि—१. संवित् पूर्वम् अन्तरेव भावं कलयति, २. ततो बहिरपि स्फुटतया कलयति, ३. तत्रैव रक्तिमयतां गृहीत्वा ततः तमेव भावम् अन्तरुपजिहीर्षयाकलयति च, ४. ततश्च तदुपसंहार विघ्नभूतां शङ्कां निर्मिणोति ग्रसते च, ५. ग्रस्तशङ्कांशं भाव-भागम् आत्मनि उपसंहारेण कलयति, ६. तत उपसंहर्तृ स्वभावमेव कलयति, ७. तत उपसंहर्तृ स्वभावकलने कस्य-चिद्भावस्य वासनात्मना अवस्थितिं कस्यचित्तु संविन्मात्राव-शेषतां कलयति, ८. ततः स्वरूपंकलनानान्तरीयकत्वेनैव करण[4] चक्रं कलयति, ९. ततः करणेश्वरमपि कलयति, १०. ततः कल्पितं मायीयं प्रमातृरूपमपि कलयति, ११. संकोच त्यागो-न्मुख-विकासग्रहणरसिकमपि प्रमातारं कलयति. १२. ततो विकसितमपि रूपम् कलयति।

१. मा० वि० तं० अधिकार ८।७१-८१
२. मा० वि० तं० अ० ३।५-१३
३. प्र० हृ० १
४. ६।१८८ तं० ४।१२३-१२५

वे ये अपरा, परापरा, परा और मातृसद्भाव-कालकर्षणी चार शक्तियाँ प्रत्येक तीन-तीन प्रकार की हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार में भी ये बारह ही होती हैं—१. [परमेश्वर स्वभावरूपा] संवित् पहले अन्तः [स्थित] भावों का कलन करती है। २, तत्पश्चात् [अन्तः-कलन के अनन्तर] स्फुटतया बाह्य का भी आकलन करती है। ३. वहीं रागवत्ता को स्वीकार कर पुनः उसी भावके अन्तर में उपसंहृतिकी आकांक्षा से कलन करती है। ४. उपसंहार में विघ्नरूपी शङ्काका क्षेपण करती है और ग्रस्त करती है। ५. ग्रस्त शंकांश भाव भाग के स्व में उपसंहारका आकलन करती है। ६. तत्पश्चात् उपसंहर्तृत्व ही मेरा रूप है, यह 'स्व, स्वभावरूप से जानती है। ७. इस ज्ञान में किसी भावकी वासनामयी अवस्थिति और किसी संवित् मात्र अवस्थितिका आकलन करती है। ८. स्वरूपाकलनके साथ ही करणचक्र का कलन करती है ९. पुनः करणेश्वर आकलन करती है। १०. तदनन्तर कल्पित मायीय प्रमातृ रूप में ११. तत्पश्चात् संकोचत्यागोन्मुख विकास ग्रहणरसिक प्रमाताको और १२, पुनः विकसित रूप को कलित करती है। [यही इसकी द्वादश कलना है।]

अपरा, परापरा और परा शक्तियों तथा मातृसद्भावसमन्विता कालकर्षणी इन चार शक्तियों में स्वातन्त्र्य शक्ति का शाश्वत समवाय है। भगवती चिति स्वतन्त्र है। वह स्वातन्त्र्य सभी मुख्य शक्तियों में स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा ये प्रत्येक सृष्टि, स्थिति और संहार अवस्थाओं में बारह प्रकार की हो जाती हैं। सृष्टि की चार, स्थिति की चार और संहार की चार अवस्थाओं में ये शक्तियाँ १२ प्रकार की होती हैं।

एक ही परा संविद् इन विभिन्न भेदात्मक द्वादश रूपों में सर्वत्र अव-भासित होती है। यह प्रत्यवमर्शात्मा होती है। अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से प्रमाता और प्रमेय आदि उभय रूपों में अपने आपको अवभासित करती हुई अवस्थित है। वस्तुतः परा संविद् के अतिरिक्त अन्य आभास की बात ही नहीं सोची जा सकती है फिर भी तदतिरिक्तातिरेकायमाण प्रमाता प्रमेय आदि का अवभासन वही करती है।

क्रम सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं द्वादश रूपात्मक देवियों के द्वादश आकलन होते हैं। उनका क्रम इस प्रकार है—

१. पहली अवस्था में परा संविद् शुद्धा होती है। आभासन के लिए उत्सुक रहती है। आभासन के पहले प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयादि नियत रूपों से अनारूषित रहती हुई यह काल संकर्षिणी शब्द से अभिहित होती है। अनतिरिक्त भावराशि की सिसृक्षा के विमर्श के कारण यह सृष्टिकाली भी कहलाती है।[1] यह प्रमेयगत सृष्टि का आकलन है।

२. दूसरी अवस्था में अपने स्वातन्त्र्य के बल पर प्रमाण दशा में अधिशयाना वही परा संवित् अतिरेकायमाण विश्वलक्षण वस्तु के रूप रस आदि अंशों में, बहिरभिव्यक्ति की स्फुटता में, रंजना का आकलन करती है। यही भावों की परा संवित् में स्थिति है अर्थात् अवभासनात्मक अभिव्यक्ति है।[2] मान सदा मेय से उपरंजित होता है। मान रूप से बहिर्मुखता स्वीकार कर माता हो स्फुरित होता है। मान के द्वारा ही मेय का उपरंजन होता है। मेय में यह आसक्ति होती है और आसक्ति की रंजकता ही रक्तकाली का आकलन है।

३. इसी में रंजकता या रक्तिमयता को स्वीकार करती है। प्रमाण रूप रक्ति नामक स्थिति का आकलन करती है। 'मेरे द्वारा यह ज्ञात हुआ' इस प्रकार की स्वात्म विश्रान्ति के चमत्कारात्मक रस से, आत्मसात् करने की आकांक्षा से उसका आकलन करती है। इसमें स्थिति का एक प्रकार से नाश ही होता है। यह उपसंजिहीर्षा (संहर्तुम् इच्छा जिहीर्षा) भगवती द्वारा आत्मसात् करने की प्राथमिक प्रक्रिया है। इस स्थिति को नाश काली का आकलन भी कहते हैं। यह प्रमेयगत संहार का स्वरूप है।

४. प्रमेयगत अनाख्य दशा में (संहार के द्वारा विश्रान्तिजन्य चमत्कार में) प्रमातृतात्मक पूर्ण रस का जो उदय पहले होता है, उसमें स्वयं विघ्न उपस्थित करती है। परिमित प्रमाता की भूमिका को परिगृहीत कर बहिरौन्मुख्यात्मक एक भाग में स्व को संयत कर "यह करणीय है और यह अकरणीय है" यह आकलन करती है। यम तो विकल्प को ही कहते हैं। उससे अनुप्राणित एक प्रकार की विचिकित्सा का उदय होता है। शास्त्रों की अनन्तता और कार्याकार्य विभाग में विपर्यय ही शङ्का को जगा देते हैं। परिणामतः स्वरूप के अनुप्रवेश में विघ्न पड़ता है।

१. यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टि कालीति सा स्मृता तं० ४ पृ० १५८ प० ११
२. स्थितिरेषैव मानस्य त० ४ पृ० १५९ प० ७

अन्तरौन्मुख्यात्मक द्वितीय भाग में नियति-जन्य संकोचात्मक विधि-निषेध से परे पर-संविदात्मक स्वरूप में समस्त भावराशि को आमृष्ट करती है। इस प्रकार भाव संहतिका आत्म-संविद् में विलापन कर वह शक्ति यह आकलन करती है कि "मैंने इसका ग्रास कर लिया। यह भाव संहति मुझसे ग्रस्त हो गयी।" दोनों भागों में नियत और अनियत भावोपसंहार होता है। कहीं संकोच और कहीं विकास के कारण नियत रूप से नहीं कहा जा सकता कि, यह नितान्ततः संकोचमयी ही है या विकासमयी ही है। इसीलिए इसे यमकाली रूप से स्मरण करते हैं। उपर्युक्त चारों देवियाँ प्रमेयांश के ग्रास का रसास्वाद करने वाली हैं!

५. पाँचवीं देवी शक्ति स्वात्म-संविद् में ग्रस्त शङ्कांश भावभाग के उपसंहार का आकलन करती है। ग्रस्त शङ्कांश भावभाग प्रमाणांश ही हैं। इस दशा में कार्य और अकार्य, करणीय और अकरणीय रूप अनर्थों का परिहार हो जाता है। वह निखिल भाव-मण्डल के संहार का आकलन करती है। यह आकलन स्वात्मवह्नि में विलापन है। विलापनात्मिका भाव संहृतिका आमर्श 'यह सब मेरे द्वारा ग्रस्त हो चुका है' इस रूप में होता है। अर्थात् समस्त भाव वर्ग मुझ में अभेदभावसे अवभासित है—यह स्फुरत्ता होती है। यह प्रमाणांश के ग्रास का अवभासन है। इस अवस्था से विभूषित देवी को संहार काली कहते हैं। यह संविद् देवी की उन-उन प्रमाणांशों में उन-उन अर्थों से आरूषित स्थिति है! यह विचित्र अनुभूत्यात्मक स्थिति है। संविद् प्रमाणांशमें स्थित होकर अपना आमर्श करती है। इस आमर्श में भावों की यह सृष्टि ही कही जाती है!

६. यह निखिलार्थ संहर्त्री देवी का आकलन है। इसी उपसंहर्तृत्व भाव को यह अपना रूप मानती है। इसके स्व-स्वभाव के इस आकलन में इसका संहर्तृत्व ही व्यवस्थित रह पाता है। प्रमाणमयी इस दिव्यशक्ति भगवती काली के आकलन में 'मम इदं रूपम्' का ही परामर्श होता है।

७. जिस समय उपसंहर्तृत्व स्वभाव का आकलन होता है, उस समय आकलन की प्रमाणात्मक सोपाधि और निरुपाधि दो स्थितियाँ होती हैं। सोपाधि दशा में वासनात्मकता का पुट होता है और निरुपाधि दशा में संविन्मात्र की अवशेषता का आकलन होता है। अर्थात् निराभासा संविद् ही एकमात्र अवशिष्ट है—यह विमर्श रहता है। चूँकि आत्मा भी संवित्ति

में ही भासता है। इसलिए सभी भाव भी स्वभावतः संवित्ति में ही भासित होते हैं। यह आकलन एक प्रकार से उक्त सभी आकलनों का उत्स बन जाता है। यही प्रमाणांश में स्थितिका आकलन है।

८. आठवीं अवस्था में संविन्मात्रावशेषता के आकलन के अनन्तर ही करण चक्र का आकलन करती है। असाधारण कारण को करण कहते हैं। आणव समावेश में उच्चार, करण आदि का प्रकल्पन होता ही है।[1] यह करण सात प्रकार का होता है। बोधपूर्वक अभ्यास के द्वारा स्वात्म में स्व की संस्थिति होती है। ग्राह्य, ग्राहक, चित्, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेशन के अभ्यास के द्वारा ही स्वात्म सत्ता में स्व की प्रतिष्ठा सम्भव है।[2] करण चक्रों ५ कर्मेन्द्रियों ५ ज्ञानेन्द्रियों १ मन १ बुद्धि के आकलन द्वारा मान रूपी विज्ञान में संविद् की प्रतिष्ठा होती है।[3] माता, मान और मेय में सृष्टिस्थिति, संहार और अनाख्य संस्थिति से द्वादश स्वरूपता सिद्ध होती है।

९. नवीं अवस्था में करण चक्रों के आकलन के अनन्तर [4]करणेश्वर अहंकार का आकलन होता है। यह तेरहवाँ करण है। करणेश्वर भैरव हैं। क्योंकि यह करणचक्र भैरवीय महाचक्र कहलता है।[5]

१०. दशम दशा में कल्पित मायीय प्रमाताओं का आकलन करती है। यह मार्तंडकाली कहलाती है। —तं० ४।१६३-१६५

११. संकोच के त्याग में उन्मुख और विकास ग्रहण में रसिक प्रमाताओं का (तं० ४।१६६-१६७) आकलन भी वही द्वादशात्मशक्ति करती है। इसके प्रमाता कालाग्नि और रुद्र कहलाते हैं। इसमें रोधन द्रावण दोनों व्यापार होते हैं। यह संकुचित आणवमल युक्त परिमित प्रमाता की संज्ञा है।

१२. इसके पश्चात् विकसित रूप का आकलन करती है। इस शक्ति को परमार्क काली कहते हैं। इसका प्रमाता महाकाल है। इसमें कालाग्निरुद्र काली शक्ति जागृत रहती है। स्वात्म संवित्ति में 'इदं अहम् विभुः' की विकसद्रूपा संवित्ति अवभासित होती है। (४।१६९) यह १२ बारह संविद्की शक्तियाँ

१. तं० १।१७०
२. तं० ५।१२९-१३०
३. तं० ४।१२५
४. तं० ४।१६१, ५।३१
५. तं० ५।३२-३५

ऐश्वर्य सम्पन्न होने और आकलन करने के कारण भगवती काली कहलाती हैं। करणवर्ग भी १२, सूर्य भी १२ मास और कलायें भी बारह ही होती हैं।[1]

उपर्युक्त सभी आकलन संविद् शक्ति के प्रसार में ही सम्भव हैं। संविद् का आकलन परम माहेश्वर्यत्व प्राप्त सिद्धजनों की महार्थ सत्ता की अनुभूति है। साधक इन्हीं आकलनों के क्रम से उस परम संवित्सत्ता के आन्तर समावेश में सक्षम हो सकता है।

कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि की द्वादशात्मकता का प्रकाशक होने के कारण यह सूर्यात्मक है। इन्हीं की कलना में समस्त कालिका शक्तियों का प्रसार अनुस्यूत होता है। रक्तकाली, स्वकाली, यमकाली, मृत्युकाली, कालाग्निरुद्रकाली, महाकाली, चण्डकाली, संहारकाली, उग्रकाली, भद्रकाली, मार्तण्डकाली, परमार्ककाली इन नामों से वही महाकाली अभिहित होती है।[2] बारह तेरह या सत्रह रूपों में इनकी उपासना होती है।

इति एता द्वादश भगवत्यः संविदः प्रमातॄन् एकं वापि उद्दिश्य युगपत्क्रमेण द्विशः त्रिशः इत्यादि स्थित्यापि उदयभागिन्यः चक्रवदावर्त्तमाना बहिरपि मासकलाराश्यादिक्रमेण अन्ततो वा घटपटादिक्रमेणापि भासमानाः चक्रेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं पुष्णत्यः श्री कालीशब्द वाच्याः। कलनं च—गतिः, क्षेपो, ज्ञानं, गणनं, भोगीकरणं, शब्दनं स्वात्मलयीकरणं च। यदाहुः श्री भूतिराजगुरवः—

'क्षेपाज्ज्ञानाच्च काली कलनवशतयाथ...।' इति एष च अर्थः तत्र तत्र मद्विरचिते विवरणे प्रकरणस्तोत्रादौ वितत्य वीक्ष्यः। न अति रहस्यम् एकत्र ख्याप्यं, न च सर्वथा गोप्यम् इति हि अस्मद्गुरवः।

१. तं० ४। पृ० १५६ पं० १-३
२. तं० ४ पृ० १६८-१८९-१९३

ये बारह भगवती संविद् [शक्तियाँ] अनन्त प्रमाताओं अथवा एक [प्रमाता को] ही उद्देश्य कर एक काल में क्रमशः द्वित्रि स्थिति में भी उदय होने वाली और चक्र के समान आवर्त्तमान [होने वाली हैं] बाह्य जगत् में भी मास, कला और राशि आदि क्रम से[1] और अन्त में घट तथा पट आदि क्रम से भासमान [हैं ।] चक्रेश्वर के स्वातन्त्र्य का पोषण करती हुईं श्री काली शब्द से अभिहित हैं ।

कलन [के सात अर्थ हैं]—१. गति (गमन) २. गति क्षेप, ३. गति ज्ञान, ४. गणना, ५. भोगना, ६. ध्वनन और ७. स्वात्मलयीकरण । गुरुवर्य भूतिराज ने कहा है—क्षेप और ज्ञान [अर्थों के अनुसार] यह काली है । अथवा [कलन के कारण] [काली है ।] यह समस्त अर्थ स्थान-स्थान पर मेरे द्वारा रचित विवरणों और प्रकरण-स्तोत्रों आदि में द्रष्टव्य हैं । हमारे पूज्य गुरुवर्य का आदेश है कि, रहस्य की बातों का उद्घाटन भी योग्य नहीं है, न ही अत्यन्त गोपन भी योग्य है ।

उपर्युक्त द्वादश शक्तियाँ काली शब्द से अभिहित की जाती हैं । ये सभी परा संविद् रूपा हैं । उसके अतिरिक्त ये कोई पृथक् वस्तु नहीं हैं । इनकी ऐश्वर्यशालिता में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है । इसीलिए इन्हें भगवती कहते हैं । भग शब्द का अर्थ ऐश्वर्य है । मतुप् प्रत्ययान्त स्त्रीत्व शक्ति विशिष्ट भगवती शब्द निष्पन्न होता है । इससे सारा ऐश्वर्य इसका ही है–यह भाव व्यक्त होता है । इस भावार्थ से संवलित भगवती शक्तियाँ प्रमाताओं के माध्यम से उदीयमान होती हैं । प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयमय ही यह विश्व है । सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल प्रमाताओं के स्तर के अनुकूल ये उदित होती हैं । कभी एक या दो या तीन कलनाओं के क्रम से ये स्वतः उत्पन्न होती हैं ।

जैसे चक्र अपने अरों के द्वारा क्रमशः गतिशील होता है, उसी प्रकार ये ऐश्वर्य सम्पन्न शक्तियाँ द्वादश कलाओं में चक्र के समान ही आवर्त्तमान होती हैं । इनके अन्तः कलन की तरह[2] बाह्यकलन भी शाश्वत रूप से प्रवर्तित हैं । दिक्, काल, देश और

१. तं० ४।१४६ २. तं० ४।१४७

वस्तु में ये सदा मेय, भोग्य, ग्राह्य और ज्ञेय रूप से उपस्थित रहती हैं । कालचक्र की गतिशीलता के प्रतीक ही मास, कला और राशि आदि परिलक्षित होते हैं ।[1] सूर्य विभिन्न राशियों पर चलता हुआ मास के रूप में काल का विभाजन करता है । उसकी गतिशीलता के क्रम ही काल रूप से ज्योतिष शास्त्र में जाने जाते हैं । विकास या अवरोह की अवस्था में अन्तिम रूप से स्थूलता का आकलन ये शक्तियाँ करती हैं । इस अवस्था में घट (घड़े) और पट [वस्त्र] आदि समस्त स्थूल पदार्थों में प्रतिभासित होती हैं । इस प्रकार यही १२ शक्तियाँ शिवादि-धरान्त प्रत्याहार में अभिव्यक्त हैं । आदि अनुत्तर स्थानीय व्यंजन 'क्' और अन्त्य अनुत्तर विसर्ग जन्य व्यंजन 'स्' इनके साथ अनुत्तर परमशिव रूप 'अ' और इन तीनों का समवेत स्वरूप 'क्ष' कार चक्रेश्वर[2] कहलाता है । यह सर्वैश्वर्य सम्पन्न परमशिव ही चक्रेश्वर है । श्री परा, परापरा और अपरा शक्तियों का यह संविद्विलास (विश्वात्मक प्रसार) इन्हीं से परिपुष्ट भी है । ये सभी काली[3] शब्द से अभिधीयमान हैं । कल धातु से काली शब्द निष्पन्न होता है । कल धातु के सात अर्थ ध्यातव्य हैं । पहला अर्थ गति है । गति धात्वर्थ से प्रक्षेप, ज्ञान, गणना, भोगना शब्द करना स्वात्मपरामर्श और स्वात्मसात् करना ये सभी अर्थ अध्याहार्य होते हैं । गमन, प्रापण, ज्ञान और मोक्ष ये चार गतियाँ गम् धातु से ही व्यक्त हो जाती हैं । किन्तु कलधातु में इन चारों का अनुसन्धान होता है और इनके अतिरिक्त प्रक्षेपण गणन और शब्दन इन तीन अर्थों का भी व्यंजन होता है । शब्दन से तात्पर्य स्वात्मानुसन्धान या स्वात्म-परामर्श से ही है ।

आचार्य गुरुवर्य श्री भूतिराज ने क्षेपण, कलन और ज्ञान इन तीनों अर्थों के आधार पर इन शक्तियों को काली संज्ञा से विभूषित किया है । ये सभी अर्थ एक स्थान पर ही उपनिबद्ध नहीं हैं । उनकी कृतियों में उनकी रचनाओं में और प्राकरणिक स्तोत्रों में इन अर्थों का उद्भावन किया जा सकता है । इनके एक स्थान पर उल्लेख न करने का कारण कोई आग्रह नहीं, वरन् आचार्य प्रवर 'अभिनव' के गुरुवर्य का आदेश है[4] कि, अति रहस्य का एकत्र ख्यापन उचित नहीं है । रहस्यों का

१. तं० ४।१४६ २. तं० ६।१३६
३. तं० ४ पृ० १६१ पं० १-१३ ४. तं० ४।१४६

सर्वदा सर्वथा गोपन भी उचित नहीं है। इसी ऊहापोह में चक्र[१] या चक्रेश्वर की अभिव्यक्ति का रहस्य भी है उद्घाटित हो जाता है। इसी चक्र से ब्रह्माण्ड उत्पन्न है।[२]

तदेवम् यदुक्तम् यागहोमादि तत् एवं विधे महेश्वरे एव मन्तव्यम्। सर्वे हि हेयमेव उपादेयभूमिरूपं विष्णुतः प्रभृति शिवान्तम् परमशिवतया पश्यन्ति, तच्च मिथ्यादर्शनम् अवश्य–त्याज्यम् अनुत्तर योगिभिरिति, तदर्थमेव विद्याधिपतेः, अनुभवस्तोत्रे महान् संरम्भः। एवं विधे यागादौ योगान्ते च पञ्चके प्रत्येकं बहु प्रकारं निरूढिः यथा यथा भवति तथैव आचरेत्, न तु भक्ष्याभक्ष्यशुद्ध्यादिविवेचनया वस्तुधर्मोज्झितया कल्पनामात्रसारया स्वात्मा खेदनीय इति उक्तं श्री पूर्वादौ।

इस प्रकार याग और होम आदि महेश्वर में ही मान्य हैं। सभी [अन्य मतवादी] हेय को ही उपादेय और विष्णु से लेकर शिव तक को परम शिव [रूप में] देखते हैं। यह वस्तुतः मिथ्या दर्शन है [और यह] अनुत्तर योगियों के द्वारा अवश्य त्याज्य है। तदर्थ ही विद्याधिपति के अनुभवस्तोत्र में महान् संरम्भ है। इस प्रकार के याग आदि और योगान्त पञ्चक में प्रत्येक की जैसे-जैसे अनेक प्रकार की निरूढि होती है; उसी प्रकार का आचरण करना चाहिए। भक्ष्याभक्ष्य शुद्धि अशुद्धि ये वस्तु धर्म नहीं हैं। इस कल्पना से आत्मा को भावित नहीं करना चाहिये। [यह रहस्य] श्री पूर्व आदि [शास्त्र] में उक्त है।

याग और होम आदि की चर्चा पहले की जा चुकी है। यह सारी याग होत्मात्मक प्रक्रिया सर्वशक्ति सम्पन्न परम महेश्वर में ही पर्यवसित है। परम शिव की सर्वव्याप्त महिमामयी अग्निशिखा में अखिल इन्द्रियार्थ समुदाय रूप भावराशि का शाश्वत समर्पण एक महा-याग है। साधक को बोधसमाधि के महाप्रकाश-रूप हुताशन में नित्य स्वभाव राशि

६. तं० ४।१२९-१३३ ७. तं० ४।१३३

की आहुति देनी है—उसका यह नित्यकर्त्तव्य है। इससे अद्भुत आनन्द की उपलब्धि होती है—एक दिव्य ज्योति का उजास उल्लसित होता है। यह सार्वात्म्य समर्पण याग है।[१] यह सब इसी सर्वैश्वर्य राशि परमेश्वर महेश्वर में ही शाश्वत रूप से परिचालित है, यही मान्य मार्ग है।

संसार के सामान्य जन ब्रह्मादि स्थावरान्त इस विश्व में आवागमन के चक्र से प्रभावित होते हैं; क्योंकि वे यह नहीं जानते कि, जीवन के उत्कर्ष के लिए, परमशिवत्व की उपलब्धि के लिए अथवा माहेश्वर तादात्म्य के लिए क्या हेय है और क्या उपादेय है ? वास्तव में परमाद्वैत संवित्स्वातन्त्र्य-सौन्दर्य-सारसर्वस्व परम शिव के शैवभाव की प्राप्ति में बाधक सभी तत्त्व हेय हैं। इसीलिए उसे पाशव[२] कहते हैं! शैव-भाव की प्राप्ति में सहायक सभी तत्त्व उपादेय हैं। ज्ञान, तप और क्रिया-चर्या ये तीनों संस्कार[३] दार्ढ्य उत्पन्न करते हैं। अतएव उपादेय हैं। जो महापुरुष हेय-उपादेय विज्ञान के तत्त्व को जानते हैं वे 'हंस' कहलाते हैं, अर्थात् वे अहानादान[४] हो जाते हैं। जो इस ऐसे नहीं होते, वे हेय को ही उपादेय मान कर बाधा-ग्रस्त होकर इस संसार के बन्धन में बँधे रह जाते हैं।

ऐसे लोग ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन शक्तियों को भी परम शिव के रूप में ही मानते हैं। प्रत्यभिज्ञावादी विश्वोत्तीर्ण [संसारोत्तीर्ण] और विश्वात्मक परम शिव को अपना परमाराध्य मानता है। परम प्रकाश माहेश्वर महैश्वर्य संविद्विज्ञानोत्स रूप से उसे स्वीकार करता है। कुछ लोग ब्रह्मा की ही आराधना में, कुछ विष्णु की ही आराधना में और कुछ साधक शिव की आराधना में ही अपने अस्तित्व को खपा देते हैं। यह सब प्रत्यभिज्ञाविज्ञान वेत्ताओं की दृष्टिमें मिथ्या-दर्शन मात्र है। जैसे रज्जु में ही सर्प की भ्रान्ति से भ्रान्त व्यक्ति सत्य से वञ्चित हो जाता है, वैसे ही ऐसे लोग जो अतत्त्वकी आराधना करते हैं, वे भी वस्तुतः सत्य से वञ्चित रह जाते हैं। इसलिए तत्वद्रष्टा अनुत्तर योगी इन समस्त मिथ्या दर्शनों से दूर रहता है। वह यह जानता है कि, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ये वैदिक देवता हैं। भगवान् परम शिव की उपलब्धि के लिए इनमें किसी

१. तं० ४।२०२ एवम् पृ० २३३ पं० ४-५, ७-१०
२. तं० ८।२९२ ३. तं० १।९-१३० ४. ९।१३४-१३१

प्रकार का आग्रह नहीं हो सकता। उस परम पद पर पहुँचने में श्वपच भी समर्थ हो सकता है क्योंकि भक्त श्वपच शिव के समान ही समर्च्य हो जाता है।[1]

उक्त तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य प्रवर श्री विद्याधिपति ने अपने अनुभवस्तोत्र में इस विषय में बड़ा ही सुन्दर विमर्श प्रस्तुत किया है। बड़े संरम्भ पूर्वक उक्त तथ्यों का विश्लेषण किया है।

जप होमादि विविध कर्मों में संव्यापृत व्यक्ति उनसे प्रभावित होता है। दोनों प्रकार के जप होमादि से अलग-अलग प्रकार की भावरूढ़ि उत्पन्न होती है। भौतिक या वैदिक कर्मकाण्ड के वितण्डावादी आयोजनों में देव विषयक रूढ़ि और संविदैश्वर्य-सौन्दर्य-सारसर्वस्व शिव के आन्तर आराधनात्मक याग आदि में अद्भुत प्रकाशोल्लास-परिनिष्ठित निरूढ़ि होती है। इसी क्रम में पारमेश्वर शक्तिपात से पवित्रित साधक की पशुवासनायें क्षीण होती जाती हैं और तत्त्व की समुपलब्धि हो जाती है। चलना तो साधक को ही है। जैसे घुड़सवार की इच्छा के अनुसार ही घोड़ा दौड़ लगाता है; उसी प्रकार साधक इन साधनों के अश्वों के ऊपर सवार होकर (मञ्जिले मकसूद) गन्तव्य को पाने का अधिकारी हो जाता है। दर्पण में अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखकर अपनत्व का भावन करना और स्वात्माभिन्न की रूढ़ि को पा जाना, परमतन्मयी भाव की उपलब्धि में सर्वथा सहायक बन सकता है।

प्रत्यभिज्ञावादियों की यही याग विधि है, जिससे तन्मयीभाव की सिद्धि सरलता से हो जाती है। उसी व्यक्ति पर चिच्चक्र का अनुग्रह चरितार्थ होता है, जो इस यागविधि से कैवल्य को अधिगत करने का महाप्रयास करता है और उसमें सफल हो जाता है। वह देह विधि में स्थित रहता हुआ भी ग्राह्यग्राहक भावात्मक भेदवाद का अपहस्तन कर देता है तथा प्रत्यभिज्ञात पारमेश्वर स्वभाव सिद्ध जीवनमुक्त महापुरुष बन जाता है।

इसी महाभाव में कर्मानुसार जो रूढ़ि उचित होती है, उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का दुराग्रह वांछनीय नहीं है। निश्चय की उपलब्धि ही निरूढ़ि होती है। जैसे-जैसे यह निरूढ़ि

१. तं० ४ पृ० २३४ पं० २-३

हो, अनुत्तरात्मा में तन्मयीभाव की पराकाष्ठा को प्राप्त योगी वैसे-वैसे ही आचरण में प्रवृत्त रहे—तन्मयी भाव से प्रच्युति न हो, तो फिर किसी फलान्त की हेतुवादिता वहाँ शेष नहीं रह जाती। चाहे याग विधान हो, चाहे—याग होम व्रत जप और योग रूप योगान्त पञ्चक के विभिन्न विधान हों, सर्वत्र विमर्श के उल्लास के परिवेश में सभी आचरण साधक को उत्कर्ष की दिशा में ही अग्रसर करते हैं। **जहाँ अपूर्णता होती है, वहाँ फलवत्ता भी नहीं होती है। पूर्णता में फल की कल्पना भी क्या है?** इस प्रकार पूर्णपराकाष्ठाधिकृत जीवन्मुक्त महापुरुष शुद्धि अशुद्धि, भक्ष्य अभक्ष्य की विवेचना के चक्कर में नहीं पड़ता। अशुद्ध अध्वा में पृथ्वी जलवायु अग्नि आकाश की सापेक्ष शुद्धि पराशिवात्मिका शुद्धि के समक्ष भला क्या महत्त्व रखती है? सबसे बड़ी शुद्धि भावशुद्धि है। यही बात भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्ध में भी है। लोक व्यवहार की दृष्टि से योगी इसे निभाता है। उसके लिए सभी पदार्थ संविदद्वैत से ही अभिभूत हैं और तदनतिरिक्त हैं। यह सारा भेदवाद निश्चय ही कल्पना पर आधारित है। वस्तु का वास्तविक धर्म क्या है—यह विचार यहाँ छूट ही जाता है। भेदवाद को प्रश्रय देने वाले वितण्डावादी की दृष्टि वस्तु के वास्तविक धर्म की ओर नहीं जाती, अपितु छिछले धरातल से ही उसके विचार निष्पन्न होते हैं। अतः अन्तिमेत्थं सिद्धान्त है कि, ऐसे विचारों से परमशिवीभत स्वात्म को खिन्न कभी नहीं बनाना चाहिए। यह बात पूर्व आदि शास्त्रों में अच्छी तरह कही गयी है।

नहि शुद्धिः वस्तुनो रूपम्, नीलत्ववत्, अन्यत्र तस्यैव अशुद्धिचोदनात्, दानस्यैव दीक्षितत्वे, चोदनातः तस्य तत् तत्र अशुद्धम् इतिचेत् चोदनान्तरेऽपि तुल्यं, चोदनान्तरमसत्-तद्बाधितत्वात् इति चेत्, न। शिव चोदनाया एव बाधकत्वम् युक्तिसिद्धं सर्वज्ञानोत्तराद्यनन्तागमसिद्धं च इति वक्ष्यामः। तस्मात् वैदिकात् प्रभृति पारमेश्वर सिद्धान्त तन्त्र कुलोच्छुष्मादिशास्त्रोक्तोऽपि यो नियमो विधिः वा निषेधो वा सोऽत्र यावदकिंचित्कर एव इति सिद्धम्। तथैव च उक्तं श्री पूर्वादौ, वितत्य तन्त्रालोकात् अन्वेष्यम्।

नीलत्व की तरह शुद्धि वस्तुधर्म नहीं है। दूसरी जगह उसी [वस्तु] की अशुद्धिका चोदन होता है, दीक्षा में दान की तरह। प्रवर्त्तक वाक्य के अनुसार वस्तुका रूप, प्रसङ्ग या प्रकरण में यदि अशुद्ध माना जाय, तो यह भी ठीक नहीं होगा। 'प्रवृत्तिपरक वाक्यान्तर में समान रूप से प्रयुक्त वस्तुरूप अन्य प्रवर्त्तक वाक्य असत् हैं क्योंकि वेद वाक्यों से बाधित हैं'। यदि यह कहें, तो यह भी ठीक नहीं है। शिव सम्बन्धी प्रवर्त्तना ही यदि किसी अन्य प्रवर्त्तक वाक्य को बाधक हो, तो यह मानना युक्ति सिद्ध है। विश्व के सर्वविध ज्ञानों में सर्वोत्कर्ष-प्रकाशोल्लास परिपूर्ण अनन्त आगमों से भी सिद्ध है। यह अभी आगे कहा जायेगा। इससे यह स्पष्ट है कि, वैदिक प्रवर्त्तक वाक्यों से लेकर पारमेश्वर सिद्धान्त तन्त्र, कुलोच्छुष्मादिशास्त्रोक्त नियम विधि या निषेध, सब यहाँ अकिंचित्कर ही हैं। यह स्पष्ट ही है। श्री पूर्व आदि शास्त्रों में भी इसी प्रकार कहा गया है। तन्त्रालोक [नामक महासमुद्रवत्ग्रन्थ] में विस्तार पूर्वक यह सब विषय अन्वेष्टव्य हैं।

शुद्धि और अशुद्धि का विचार बड़ा ही ऊहापोह पूर्ण है। कुछ लोग विशेष कर वैदिक कर्मकाण्ड के समर्थक इसका बड़ा ध्यान रखते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, शुद्धि है क्या पदार्थ ? वास्तव में शुद्धि वस्तु का धर्म नहीं है। जैसे नीलमणि का नीलत्व धर्म है, उस प्रकार किसी वस्तु में धर्म रूप से शुद्धि अवस्थित नहीं होती। यह प्रत्यक्ष है कि, जिस वस्तु को यहाँ शुद्ध कहा जाता है—दूसरी जगह उसकी अशुद्धि का ख्यापन होता है जैसे दान बड़ा ही उत्तम कर्म है। औपनिषदिक श्रुति कहती है—ह्रिया देयं, भिया देयम् इत्यादि। पर दीक्षा विधान में दान विहित नहीं है। यह कहा जा सकता है कि, क्रिया में प्रवर्त्तक विधि वाक्यों के अनुसार दान रूप वस्तु को वहाँ अशुद्ध माना जाय, तो इसमें भी कुछ विप्रतिपत्ति आ ही जाती है। कारण, एक क्रिया में प्रवर्त्तक वचन के तुल्य दूसरा प्रवर्त्तक वचन असत् सिद्ध हो जाता है क्योंकि उस प्रथम प्रवर्त्तन वाक्य के बाधित हो जाने की स्थिति पैदा हो जाती है। यदि यह कहा जाय है कि, वेदाचार बाह्य जितने आचार हैं, वे संसार को वंचना प्रदान करते हैं, तो इससे प्रथम प्रवर्त्तन, कि शैवागम का साधक अन्य हेय आगमिक सिद्धान्तों का नाम तक न ले—यह सिद्धान्त बाधित्त होता है।

इस ऊहापोह में यह निर्णय होता है कि, शैवागम सम्बन्धित सभी प्रवर्त्तक वचन, जिन्हें शिवचोदना के रूप में जाना जाता है, यही अन्य आगमिक क्रिया प्रवर्त्तक वचनों का बाध करते हैं। यह युक्ति से सिद्ध है। संसार के समस्त प्रमाता, प्रमेय और प्रमाणात्म त्रिपुट विज्ञान से भी उत्कर्ष प्राप्त यह विज्ञान है। अनुत्तर विज्ञान की परिपाटी प्रभावपूर्ण और शास्त्रीय सत्यता से सम्पन्न है। अनन्त आगमों से भी यही सिद्ध है। इन बातों का समर्थन ग्रन्थ में अन्यत्र भी ग्रन्थकार करेंगे।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि, वैदिक आगमों से लेकर परमेश्वर सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रस्थान करने वाले अन्य कुलोच्छुष्म आदि तन्त्रशास्त्रों में कथित सभी नियम, सभी विधि वाक्य और निषेध वाक्य भी शैवागम सिद्धान्त के समक्ष नितान्ततः व्यर्थ हैं अर्थात् कुछ भी प्रेरणा देने में असमर्थ हैं। यही बात श्री पूर्व आदि शास्त्रों में कथित है। यों तन्त्रालोक में इस सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक प्राकरणिक रूप से चर्चा है। वहाँ जिज्ञासुजनों की जिज्ञासा शान्त हो सकती है।

यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि कर्म-
संपाशितोऽस्मि, मलिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि।
इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्ध्या
सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ।

मलिन परेरित मैं नहीं पाशबद्ध पशु मात्र !
विभु दृढमति बनता तभी, विश्ववपुष चिद्गात्र ॥

यह भ्रान्ति दौर्भाग्य-भ्रंशता का ही दुष्परिणाम है कि, पाशबद्ध पशुजनों में यह निश्चय हो गया है कि, मैं जड हूँ—कर्म की क्रूर परम्पराओं से कीलित हूँ. मलिन हो गया हूँ, तथा दूसरे द्वारा प्रेरित होकर यह जीवन यापित कर रहा हूँ। इस असंस्कृत विकल्प का अवमूलन कर संस्कृत विकल्पों के उत्कर्ष के फलस्वरूप यह दृढ़ निश्चय होना चाहिए कि, मैं यह नहीं हूँ। इसके विपरीत मैं चैतन्यात्मा हूँ, कर्म के पाश—[कला विद्या काल राग और नियति] के क्रूर बाह्य बहुल बाधाप्रद प्रबल बन्धन मुझे नहीं बाँध सकते ! इस दृढ़ निश्चय के परिणाम

स्वरूप वही तत्क्षण अपने स्वातन्त्र्य सौभाग्य स्वाभाव्य भव्यता से भूषित पशुपतित्व को पा लेता है। वह अपनी सीमाबद्ध स्वरूपता के स्थान पर विश्वमय प्रमाता बन जाता है। अपनी चिरन्तन चिन्मय चैतन्य चमत्कृति चारुता से परिचित हो जाता है। इस महादशा में उसका वैश्वात्म्य और विश्वोत्तीर्णत्व दोनों का उत्कर्ष विभ्राजित हो उठता है।

यथा यथा निश्चय ईदृगाप्यते
तथावधेयं, पर योगिना सदा।
न वस्तु याथात्म्य-विहीनया दृशा
विशङ्कितव्यं शिशुदेशना-गणैः ॥

जब यथा यह निश्चय हो तभी, सतत साधक से अवधेय है।
विगत वस्तु यथातथ दृष्टि में नियत हेतु नहीं शिशुदेशना ॥

जैसे जैसे साधना के माध्यम से इस प्रकार के निश्चय की प्राप्ति होती है—परयोगी को चाहिए कि वैसा ही विनिश्चय वह करे। इसमें शङ्का को कोई भी स्थान नहीं है। एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा वस्तु तत्त्वका यथातथ स्वरूप निर्धारित हो सके। वस्तु को वस्तु रूप में भेदवादिता के आधार की इकाई के रूप में देखना वस्तु के याथात्म्य के विपरीत है। इस हीन दृष्टि से व्यक्ति की साधना ध्वस्त हो जाती है। जो लोग भेदवाद के समर्थक हैं, वे वस्तुतः शिशु हैं—बालक हैं; अतएव अल्पमति हैं। उनकी देशना अर्थात् उनके द्वारा प्रदत्त उपदेश बालिशता संवलित हो हो सकते हैं। इसलिए ऐसे परमार्थ परामृत पूर रसास्वाद से वंचित बालिशों की उपदेश परम्परा से सर्वथा सावधान रहना चाहिए।

जह जह जस्सु जहिं, चिअ फुरइ अज्जव साउ।
तह तह तस्सु तहिं, चिअ तारिसु होइ पहाउ ॥१॥

सं० छा०—यथा यथा यस्य यदा एव प्रस्फुरति अध्यवसायः।
तथा तथा तस्य तदा एव तादृशो भवति प्रभावः ॥

यथा यथा जिस हृदय में, स्फुरित सदध्यवसाय।
तथा तथा उसमें तभी होता महा प्रभाव ॥ १ ॥

यह तो अपने अध्यवसाय पर निर्भर करता है कि, उसे चिन्मयत्व का स्फुरण कैसे कैसे और कब होता है। एक तरह से अध्यवसाय ही स्फुरित होता है। योगी जैसे जैसे साधना की दशा में प्रयास करता है- उसका वही अध्यवसाय होता है और उसी का परिणाम चिति की स्फुरत्ता होती है। जैसे जैसे उसका अध्यवसाय स्फुरित होता है, उसी समय उसी प्रकार का प्रभाव भी उसके ऊपर पड़ता है।

हउं मलिणउ हउं पसु हउं आ अह सअल भाव पडल वत्तिरित्तउ।
इअ दढनिच्छअ विअ लिअ हिअ अह फुरइ णाम कह जिस्स परतत्त्वउ ॥ २ ॥

सं० छा०—अहं मलिनः अहं पशुः,
अहं वाथ सकल भाव पटल व्यतिरिक्तः।
इति दृढनिश्चय निज लिप्त हृदये,
स्फुरति नाम कथं यस्य परतत्वम् ॥२॥

मलिन हूँ, पशु हूँ, सब भाव के पटल से व्यतिरिक्त मनुष्य हूँ।
इस विनिश्चय लिप्त कुचित्त में स्फुरित हो परतत्त्व कहो कथम् ? ॥२॥

परसिव तरणिकिरण दढपातविकासिअ हिअअ कमलए।
सरहस्स फुरिअणिअ, अइसुन्दरपरिमलबोहक रमए ॥३॥

सं. छा.—परशिवतरणि किरणदृढपात विकासितहृदयकमले।
सरहस्य स्फुरित निज अतिसुन्दरपरिमल बोधक्रमे ॥३॥

परशिव तरणि मरीचिदृढ-पात विकासित पद्म-
स्वात्म हृदय है चितिपरम-परिमल बोधक सद्म ॥३॥

साधक का हृदय कमल के समान है। साधना के अध्यवसाय में वह जिस समय व्यापृत होता है, उसका सांमुख्य परमशिव से होता है। परमशिव महाप्रकाश रश्मि संपन्न प्रभाकर हैं। उनसे शाश्वत निष्यन्द-

मान मरीचिमाला साधक के हृदय कमल पर प्रत्यक्षतः पड़ने लगती है। इस सतत रश्मि शक्तिपात से वह मुकुल विकसित हो जाता है। इस विकास का प्रेरक तत्त्व वह शक्तिपात ही है। परिणाम स्वरूप चिदैक्य विमर्श रूप रहस्य गर्भ सुन्दर परिमल का प्रसार सम्भव होता है और बोध का क्रम पुलकित होता रहता है।

हतं सिवणाहु निहिल जअ–
तत्त सुनिब्भर ओत्ति विरुरी।
फुरइ विमरिसभमरि
पपलाअ णिअ लच्छि विभइरी ॥४॥

सं० छा०–अहं शिवनाथो निखिलजन–
तत्त्व सुनिर्भर इति विरावं कुर्वन्।
स्फुरति विमर्शभ्रमरः
प्रकाश निज लक्ष्यं विभत्ति ॥४॥

मैं शिवनाथ निखिल जन–तत्त्वसुनिर्भर रास–
करता स्फुरित विमर्श अलि पाता लक्ष्य प्रकाश ॥ ४ ॥

विमर्श एक भ्रमर है। प्रकाश उसका लक्ष्य है। लक्ष्य रूप ऐकात्म्य-विश्रान्ति चमत्कार रसामृतास्वाद को वह धारण करता है। एतदर्थ इतस्ततः स्फुरित होता है। भ्रमर गुञ्जार करता ही है। यह उसका स्वभाव है। विमर्श रूप भ्रमर का गुञ्जन बड़ा ही विचित्र है। वह गुनगुनाता है––मैं·······परमशिव····निखिल····जन····त····त्व····सु····निर्भर·······ऐं। इस वि–विशिष्ट राव-शब्द ध्वनि का वह गुञ्जन करता है और स्वतः स्फुरित होता रहता है। इस प्रकार प्रकाश विमर्श परम्परा की परानुभूति इस आह्निक में व्याख्यात हुई।

श्री मदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के शाक्तोपायप्रकाश नामक चतुर्थ आह्निक का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य सम्पूर्ण।

पञ्चममाह्निकम्

अथाणवोपायः

तत्र यदा विकल्पः स्वयमेव संस्कारम् आत्मनि उपायान्तर-निरपेक्षतयैव कर्त्तुं प्रभवति, तदा असौ पाशवव्यापारात् प्रच्युतः शुद्धविद्यानुग्रहेण परमेशशक्तिरूपताम् आपन्नः उपायतया अवलम्ब्यमानः शाक्तं ज्ञानम् आविर्भावयति। तदेतच्च निर्णीतम् अनन्तर एव आह्निके। यदा तु उपायान्तरम् असौ स्वसंस्कारार्थं विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राणदेह-घटादिकान् परिमितरूपान् उपायत्वेन गृह्णन् अणुत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति।

जब विकल्प उपायान्तर निरपेक्ष भाव से ही स्वयं स्वात्म संस्कार करने में समर्थ है, तब वह पाशव व्यापार से प्रच्युत, शुद्ध विद्या के अनुग्रह से परमेश शक्तिरूपता को आपन्न और उपायता से अवलम्ब्यमान [होकर] शाक्त ज्ञान का आविर्भाव करता है। यह विगत आह्निक में निर्णीत हो चुका है। जिस समय यह विकल्प अपने संस्कार के लिए उपायान्तर की अपेक्षा करता है; उस समय वह बुद्धि, प्राण, देह, घट-पट आदि परिमित वस्तु राशि को उपाय रूप से ग्रहण करता है। ऐसा करता हुआ वह अणुत्व को प्राप्त कर आणव ज्ञान का आविर्भाव करता है।[1]

साधक के समस्त क्रिया कलापों, समस्त तपःपूतः प्रक्रियाओं और निखिल तपस्यापरिपाटीपाटवपरामर्शों का एकमात्र उद्देश्य 'ज्ञान' होता है। इसी का प्रकाश साधक की साधना को धन्य बनाता है। द्वितीय आह्निक के अनुपाय विज्ञान, तृतीय के शाम्भवोपाय विज्ञान और चतुर्थ के शाक्तोपाय विज्ञान के विश्लेषण के द्वारा उसी परमज्ञान के उद्घाटन का

१. तं० आ० १।१४१, १।२३०

प्रयास किया गया है। इस आणवोपाय विज्ञान के शाक्तोपाय प्रकरण में वर्णित शाक्तज्ञान की चर्चा कर उसी के आधार पर विमर्श की प्रक्रिया को अग्रसारित कर रहें हैं। वास्तव में शाक्तज्ञान को उत्पन्न करने के प्रधान साधन विकल्प ही हैं। एक तरह से विकल्प ही शाक्तज्ञान को उत्पन्न करते हैं। वे ही शाक्तज्ञान के आविर्भावक हैं। होता यह है कि, ये विना किसी दूसरे उपाय की अपेक्षा के ही स्वयं आत्मपरिवेश में 'स्व' का संस्कार कर लेते हैं। इसमें वे स्वयं समर्थ हैं। संस्कार का अर्थ 'स्व' के संकोच का उन्मोचन मात्र है। स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा शिव ही स्वात्म संकोच का अवभासन कर अणु बनता है। अणु बन कर आणव व्यापारों में व्यापृत और अज्ञान ग्रस्त हो जाता है। इस अवस्था के संकोच के उन्मोचन होते ही उक्त आणव व्यापारों से अचिरात् प्रच्युत हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ प्रच्युतिका अर्थ—पराबीज की व्याप्ति के वृत्त में [कलादिक्षितिपर्यन्त प्रकल्पित अर्धवृत्तसे विसर्ग वृत्ति के द्वारा] मायाण्ड से शक्त्यण्ड में प्रवेश मात्र है। **इसी अवस्था में शुद्धविद्या का अनुग्रह प्राप्त होता हैं।** 'इदमेतद्' को व्यवहारवादिता समाप्त होकर 'अहम् अहम् इदम् इदम्' की विमृष्टि का अर्थ व्यष्टि क्षेत्र से समष्टि क्षेत्र में प्रविष्टि है। शुद्धविद्या की कृपा से लब्ध प्ररोह साधक विबोध जलधि में सन्तरण करता है। पाशव व्यापार के परिवेश से चिद्वृत्ति का प्रसार सार्वभौम सम्राट् की तरह जहाँ-जहाँ होता है, वहीं-वहीं अन्य सहायक राजाओं की तरह सभी इन्द्रियाँ-पुर्यष्टक देवता पश्चात्पदानुपद होकर साधक की स्वतन्त्र वृत्ति का अनुगमन करते हैं।[१] [ग्राह्यग्राहकाद्यनन्त भेद संभिन्न चराचर में] परामर्श की परिपाटीका पाटव प्राप्त कर, सार्वात्म्यवैभव से विभूषित श्रीमदभिनवगुप्त पादाचार्य का स्वात्मानुभव यही सिद्ध करता है।[२] यह स्वात्म संस्कार का ही चमत्कार है। वास्तव में व्यावहारिक जगत् में व्यवहार का निर्वाह करने के लिए विकल्पों का आश्रय लेना पड़ता है। स्वात्म संस्कार के द्वारा अस्फुटत्वादि क्रम से स्फुटतमत्व की प्राप्ति करता हुआ साधक पारमार्थिक स्वात्मप्रत्यय रूप निर्विकल्पक ज्ञानमयता का सम्पादन कर लेता है।[३]

संस्कार के लिए विकल्प को उपायान्तर की कहीं अपेक्षा होती है और कहीं परशक्तिपात के कारण वह उपायान्तर निरपेक्ष हो जाता है।

१. तन्त्रा० ५।३०-३१ २. तन्त्रा० ४।२७८ ३. ४।६

जहाँ उपायान्तर की अपेक्षा होती है, वहाँ की स्थिति विचित्र होती है। कुछ उपाय तो संविद् के सन्निकृष्ट हैं। कुछ विप्रकृष्ट हैं। जैसे—संविद् के सम्बन्ध में यह शास्त्रीय सिद्धान्त है कि, वह पहले प्राण रूप में ही परिणत हुई थी। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'[१] इस न्याय के अनुसार प्राण संविद् का अन्तरङ्ग और प्राणगत उच्चार, करण, ध्यानादि संविद् के सन्निकृष्ट हुए। इसी क्रम में बुद्धिगत ध्यानादि विप्रकृष्ट और उसकी अपेक्षा देहगत करण आदि विप्रकृष्ट हुए। ये सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट उपाय शाक्तज्ञान में उपयोगी नहीं होते, वरन् आणवज्ञान के आविर्भावक होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि, तत्त्वतः आणव ज्ञान उपायान्तर सापेक्ष होता है।[२] प्राण, प्रमाता, बुद्धिप्रमाता और देह प्रमाताओं की अपारमार्थिकता में परमार्थ का प्रकाशन अर्थात् चिद्रूप में निमज्जन[३] निश्चयात्मक विकल्प का परिणाम है। संस्कृत विकल्प से यह निश्चय हो जाता कि, प्राण-बुद्धि-देह[४] आदि प्रमाता चिन्मात्र प्रकाश परमेश्वर से व्यक्तिरिक्त सत्ता वाले नहीं, अपितु तद्रूप ही हैं। उनमें द्विगुत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है। यदि इनमें जडत्व है, तो चिद्रूपत्व भी है। चिन्मात्रात्मक परप्रकाश सम्बन्धिनी विश्वस्फार रूपा शक्ति, प्राण-देह-बुद्धि घट-पट नीलपीतादि रूप से परिस्फुरित होती है। संकुचितप्रमातृरूपता का विलापन करती है। स्वातन्त्र्योल्लास के आधार पर अद्वय दशा की अनुभूति भी प्रदान करती है।[५]

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान के प्रकल्पन से आणव समावेश होता है।[६] इसके संस्कार से सोऽहं परामर्श होता है। 'मैं वह हूँ' इस स्वात्माभिज्ञान को उपायता प्राप्त होती है। जैसे माणिक्य के मालिन्य को मिटाने से माणिक्य दीप्तिमन्त हो जाता है, उसी प्रकार हृदय पर छा जाने वाली शङ्का के आतङ्क का उन्मूलन करने से स्वात्म प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। ३६ तत्त्वों को अतिक्रान्त कर सर्व में सार्वात्म्यभाव से भ्राजमान परमेश्वर का ऐश्वर्य कैसे देखा जा सकता है या वह कैसा होगा? उस निष्कल

१. तन्त्रा० ६ पृ० ३१४ पं० ९
२ पू० प्र० प्र० विमर्शः २५५
३. पू० प्र० प्र० २५८ तन्त्रा० ५।७
४. तन्त्रा० १।३०२-३०३
५ तन्त्रा० ५।८-१०
६. मालिनी वि० २१।१ पृ० ९

अकल्पनीय का उत्कर्ष कैसा होगा—यह सब ऊहापोह चलने लगता है और परिमित के आधार पर ही अपरिमित का ज्ञान उत्पन्न होता है। यही आणव ज्ञान है।[1]

तत्र बुद्धिः ध्यानात्मिका, प्राणः स्थूलः सूक्ष्मश्च, आद्य-उच्चारणात्मा। उच्चारणं च नाम पञ्च प्राणाद्याः वृत्तयः। सूक्ष्मस्तुवर्णशब्दवाच्यो वक्ष्यते। देहः सन्निवेशविशेषात्मा करण शब्द वाच्यः, घटादयो बाह्याः कुम्भस्थण्डिललिङ्गपूजाद्युपाय-तया कीर्त्तयिष्यमाणाः।

बुद्धि ध्यानात्मिका होती है। प्राण स्थूल और सूक्ष्म [दो प्रकार का होता] है। [यह] आद्य उच्चारणात्मक [है]। पाँच प्राण आदि वृत्तियाँ ही उच्चारण हैं। सूक्ष्म, वर्ण शब्द वाच्य [है]। देह, सन्निवेश-विशेषरूप करण शब्द वाच्य [है] घटादि बाह्य कुम्भ, स्थण्डिल और लिङ्ग पूजा आदि उपाय रूप से आगे के प्रकरणों में कथ्य हैं।

सत् और असत् का विवेचन करने वाली[2] व्यवसायात्मिका[3] और अध्यवसाय की निमित्त[4] वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। यह हृदय जलधि की अद्भुत ऊर्मि है। यह न केवल बाह्य विषयों का अन्तरनुभावन करती है, वरन् आन्तर चिद्विमर्श के बल पर बहिर्वर्त्ती विपुल वेद्य वर्ग की विषयरूप में अवतारणा भी करती है। इसमें प्रकाशात्म-परामर्श का नैर्मल्य शाश्वत रूप से प्रवहमान रहता है, जिसमें वेद्यवर्ग का प्रतिबिम्बन होता है।[5] चित्त का देश में बँध जाना धारणा है। उन उन बाह्यान्तर विषयों की प्रतीति का प्रवाह ध्यान है।[6] ध्यानात्मिका वृत्ति ही बुद्धि है।

प्राण दो प्रकार के होते हैं। १. स्थूल और २. सूक्ष्म। स्थूल प्राण उच्चारणात्मक होते हैं। उच्चारण से तात्पर्य पंच प्राणात्मक[7] वृत्तियों से

१. आ० १।१४१-१४५ २. तत्त्वविवेक ३. गीता २।४१, ९।३०
४. महार्थमंजरी का० २१ पृ० ६१ पं० ९ ५. पू० प्र० प्र० ५५१
६. म० मं० पृ० १५६ पं० १-१५ तं० आ० १ पृ० १३४ पं० १२-१३
७. तं० ५।४८-५२ भाष्य पृ० ३५०-३५५ म० पृ० २४, ४९, ५८

है। पहले संवित् प्राण में परिणत होती है। उसके बाद हृदय से द्वादशान्त पर्यन्त रेचक क्रम से उदित होती है। कहीं बाह्य-औन्मुख्य के कारण निरानन्द का और कहीं अपानात्मक प्रमेय में उदित होकर आनन्द का भी उद्भावन करती है। इस प्रकार समान-व्यान के क्रम से उदानत्व की सोपाधिता में पुलकित होती है। यह सब संवित् की स्थूलावस्था या जड़त्व से उपबृंहित अवस्था है।[1] संकोच तारंतम्य से ही यह भेदोल्लास सम्भव होता है। इसे आत्मोच्चारण भी कहते हैं।[2] सूक्ष्म प्राण वर्ण शब्द से अभिहित होता है। यह रावात्मक होता है। परावाक् का अहं विमर्शात्मक राव दश प्रकार का होता है। उसी में इन सूक्ष्म और स्थूल भेदों का अध्यवसान और अध्यवसाय दोनों सम्भव है।[3]

जहाँ तक देह का प्रश्न है, यह पदार्थों का विशेष सन्निवेश है। इसे करण[4] भी कहते हैं। देह में ही स्थूल स्वरूप की प्राप्ति का भान होता है। इसी के आधार पर सारा ज्ञान-विज्ञान, सारा अभ्यास, बोध, स्वात्म-प्रतिष्ठा, व्यापार, ग्राह्यग्राहक भाव, चिद्विमर्श, चिद्दिशा-प्राप्ति, त्याग, आक्षेप और निवेश आदि सिद्ध होते हैं। इसके माध्यम से कभी बोध जलधि का धीर अवगाहन सम्भव होता है और कभी स्वबोध की और स्वातन्त्र्यबोध की हानि भी इसी से आपतित होती है। घट-पट नील-पीत आदि जितने बाह्यावभास-विभक्त और भेद-भिन्न अभिव्यक्त एवं प्रतिनियत देहपदार्थ हैं, वे सभी (फेत्कारिणीतन्त्र १३।५८, ६।२६ १३।५७) कुम्भ, स्थण्डिल, लिङ्ग-पूजा आदि उपाय रूप से भी प्रयुक्त होते हैं। उक्त बुद्धि के अतिरिक्त प्राण और देह रूप अपारमार्थिक प्रमाताओं एवं बाह्यपदार्थों का स्थान प्रकल्पन की दृष्टि से विश्लेषण होता है। प्राण ५ प्रकार के होते हैं। देह के दो प्रकार बाह्य और आन्तर हैं। इनमें से बाह्य ११ प्रकार के होते हैं।[5] इनका विवेचन अभी अवशेष हैं, जो तन्त्रालोक के ६ठें से १२वें आह्निक तक वर्ण-यिष्यमाण है। १५वें आह्निक के बाद स्थण्डिलमण्डल आदि का विवेचन भी किया गया है।

१. तं० ५।४९-५० २. तन्त्रा० पृ० २५७ पं० १३
३. तन्त्रा० ५।९७-९८
४ तन्त्रा० ५।१२८-१२९, पू० प्र० ९२-९४
५ तन्त्रा० ६।३-४

तत्र ध्यानं तावत् इह उचितम् उपदेक्ष्यामः । यत् एतत् स्वप्रकाशं सर्वतत्त्वान्तर्भूतं परं तत्त्वम् उक्तम् तदेव निजहृदयबोधे ध्यात्वा, तत्र प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपस्य वह्न्यर्कसोमत्रितयस्य संघट्टं ध्यायेत् यावत् असौ महाभैरवाग्निः ध्यानवातसमिद्धाकारः सम्पद्यते, तस्य प्राक्तनशक्तिज्वालाद्वादशकपरिवृतस्य चक्रात्मनः चक्षुरादीनाम् अन्यतम सुषिरद्वारेण निःसृतस्य बाह्ये ग्राह्यात्मनि विश्रान्तं चिन्तयेत् ।

इसमें ध्यान की उचित उपदिशा आगे निर्दिष्ट होगी। जो यह स्वप्रकाश, सर्वतत्त्वान्तर्भूत परतत्त्व उक्त है, उसको ही अपने हृदयबोध में ध्याकर उसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप अग्नि, सूर्य और सोम के त्रितय के सामरस्य का ध्यान करना चाहिए, जब तक वह महाभैरवाग्नि ध्यान वायु से भरपूर ज्वालामय बन जाये। पहली शक्ति की ज्वाला के द्वादशक से परिवृत, चक्रात्मक और चक्षु आदि किसी एक छिद्रद्वार से निःसृत उसके [उस] ग्राह्यात्मक बाह्य में विश्रान्त [रूप का] चिन्तन करे।

यद्यपि ध्यान का प्रसङ्ग और प्रकरण के अनुसार विगत आह्निकों में भी यत्र तत्र चर्चा है[१] फिर भी ध्यान और बुद्धि का समवाय सम्बन्ध है। इसलिए उसका विशेष वर्णन अभी सापेक्ष है। उसे आगे के प्रकरणों में भी सम्यक् विवेचन का विषय बनायेंगे। इस समय ध्यान के लिए उस परतत्त्व का विश्लेषण आवश्यक है, जो स्वप्रकाश है। दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित नहीं वरन् 'स्व' के प्रकाश से ही प्रकाशमान है और अपने प्रकाश से सर्व को भी प्रकाशमान कर सकने में सक्षम है।[१] वह सर्व तत्त्वों में प्रकाश-विमर्श रूप से अन्तर्भूत भी है। अपने हृदय में बोध की प्रकाशमयता में उसी परम प्रकाश का ध्यान सर्वप्रथम करना चाहिए। इस ध्यान के पश्चात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूप कृशानु, सूर्य और सोम त्रयका सामरस्यात्मक ध्यान करना चाहिए। विषयों का चित्त द्वारा माप कर लेने वाला ज्ञाता, प्रमाता, माप अथवा ज्ञान का कारण या साधन स्वरूप प्रमाण,

१. तन्त्रा० १।१३४ पृ० पं० १२-१३

और माप्य या ज्ञेय रूप प्रमेय इन तीनों के प्रतीक सूर्य, सोम और कृशानु हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप साधक को समझना चाहिए। अपनी साधना की उच्चभूमि पर साधक प्रमेय को प्रमाण रूप में, ज्ञेय को ज्ञान रूप में फिर प्रमाण को प्रमाता के रूप में या ज्ञान को ज्ञाता के रूप में जानने लगता है। वास्तव में ज्ञाता से ही ज्ञेय का अस्तित्व है और ज्ञेय के लिए ही ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन तीनों का सामरस्य ही वास्तविक है। प्रमाताओं के अलग-अलग स्तर हैं। कहीं सदाशिव तत्त्व में 'मन्त्र महेश्वर'; ईश्वर तत्त्व में 'मन्त्रेश्वर', विद्यातत्त्व में 'मन्त्र', मायोर्द्ध्व में विज्ञानाकल, माया में 'शून्य प्रलय केवली' और अशुद्ध अध्वा के क्षितिपर्यन्त तत्त्व में 'सकल' प्रमाता होते हैं। अवस्था और स्तर के भेद से इनके प्रमेय भी भिन्न होते हैं। प्रमेयानुसार संकुचित चिति ही चित्त बन जाती है।[२] देह प्राण आदि तो चित्त प्रधान ही होते हैं। जहाँ तक चिति शक्ति के स्वतन्त्र अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशरूपता की वागात्मक परा स्थिति का प्रश्न है, वहाँ 'अ' अनुत्तर तत्त्व[३] 'इ' इच्छा तत्त्व और 'उ' उन्मेष तत्त्व रूप से स्वीकृत हैं। ह्रस्व स्वर वर्ण सूर्य माने जाते हैं। 'आ' 'ई' और 'ऊ' सोमात्मक माने जाते हैं। इनका परस्पर मेलन 'ए ऐ ओ औ' में होता है। ये चित्रभानु कहलाते है।[४] इसमें सूर्य प्रमाण हैं। सोम प्रमेय हैं और कृशानु प्रमाता हैं। परप्रमाता तो परम शिव ही हैं। अपने स्वातन्त्र्य के बल पर स्वरूप का गोपन कर संकुचित ज्ञानात्मता का अवभासन कर ज्ञेय का-प्रमेय का पृथक् उल्लास करते हैं।

इस प्रकार इस विश्वरूप ग्राह्य के ग्राहक का आकलन होता है। शिवशक्ति के यामल रूप को संघट्ट कहते हैं। जैसे प्रकाश विमर्श का यामल रूप 'आ' है, उसी प्रकार अन्य स्वरोदय का यही संघट्टन वागात्मक विमर्श के माध्यम से साधक के हृदय बोध में उल्लसित होता है।

सूर्य, सोम और कृशानु का[४] यह संघट्ट ध्यान का तभी तक विषय रहता है, जब तक ध्यान के वायु से जाज्वल्यमान भैरवाग्नि अपनी महिमामयी महार्चि की मंगल मरीचियों से चिन्तन में चिरन्तन की चारुता का

१. प्र० हृ० सू० ५
२. तन्त्रा० ३।६६
३. तन्त्रा० ३।१२२-१२४-१२५
४. तं० ३।१२५-१२८, ५।२२

संचार नहीं कर देता ।[१] उस समय साधक का 'मैं कोई अलौकिक प्रमाता हूँ' यह विमर्श स्फुरित होता है। अन्य प्रकाश से वैलक्षण्य होने के कारण और समस्त लौकिक स्वभाव सम्बन्धों के अतिक्रमण से शिव सामरस्य-तादात्म्य का उस समय एक ऐसा विलक्षण उद्योत विद्योतित होता है, जिसमें सभी जागतिक उपाधियों की भेदवादिता तथा कंचुकांचित कलङ्कों के निर्गलन के बाद की संवित् वेद्यमानता मात्र अवशिष्ट रह जाती है। उस अवस्था में भी वह अकल्पित प्रमाता स्फुरत्तैक स्वभावता के कारण वेद्य या प्रमेय वर्ग की प्रकाशैकरूपता का उद्भावन करता रहता है। यह उद्भावन ही ध्यानवात हैं। इसके द्वारा वह उद्दाम उद्योत संतत शाश्वत उद्दीप्त होता हुआ, उल्लसित होता है। चिन्तन की यह घड़ियाँ कितनी घन हैं और घनरस के समान कितनी सुकुमार प्रवाहमयी हैं, जिनमें चक्रों के माध्यम से ही चिन्ता धारा का चमत्कार चेतना की चिरन्तन चिकित्सा करता है। यही अग्नि सोमात्मक परम धाम है। यहीं सोम सूर्य अर्थात् मान और मेय के कला जाल का अर्थात् चक्रानुचक्र देवो रूप का परस्पर संघट्ट होता है। यह संविदनुप्रवेश की अनुभवगम्य अवस्था है।[२]

यह महाभैरवाग्नि द्वादशचक्रात्मक है। इसमें शक्तिबोध की वह्नि का उद्वलन अवश्यम्भावी है। बुद्धि, मन और दस इन्द्रियों के प्रतीक रूप द्वादश स्वरूप चक्रात्मकता में इसका चमत्कार चिन्तनीय है। विश्वोत्तीर्णता की दशा में विश्व का उपसंहार हो जाता है। वह नादमयी अवस्था होती है। भेदात्मकता की अनुभूति वहाँ नहीं होती। किन्तु इस अन्तर्मुखता का प्रविकास ग्राह्यात्मक बाह्यविश्व में होता है। रूप संविद् का विकास नील-पीत आदि ज्ञान में, फिर नीलत्व पीतत्व की उत्पत्ति के स्थान रूप चक्षु आदि इन्द्रियों में और फिर प्राण आदि सामान्य शक्ति केन्द्रों में होता है। ये चक्षु आदि सुषिर द्वार हैं। इन्हीं के द्वारा ग्राह्यात्मकता में विश्रान्ति होती है। इस विश्रान्ति के बोध का चिन्तन करना चाहिए। यह प्रकाश की विलक्षण बाह्य विश्रान्ति बाह्यार्थोन्मुख होने पर भी अन्तर्लक्ष्यमयी बनी रहती है। इसी कारण बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रियरूप भेदवादिता का उद्भावन वहाँ नहीं होता वरन् बोध और स्वातन्त्र्य शब्दों के माध्यम से छिद्रों के द्वारा निकले प्रकाश की अनुभूति स्वात्ममयता को

१. तं० ३ पृ० ७९ पं० १८-१९ २. तन्त्रा० ५।७२-७३ ३. तन्त्रा० ५।८३

ही अलंकृत करती है।[१] जहाँ तक ध्यान का प्रश्न है—उसमें एक क्रमिकता होनी चाहिए। जैसे अमृत सिंचित हृदय के आलवाल के अन्तराल से ललित ललाम पिङ्ग पाटलिम अङ्कुर उत्पन्न होता है, उससे कुसुम-राशि और फलों का मङ्गलमय प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार यह ध्यान वल्लरी किसी विलक्षण परिणाम का सृजन करती है[२] और साधक धन्य हो जाता है।[३]

तेन च विश्रान्तेन प्रथमं तद्बाह्यं सोमरूपतया सृष्टिक्रमेण प्रपूरितं, ततः अर्करूपतया स्थित्या अवभासितं, ततोऽपि संहार-वह्निरूपतया विलापितं, ततः अनुत्तरात्मतामापादितं ध्यायेत्। एवं तच्चक्रं समस्तबाह्यवस्त्वभेद परिपूर्णं सम्पद्यते। ततो वासना-शेषानपि भावान् तेन चक्रेण इत्थं कृतान् ध्यायेत्।

उस विश्रान्त [प्रकाश] के द्वारा पहले वह बाह्य सोमरूप से सृष्टि क्रम से प्रपूरित, पुनः अर्करूप स्थिति से अवभासित, संहारवह्नि रूप से विलापित और वासना रूप से बचे हुए भावों का अनुत्तरात्म रूप में ही ध्यान करना चाहिए।

बाह्य-वेद्य विश्रान्ति का स्वरूप ऊपर दर्शित है। यह बाह्य वेद्यात्मक विलासोल्लास सारे सृष्टि क्रम में परिपूरित है। सारा वेद्य विलास ही सोमात्मक है। चाहे वह वर्ण रूप से 'हंसः या सोहं' में सकार रूप से विद्यमान हो, चाहे शाक्तसमावेश दशा में एषणीय, ज्ञेय और कार्य रूप प्रमेय वर्ग में उल्लसित हो अथवा शाम्भवसमावेश में अपान रूप में स्वात्म-परिस्पन्द परामर्श का हेतु बनकर उल्लसित हो—सर्वत्र सृष्टि को सर्वात्मना भरपूर कर रहा है। ध्यान का सोमात्मक अनुसन्धान है। सचराचर त्रैलोक्य इस सृष्टि-तत्त्व से व्याप्त और प्रतिभासित है।

इसके बाद सूर्यात्मक ध्यानक्रम स्थितिरूप से विकसित है। स्थिति का अर्थ है—स्वरूप का विभिन्न रूपों में अवस्थान। आणव समावेश में

१. तं० ५।८३
२. महा० मं० ५६ पृ० १३९ पं० १३-१६
३. महा० मं० ५८ पृ० १४५ पं० १६-१९

हकार और बिन्दुरूप से, शाक्तसमावेश में इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप प्रमाणोल्लास में और शाम्भव समावेश में प्राण रूप से वही अवस्थित और अवभासित है।

सृष्टि और स्थिति के बाद संहार का कृत्य उपस्थित होता है। संहार एक वह्नि है, आग है, ज्वाला है। इसमें वस्तु का विलापन होता है, जैसे अग्नि में इन्धन राशि का विलापन होता है। वास्तव में संहार का अर्थ होता है—समस्त बाह्य वेद्योल्लास का पारमेश्वर प्रकाश में वटधानिकावत् वासनारूप से अवस्थान। उदाहरण रूप से इसे यों समझा जा सकता है—'अ' 'इ' और 'उ' सूर्य के और 'आ' 'ई' तथा 'ऊ' सोम के प्रतीक हैं। इन छः मूल स्वरों का विलापन ए ऐ ओ औ इन चार स्वरों में हो जाता है। इन चार स्वरों में 'अ, आ, इ, ई, उ ऊ ये छहों विद्यमान हैं किन्तु किस रूप में हैं, यह व्याकरण और दर्शन शास्त्र का विषय है।

इसी प्रकार इन्द्रियाँ प्रमाण, उनका ग्राह्य प्रमेय और सर्वान्तःकरण समष्टि भूत अहंकाररूप प्रमाता इन तीनों का उपसंहार करने वाली शक्ति को संहारकारिणी शक्ति कहते हैं। साधना की इस उच्च भूमि पर साधक विज्ञानाकल स्थिति को प्राप्त करता है।

इसके बाद अनुत्तरात्मकता का सम्पादन होता है। अक्षर क्रम में अनुत्तर अकार बिन्दु के साथ 'अं' और विसर्ग के साथ 'अः' रूप में अवतरित होता है। तंत्त्वविकासक्रम में अशुद्ध अध्वा को पार कर शुद्ध अध्वा में अहंता का अनुसन्धान होता है। ध्यान[१] का यही क्रम ग्रन्थकार को अभिप्रेत है—ऐसा ज्ञात होता है।[२]

इस प्रकार यह सारा चक्र समस्त बाह्य, ग्राह्य, वेद्य, ज्ञेय, प्रमेय, कार्य, ऐषणीयादि उल्लासमय भेदमयता की विभीषिका का अपभ्रंशन कर, संकोच कलङ्क के आतङ्क का उन्मीलन कर अभेदानुसन्धान क्रम से ऐकात्म्यानुभूति में परिणत हो जाता है। जैसे व्याकरणशास्त्र में अनुत्तर अकार और सूर्यात्मक 'ह' कार का अल् (अहं) प्रत्याहार होता है और उसमें सारा अक्षर विन्यास न्यस्त हो जाता है, उसी प्रकार यह सृष्टि (स्थिति संहार चक्र अनाख्य की अभेद दशा में समाहित हो जाता है। वहाँ बाह्य

१. म० मं० ३९ २. तन्त्रा० ५।१९

साधारण और आभ्यन्तर असाधारण का साकल्य सब कुछ आन्तर ही हो जाता है। तत्त्ववेत्ता केले के फूल के अन्तराल में उल्लसित कुसुम सौरभ की तरह हृदय के अन्तराल में उल्लसित परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है।[१]

इस महाभूमि में समस्त भाव राशि वासना मात्र रूप में अवशिष्ट रहती है। इन वासनामात्र रूप भावों में भी अनुत्तरता का ही अनुसन्धान होना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि, वह वासना भी वहीं परमेश्वर प्रकाशोल्लास की मङ्गलमरीचियों की महार्चि में भस्मसात् हो जाती है और ध्यान की इसी माङ्गलिकता के सन्दर्भ में महाभैरवाग्नि के उद्दीप्त होने का पूरा अवसर उपस्थित हो जाता है।

एवम् अस्य अनवरतं ध्यायिनः स्वसंविन्मात्रपरमार्थान् सृष्टि-स्थितिसंहार-प्रबन्धान् सृष्ट्यादिस्वातन्त्र्यपरमार्थत्वं च स्वसंविदो निश्चिन्वतः सद्य एव भैरवीभावः । अभ्यासात्तु सर्वेप्सितसिद्ध्यादयोऽपि ।

स्वप्रकाशं समस्तात्मतत्त्वं मात्रादिकं त्रयम् ।
अन्तःकृत्य स्थितं ध्यायेद् हृदयानन्द धामनि ॥ १ ॥
तद्द्वादश महा शक्ति-रश्मिचक्रेश्वरं विभुम् ।
व्योमभिर्निःसरद्बाह्ये ध्यायेत्सृष्ट्यादि भावकम् ॥ २ ॥
तद्ग्रस्त-सर्वबाह्यान्त भावमण्डल मात्मनि ।
विश्राम्यन् भावयेद्योगी स्यादेवं स्वात्मनः प्रथा ॥ ३ ॥

इति संग्रहश्लोकाः । इति ध्यानम् ।

इस प्रकार निरन्तर ध्यानमग्न [साधक] स्वसंविन्मात्रपरमार्थ सृष्टि, स्थिति और संहार चक्रको तथा सृष्टि आदि स्वातन्त्र्यकी परमार्थता को अपनी संवित्ति से निश्चित करलेता है। उसका तत्काल ही भैरवीभाव सिद्ध हो जाता है। अभ्यास से सभी आकांक्षाओंकी सिद्धि होती ही है।

अपने हृदय के आनन्दधाममें स्वप्रकाश समस्त आत्मतत्त्व और मात्रादि त्रिकको अन्तःकरण में स्थित ध्यान करना चाहिये ॥१॥

१२ महाशक्ति रश्मि [संवलित] चक्रेश्वर विभु और व्योम से बाह्यमें विस्फुरित सृष्टि आदि भाव राशिका ध्यान करना चाहिये ॥२॥

सभी बाह्यान्तरभाव मण्डल उसीसे परिपूरित है, स्वमें विश्रान्त है— इस तरह योगी ध्यान करे। इस प्रकारसे स्वात्म प्रथन व्यापार सिद्ध होता है ॥३॥

ये तीनों संग्रह श्लोक हैं। यह ध्यान [की व्याख्या हुई]। ध्यान में सातत्य अनिवार्य होता है। ध्यान की प्रक्रिया में तनिक भी अवरोध बाधक होता है। साधारण सामान्य जन के लिए अनवरत इसमें लगा रहना सरल नहीं है। जो स्वात्म संविद् की महिमा से अवगत है, उसके महत्त्व को मान्यता देता है और उसके परमार्थ रसास्वादमाधुर्य का मधुपायी है, वह सततोदित आत्मबोध का अधिकारी हो जाता है। वह सृष्टि, स्थिति और संहार रूप त्रिकृत्यों की रचना चातुरी से परिचित हो जाता है, वह इस बात को जानने में समर्थ हो जाता है कि, परप्रमाता परम महेश्वर पहले अव्यक्त अर्थ को अवभासित करने के[१] लिए सृष्टि का प्रारम्भ करता है। पुनः उन अर्थों में अनुरागरंजित होकर उन्हें स्वात्मसत्ता में ही स्थापित रखता है और बाद में उसका आस्वाद कर लेने पर या यह अर्थ उतना ही है, इतने काल तक ही इसे स्थित रखना है—यह विमर्श कर लेने पर उसका उपसंहार कर लेता है। अर्थ के उपसंहार का तात्पर्य भेदवाद की समाप्ति से है। ज्ञान तो प्रकाशात्मक होता ही है। प्रकाश सतत ज्वलनशील होता है। भेद की समाप्ति पर एक प्रकार की आनन्दात्मक अनुभूति होती है। दार्शनिक भाषा में इसे अलंग्रासरस[२] कहते हैं। यहाँ तिरोधान[३] की स्थिति भी है।

इस प्रकार परमार्थ साधक सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान आदि कृत्यों को स्वसंविदैश्वर्यप्रसूत अनुभूत कर स्वयं सिद्ध हो जाता है। उसे तत्काल भैरवी भाव की प्राप्ति हो जाती है। इस भैरवीभाव की प्राप्ति में उसका निश्चय ही, कारण बनता है। धारणा की दृढ़ता ही निश्चय है! धारणा की दृढ़ता अनुग्रह से होती है। पारमेश्वर परमानुग्रह प्राप्त मुक्त पुरुष भैरव रूप ही हो जाता है।[४] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

१. तन्त्रा० ३।२२८
२. तन्त्रा० ३।२६०-२६१
३. तं० ५।३६
४. तन्त्रा० अ० ५।८९ पृ० ३९७ पं० ४, ९

ध्यान का एक स्वरूप होता है। अधः प्रवाह (अपान) के संरोधन के उपरान्त ऊर्ध्वक्षेप (प्राण) का भी अपहस्तन किया जाता है। इस प्रकार योगी मध्यधाम में प्रवेश करता है। यह प्रवेश मात्रा की आवृत्ति अथवा मात्रा के योग से होता है।[१] अथवा सोम, सूर्य और संहार वह्नि की मात्रा के त्रिकों के योग से होता है। इन्द्रजालमय इस विश्व का किसी प्रकार ध्यान करने से परमसुखानुभूति समुद्भूत होती है।[२] ध्यान के इस योग से ही स्पन्दनात्म, ज्ञानात्म और रहस्यात्म हृदय में योगी का प्रवेश होता है।[३] यह हृदय एक महाकुण्ड है। इसमें सोम, सूर्य और अग्नि के संघट्ट से ध्यानरूपी अरणि का मन्थन हो जाता है और मध्यधामानुप्रवेशरूपी क्षोभात्मा भैरवाग्नि की महाज्वाला उद्दीप्त हो उठती है।[४] यह सारा ब्रह्मविस्तार स्वप्रकाशमात्र है। आत्मतत्त्व के अतिरिक्त यहाँ कुछ नहीं है और देह, प्राण, बुद्धि के त्रिक की मात्राओं से इसका विकास होता है। इसका अन्तःकरण में ध्यान कर अनिवार्यतः अनुत्तर तत्त्व की प्राप्ति करनी चाहिए। हृदय के आनन्द धाम में ही इनका ध्यान करना चाहिए।[५] ध्यान बुद्धिमय होता है और बुद्धि ध्यानमयी होती है। उक्त सभी बातें बुद्धि की ही व्यापार हैं। समस्त वस्तु जगत् के ऊपर जड़ता का ही आरोपण, विभ्रम और विचिकित्सा का ही परिणाम है। बुद्धि से इस मिथ्यारोपण का निराकरण करके ही स्वप्रकाश चिन्मयावस्था की प्राप्ति सम्भव है।

सृष्टि आदि भाव का रहस्य स्वरचक्र के अभिव्यंजन के समान ही सुप्रतर्क्य है। द्वादश स्वर रूप महाशक्ति, रश्मिचक्रेश्वर विभु, अनुत्तर अकार को जैसे हम मुख कण्ठ हृदयाकाश से निःसृत होते हुए अनुभव करते हैं, उसी प्रकार द्वादशात्मक (मन बुद्धि दश इन्द्रियात्मक) विश्व का भी सर्जन व्योमरूप अव्यक्त से ही है। यह द्वादशात्मक अनुत्तर-चक्र तत्तद्रूपादि विषय-स्वीकार के कारण इन्द्रिय वर्ग से ही बहिरवभासमान हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि, अन्तःविलास ही बाह्यविलास रूप से परिस्फुरित है। इस प्रकार का ध्यान करने से अवश्यम्भावी परमार्थ की सिद्धि हो जाती है अर्थात् विकल्पात्मा प्रत्यय का तिरोधान हो जाता है।

१. वि० मं० १०२
२. तं० ५।७१
३. तं० ५।२२-२३
४. तं० ५।११९
५. तं० ५।१७

बाह्य विस्तार में बृंहित इस विश्वविलास का और अन्तर्वृत्तियों का स्वात्मसंविद् में उपसंहार करना परमावश्यक है। सर्वत्र चिद्रूपता की सत्ता का साक्षात्कार और स्वातन्त्र्य का उपकल्पन तथा साथ ही साथ जडात्मता का अपहस्तन इस योग की प्रमुख भूमिकायें हैं।[1] योगी इस प्रकार अदृश्य रूपता को प्राप्त करता है और स्वात्म प्रथा का विस्तार हो जाता है। दर्पण में स्व बिम्ब के निश्चय का व्यापार विश्व की अतदात्मकता को सिद्ध कर देता है। यह सब ध्यान का ही प्रसाद है। इन संग्रह श्लोकों से ध्यान की अवधारणा समझ में आ जाती है।

अथ उच्चारः

तत्र प्राणम् उच्चिचारयिषुः पूर्वं हृदय एव शून्ये विश्राम्यति, ततो बाह्ये प्राणोदयात्, ततोऽपि बाह्यं प्रति अपानचन्द्रापूरणेन सर्वात्मतां पश्यति, ततः अन्यनिराकांक्षो भवति, ततः समानोदयात् संघट्टविश्रान्तिम् अनुभवति, तत उदानवह्न्युदये मातृमेयादिकलना ग्रसते। तद्ग्रासकवह्निप्रशमे व्यानोदये सर्वावच्छेदवंध्यः स्फुरति।

देहादि अचेतन का चैतन्य प्रतिभास+जीवनात्मक प्राण व्यापार ही उच्चार है। प्राण के उच्चार की आकाङ्क्षा से सर्वप्रथम साधक हृदय के शून्य में ही विश्रान्ति प्राप्त करता है।[2] इसके बाद बाहर प्राण के उदय होने के कारण विश्रान्ति प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अपान चन्द्र के आपूरण से सर्वात्मता का दर्शन करता है। पुनः अन्य निरपेक्ष बन जाता है। तब समान के उदय होने से संघट्टविश्रान्ति का अनुभव करता है। इसके बाद उदान वह्नि का उदय होता है। उस दशा में माता और मेय आदि की कलना ग्रसित करती है। इस ग्रासक वह्नि के प्रशम हो जाने पर और व्यान के उदय हो जाने पर समस्त अवच्छेदों से रहित हो जाता है।

उच्चारण की आकांक्षा को उच्चिचारयिषा कहते है। यह जिसमें होती है, वह उच्चिचारयिषु कहलाता है। जब तक उच्चिचारयिषा का

१. तं० ५।१०-११ २. ५।२६-४१, ५।७३

उदय नहीं होता, उसके पहले तक उसकी विश्रान्ति हृदयाकाश में ही होती है। हृदय[3] इच्छा, क्रिया और ज्ञानात्मक शक्ति त्रितय का मेलक अन्तस्तत्त्व है। इसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया सामरस्यात्म स्वभाव भी मानते हैं। यह वह अमृत सिंचित आलबाल है, जिससे कल्पवल्ली रूप ध्यान लता का प्रादुर्भाव होता है। विश्व को प्रतिष्ठा की यह महत् उर्वर भूमि है। जब उच्चिचारयिषु शिव होता है, उस समय इसी अन्तस्तत्त्व रूपी हृदय से संविदुल्लास विश्व सम्भूत होता हैं और जब उच्चिचारयिषु जीव होता है, तब संविदुल्लास रूप स्वर सरणी सम्भूत होती है। स्वर व्यंजन सरणी के उत्पन्न होने के पहले उसी अन्तस्तत्त्व में विश्रान्ति रहती है। श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया का उदय भी बाह्य रूप से इसी हृदय से होता है। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' के अनुसार प्रथमतः बाह्य रूप में प्राण का ही उदय स्वाभाविक है।

'ख' शून्य तत्त्व है। 'ख' दश प्रकार का होता है। वे हैं :—

१. आत्मा, २. अणु (जीव), ३, कुलमूल (प्राण शक्ति का प्रभवस्थान), ४. शक्ति (मध्यप्राणवाहिनो), ५. भूति (स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य ६. चिति (परासंवित्-चर्यातीतपदात्मिका) ७. रति (आसक्ति), ८. शक्तित्रय (द्रष्टा से उपरक्ता ज्ञानशक्ति, ९. दृश्योपरक्ता क्रियाशक्ति और १०. तद्वर्जित द्रष्टृ-दृश्याद्युपाधिशून्य इच्छा शक्ति)। यह सारा परिणाम ख से (शून्य से) निष्पन्न होने के कारण तत्त्वरूप ही है। इसलिए यह कथन कि, संविद्रूप हृदय शून्य में उच्चिचारयिषु विश्राम प्राप्त करता है—मौलिक तथ्य है।[1] यह प्रमात्रंश मात्र में विश्रान्ति की स्थिति है। स्वात्म साक्षात्कार करता हुआ केवल 'ख' ही वहाँ विराजमान होता है।

उक्त परिणाम परम्परा के समानान्तर ही परावाक् के विस्तार का क्रम भी इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है। शिव प्रकाशात्मक होता है। प्रकाश का जीवित तत्त्व विमर्श है। विमर्श को दूसरे शब्दों में राव कहते हैं। परावाक् का अहं विमर्शात्मक राव पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरीरूप से तीन प्रकार का होता है। स्थूल, सूक्ष्म और पर रूप से उक्त तीनों ९ प्रकार के होते हैं। इन ९ भेदों की भित्ति तो परावाक् ही है। इस प्रकार यह दशधा अवभासन उसी विभु का वैभव है। वही सबकी विश्रान्ति का

३. म० मं० पृ० २४-२५ का० ५२

स्थान है। यह अन्तः विश्रान्ति का एक कमनीय आकलन है। इन भेदों के पहले की परावाक् की विश्रान्ति निजानन्दमयी होती है और स्वसत्ता के सन्दर्भ में ही पुलकित होती है।

प्राणोदय—प्राक् संवित् प्राणे परिणता[२] के अनुसार संवित् स्वप्रमातृ-संमित आनन्द से बाहर विलक्षण दशाविशेष के रूप में प्रमाणभूत प्राण रूप में ज्यों ही परिणत हुई, उसी समय आन्तरिकता, बाह्यस्पन्दन में स्फुरित हो उठी। प्राण के उदय की आध्यात्मिक कल्पना या घटना बाह्य-विश्रान्ति की भावना का मूल उत्स है।

अपानोदय—इसके बाद ही बाह्य का विकास अनवरत चलता हुआ प्राण से अपान तक पहुँचा। एक तरह से प्राण का अधः प्रवाह ही अपान है। प्राण को यदि सूर्य कहें, तो अपान चन्द्र है। प्राण यदि प्रमाण है, तो अपान प्रमेय है। यह प्रमेयोदय है। आज्ञा और मूलाधार चक्रों के अन्तर्गत स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत की सीमा में इस अपान चन्द्र को पूरक क्रम से भर कर रोक लेना प्राणायाम प्रक्रिया में कुम्भक व्यापार कहलाता है।

समानोदय—कुम्भक के सध जाने पर साधक का शरीर भार हीन हो जाता है। वह 'स्व' से ऊपर उठकर सार्वात्म्य की संवेदनात्मकता में प्रवेश पा जाता है। लगता है कि, सारा प्रमेयरूप जगत् उसकी परम प्रमातृता में समाहित हो गया है। उसे अब किसी की अपेक्षा नहीं होती, कोई आकाङ्क्षा नहीं होती। अन्य निराकाङ्क्ष अवस्था में परमानन्दसन्दोह की उपलब्धि साधक को होने लगती है।

अब विकास की गति आगे बढ़ जाती है। कुम्भक ही समान वायु के उदय का व्यापार है। समान वायु में जल, पृथ्वी और आकाश तत्त्वों पर अग्नि का विशिष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। ये अनेक प्रतिभासमान पदार्थ परस्पर संघट्टित से हो जाते हैं। प्राण की सीमा में समा जाते हैं। इनके इस संघट्टात्मक सामरस्य की अनुभूति का आधार 'समान' ही होता है। यह शरीरादि का पोषक वायु है।[२] समग्र मेय का स्वीकरण ही समान भूमि है।

१. तं० ५।८३-९४   २. अ० तं० ५ पृ० ३९० पं० ११

उदानोदय—समान के बाद उदानवह्नि का उदय होता है। इसका स्थान हृदय ही है। वह हृदय जो कदली दल संपुटाकार है।[१] जिसके पर्यन्तभाग में परमोपादेय पुष्पभाग परिशोभित है। उसी प्रकार उदान भूमि में साधक बाह्य शरीर तत्त्वसमूह का परित्याग कर आभ्यन्तर परिस्फुरित आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।[२]

सोम, सूर्य और अग्नि का संघट्ट, प्राण, अपान और उदानका ही संघट्ट है।[३] उदान वह्नि के उदय हो जाने पर प्राण और अपान का जो संघट्ट समग्र मान और मेय का जो ओघ अथवा सामरस्य या प्रवाह अथवा सूर्य, सोम और अग्नि का पारस्परिक सम्मेलनात्मा सौभाग्य वैभव, उससे विभूतिमान् योगी मध्यम मार्ग से अर्थात् सुषुम्णा से ऊर्ध्व प्रवाह प्राप्त करने वाली उदान वह्नि के द्वारा समग्रता का ग्रास कर लेता है। प्राण, अपान-समान जन्य क्षोभ से अब वह विक्षुब्ध नहीं होता वरन् प्राणायाम की आतिशायिनी दशा का अनुसन्धान करता हुआ वह प्रमात्रंश में समाहित होने का विमर्श करता है और महानन्द नामक महार्चि में विश्रान्ति प्राप्त कर परा शान्ति का अनुभव करता है। भेद से स्फुरित मातृमान मेयादि रूपा उपाधियाँ वहाँ निरस्त हो जाती हैं।

व्यानोदय—उपाधियों के निरसन की इस निरुपाधि महादशा को व्यान नामक महाव्याप्ति के रूप से स्वीकार करते हैं। उसी महाव्याप्ति में व्यापकतापूर्वक आनयन के कारण इसे व्यान कहते हैं। क्षिति से कला पर्यन्त व्याप्ति होने के कारण भी यह व्यान है। माया शक्ति का सारा आवरण व्यापार यहाँ ध्वस्त हो जाता है। साधक विज्ञानाकलता का आकलन कर शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी बन जाता है और वह सत् की सत्ता से ऊपर उठकर चित् के चर्वण का आनन्द प्राप्त करने लगता है।

एवं शून्यात्प्रभृति व्यानान्तं या एता विश्रान्तयः ता एव निजानन्दो, निरानन्दः, परानन्दो, ब्रह्मानन्दो, महानन्दः, चिदानन्दः इति षट् आनन्दभूमयः उपदिष्टाः यासामेकः अनुसन्धाता उदयास्तमय-विहीनः अन्तर्विश्रान्तिपरमार्थरूपो जगदानन्दः।

१. म० मं० पृ० ४९ पं० २३ का० १९   २. तं० ५।२१-३३
३. तं० ५।२२ पृ० ३३२ पं० ९; ११-१२

इस प्रकार शून्य से व्यान तक की ये विश्रान्तियाँ ही 'निजानन्द' 'निरानन्द', 'परानन्द', ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द नामक छः आनन्द की भूमियाँ हैं। इनका एकमात्र अनुसन्धाता उदयास्त विहीन अन्तर्विश्रान्तिपरमार्थरूप जगदानन्द है।

शून्य में विश्रान्ति स्वप्रमात्रंश की विश्रान्ति को कहते हैं। शून्य विशुद्ध-प्रमातृ-पद का मूल विश्रामस्थल है। संविद् की और स्वात्म की सामरस्य भूमि है। इसी पुण्यभूमि पर उच्चिचारयिषा होती है। संविद् प्राण रूप में परिणत होती है और प्राण का परिस्पंद प्राणना वृत्ति का सृजन करता है। आन्तरिकता पुलकित हो उठती है और परिणामतः बाह्य का अभिषेक हो उठता है। प्राण की प्राणवत्ता का वैशिष्ट्य संविद् की सामान्य भूमि से अलग उल्लसित होने लगता है] पार्थक्य की परम्परा का प्रादुर्भाव हो जाता है और भेदवादिता की अनुभूति हो जाती है। सामान्य को इसी प्राथमिक आकलना की उत्स भूमि शून्य है। उसमें विश्रान्ति के आनन्द को शास्त्र की भाषा में निजानन्द कहते हैं। विशेष के प्रथम स्तर की बाह्य विश्रान्ति की अवस्था को निरानन्द कहते हैं। क्योंकि निज प्रमातृ संमत आनन्द से निष्क्रान्त दशा विशेष का यह पहला आनन्द होता है। इसमें प्राण का हृदय से किसी प्रकार बहिरौन्मुख्य व्यापार प्रारम्भ हो जाता है।

तीसरी भूमि अपान के उदय की है। यह दूसरा विशेष सृजन है। इसमें पर अर्थात् प्रमेयजन्य आनन्द की अनुभति होती है। इसलिए इसे परानन्द कहते हैं। प्रमाता की अपेक्षा इस दशा में प्रमेय का अत्यधिक विस्तार हो जाता है। उनका अर्थ ग्रहण होने लगता है। विषय ग्रहण ही पान है।

पान के अनन्तर जिस मनस्तोष या निराकांक्षता का अनुभव होता, उसी अर्थ में नञ् समास का 'अ' प्रयुक्त है। इस प्रकार निष्पन्न अपान शब्द पृथक् पृथक् विषय ग्रहण करने में होने वाने आनन्दों और उनकी निराकांक्षा से होने वाले द्विविध आनन्दों का प्रतीक है। यह परानन्द है। यह आप्यायन करता है। परिणामतः इसे चन्द्र कहते हैं। प्राण यदि सूर्य है, तो अपान सोम है क्योंकि द्वादशान्त से हृदय तक को पूरक क्रम से यह आप्यायित किया करता-है।

प्राणायाम में कुम्भक का क्रम पूरक के बाद आता है। कुम्भक में क्षणभर के लिये अनन्त प्रतिभासमान मेयों का अन्योन्य मेलन होता है। यहाँ सद्यः समानरूप से समग्र मेयता की स्वीकृति होती है। इस लिये इस वायु को समान कहते हैं। इस सद्यः विश्रान्ति से उत्पन्न परानन्द से भी उत्तम आनन्द को ब्रह्मानन्द कहते हैं क्योंकि इसमें आनन्द का उपबृंहण होता रहता है।

प्राण और अपान के इस समान प्रवाह में श्वास प्रश्वासों का सहस्राधिक उच्छलन जीव जगत् को जीवन प्रदान करता रहता है। किन्तु योगी इन श्वास स्पन्दनों को जीत लेता है और उसी समय मध्यम मार्ग का अनुयायी बन जाता है। सुषुम्ना का आम्नाय उसे मिल जाता है और वह उसी मार्ग से प्राणापान-समान जन्य क्षोभ का क्षय कर ऊर्ध्वगमन करता है। इस ऊर्ध्वगति में उसे प्राण रूप प्रमाण और अपानादि प्रमेयांशों के आनन्दों को भी अतिक्रान्त करने वाले महानन्द की उपलब्धि होती है। आनन्द का यह उत्सव उदान वायु के उत्कर्ष का परिणाम है। ऊर्ध्वगतिशील प्राण ही उदान है। वह एक चिरन्तन अर्चिका चमत्कार है। उसी प्रकाशराशि में प्रवेश प्राप्त कर योगी महानन्द की महानुभूति प्राप्त करता है।

महानन्द में विश्रान्ति प्राप्त कर योगी माता-मान और मेयात्मक समस्त उपाधियों की भेदवादिता का भेदन कर उससे ऊपर उठ जाता है। वहाँ वह धरा से माया के महा विस्तार तक की महव्याप्ति में स्वयं व्याप्त हो जाता है। उस समय चित् की चिन्मय भूमि में प्रवेश हो जाता है। अध्वा का अशुद्ध आवरण भग्न हो जाता है। वहाँ योगी जिस आनन्द का अनुभव करता है, उसे चिदानन्द कहते हैं। यह व्याप्ति के द्वारा सर्वत्र आनयन की प्रक्रिया है और व्यानवह्नि का वैभव है। सर्वमयत्व के बावजूद सर्वोत्तीर्णता के कारण चिन्मय भूमि में योगी संप्रतिष्ठित हो जाता है।

यह छः आनन्द की भूमियाँ पूज्य गुरुवर्यों द्वारा शतशः उपदिष्ट हैं। इनका सतत अनुसन्धान योगी करता है। यह साधना की उच्च भूमियाँ है। वस्तुतः इनका एक मात्र अनुसंधाता तो एक ही है। वही परप्रमाता है। प्रकाश है। प्रकाश का विमर्श है। वहाँ भौतिक विश्व की भाँति उदय और अस्त की

कल्पना नहीं, वृत्तियों की उच्छलता नहीं, पार्थक्य की पृथुलता नहीं, बाह्य का ऊहापोह नहीं, वरन् अन्तर का उजास है, चिदैक्य की परमार्थ सत्ता है और छहों आनन्दों का जो आनन्दात्मक विश्व है—उसमें पराविश्रान्ति परमानन्द है, उसमें ही आनन्द परम्परा का सर्वातिशायी सर्वविस्फार है। तन्त्रालोक और तन्त्रसार के रचयिता महामाहेश्वराचार्य आचार्य अभिनव के पूज्य गुरुवर्य की वाणी का यह वरेण्य वरदान है।[1]

तत् एतासु उच्चारभूमिषु प्रत्येकं द्व्यादिशः सर्वशो वा विश्राम्य अन्यत् देह-प्राणादिव्यतिरिक्त-विश्रान्ति-तत्त्वम् आसादयति। तदेव सृष्टि-संहारबीजोच्चारणरहस्यम् अनुसंदधत् विकल्पं संस्कुर्यात्, आसु च विश्रान्तिषु प्रत्येकं पञ्च अवस्था भवन्ति प्रवेश-तारतम्यात्।

उच्चार की इन भूमियों में प्रत्येक दो आदि क्रम से या सर्वात्म रूप से विश्राम करके देह, प्राण आदि के व्यतिरिक्त विश्रान्ति तत्त्व को प्राप्त करता है। यही सृष्टि और संहार बीजों के उच्चार का रहस्य है। इसका अनुसंधान करते हुए विकल्प का संस्कार करना चाहिये। इन विश्रान्तियों की प्रत्येक की प्रवेश तारतम्य से पाँच अवस्थायें होती हैं।

तात्त्विक विश्रान्ति का उच्चदार्शनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। विश्रान्ति की दशा में स्तरीय लय हो जाता है। शून्य से व्यान दशा की विश्रान्तियों को क्रमशः 'निरानन्द', 'परानन्द', ब्रह्मानन्द', महानन्द चिदानन्द और जगदानन्द कहते हैं। ये भूमियाँ प्रथमतः उपदिष्ट हैं। यही प्राण उच्चार भूमियाँ हैं, जहाँ साधक की परा विश्रान्ति होती है। इनमें प्रत्येक में, एक से दूसरी भूमि में अथवा सार्वात्म्य की उच्चभूमिका में उक्त छहों के सामरस्य में विश्रान्ति का आनन्द लेते हुए साधक देह, प्राण और बुद्धि के अतिरिक्त एक विलक्षण विश्रान्ति तत्त्व की उपलब्धि करता है। वस्तुतः इस दशा को इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समत्व भूमि कहना चाहिए।[2] यह क्रम ही षट्चक्र भेदन का गुप्त रहस्य है।

मन्त्रव्याप्ति का दूसरा ही क्रम है। जैसे दण्ड से आहत सर्प अपनी

१. तं० ५।४४-५१ २. तं० ५।५६

कुण्डली छोड़ कर दण्ड के समान बन जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति भी परमेश्वर प्रेरित अथवा गुरु से प्रतिबोधित होकर ऊर्ध्वमुखीन होकर जागृत हो उठती है। इसके जागृत होते ही आनन्द में विश्रान्ति हो जाती है। कभी अकेले प्राण में कभी प्राणापान में विश्रान्ति हो सकती है। साधक प्राणापान की समत्व दशा में—मध्यधाम में—विषुवद्धाम में प्रवेश कर, चतुष्किका (ब्रह्मरन्ध्र के अधोभाग में वर्त्तमान चिन्तामणि नामक चतुष्पथ रूप आधार) के अवलम्बन से धन्य हो उठता है। कभी भ्रूमध्य में विद्यमान विद्याकमल नामक अम्बुज रूप आधार को ग्रहण कर वहीं परमानन्द की उपलब्धि करता है। कभी लम्बिका सौध में विश्रान्ति प्राप्त कर आनन्दित होता है। कभी इडा, पिंगला और सुषुम्ना के सामरस्य से निर्मित त्रिशूल भूमि पर आरोहण कर अपने भौतिक अस्तित्व का उपबृंहण कर भैरवीभाव में अनुप्रवेश कर जाता है। उक्त सभी परा-विश्रान्ति के क्षण हैं। उच्चारभूमियों के सौध हैं। इसी भौतिकता की भूमि में शिवता के सामरस्य-सुधासार-सौरभ का साम्राज्य परमानन्द सन्दोह सर्वस्व आराध्य के अनुग्रह से प्राप्त हो जाता है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समत्व से निष्पन्न भैरवीय भाव प्रकर्ष से रमण करता हुआ बिन्दु की वैन्दवी और नाद की आह्लादमयी आनन्दवादिता में विभोर हो उठता है। समना की शाश्वतविकस्वर आनन्द सम्पदा के अमृत से आप्यायित होता रहता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि, साधना के धनी वे लोग सचमुच धन्य हैं, जिन्हें आनन्दवादिता के सौध के आरोह के लिये उपाय रूप सोपानपरम्परा की प्राप्ति हो जाती है। इसका अनुसन्धान करना भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।[1] सृष्टिस्थिति और संहार के बीज का रहस्य उन्हें हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाता है। विकास संकोचमयी सृजन संहारात्मकता के आनन्द की अनुभूति उसे इसी उच्चारण क्रम में प्राप्त हो जाती है। उच्चार की इन चिन्तन भूमियों में विकल्पों का संस्कार होता रहता है।

इन विश्रान्तियों और आनन्द की क्रमशः ५ अवस्थायें होती हैं। यह क्रमिकता प्रवेश के तारतम्य से ही होती हैं। इन सब में विश्रान्ति और इनमें अनुप्रवेश गुरुवर्य प्रभु की अकारण कृपा से सम्भव है। भाग्यशाली

१. तं० ५।६०. १३२

साधक परमशिव के परमानुग्रह से अनुगृहीत होता है और तन्मयी भाव की प्राप्ति कर सद्यः भैरवीय महाभावरूप परामुक्ति प्राप्त कर लेता है।[1]

तत्र प्रागानन्दः पूर्णतांशस्पर्शात्, तत उद्भवः क्षणं निःशरीरतायां रूढेः, ततः कम्पः स्वबलाक्रान्तौ देहतादात्म्यशैथिल्यात्, ततो निद्रा बहिर्मुखत्वविलयात्। इत्थम् अनात्मनि आत्मभावे लीने स्वात्मनः सर्वमयत्वात् आत्मनि अनात्मभावो विलीयते इति, अतो घूर्णिः महाव्याप्त्युदयात्। ता एता जाग्रदादिभूमयः तुर्यातीतान्ताः। एताश्च भूमयः त्रिकोणकन्द-हृत्तालूर्ध्वकुण्डलिनीचक्रप्रवेशे भवन्ति।

वहाँ [मंत्रव्याप्ति के अनुसार उच्चारभूमि में प्रवेश करते समय] पूर्णताके आंशिक संस्पर्श के कारण 'प्रागानन्द' [प्राप्त होता है]। उससे आगे 'उद्भव' [की स्थिति होती है] क्योंकि निःशरीर की रूढि [हो जाती है]। उसके बाद स्वात्म स्वातन्त्र्य में अनुप्रवेश की दशा में देहतादात्म्य शिथिल हो जाता है। फलस्वरूप 'कम्प' होता है। तदनन्तर बहिरौन्मुख्य के विलय हो जाने से 'निद्रा' आ जाती है। इस प्रकार अनात्म पदार्थों में [अज्ञान के कारण उत्पन्न आत्मभाव के नष्ट हो जाने पर स्वात्म की सर्वमयता के कारण आत्मा में अनात्मभाव विलीन हो जाता है। इस महादशा में 'महाव्याप्ति' का उदय होता है] इसे 'घूर्णि' कहते हैं। ये सभी जाग्रत आदि भूमियाँ तुर्यातीतान्त हैं और त्रिकोण, कन्द, हृदय, तालु और ऊर्ध्व कुण्डलिनीचक्र में प्रवेश के समय होती हैं।

परमशिव सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व की पाँच शक्तियों से शाश्वत समन्वित है। जीव कंचुकांचित कलङ्कों से कीलित होने के कारण किंचित्कर्तृत्व, अल्पज्ञत्व और अपूर्णत्व से संचालित हो जाता है। उसकी नित्यता छिन जाती है और व्यापकता विनष्ट हो जाती है। वह पशु बन जाता है। जब गुरुवर्य की अकारण कृपा से, परा-

१. तं० ५।५०-५६

त्पर के परानुग्रह से, उसकी प्रवृत्ति साधना की दिशा में उन्मुख धावित होती है, तो सर्वप्रथम उसे परमात्मा की पूर्णता का आंशिक संस्पर्श होने लगता है। उस समय साधक की अपूर्णता पावन होने लगती है। उस प्राथमिक आनन्द को 'प्रागानन्द' कहते हैं।

अब तक तो साधक शरीर को ही आत्मा मानता आया था। अब वह कुछ ऊँचाई पर चढ़ने लगता है। सोचता है—यह शरीर मैं नहीं हूँ। इस संस्कृत अनुसंधान के कारण वह ऊपर उठता है। यही 'उद्भव' दशा है। इसमें—निःशरीरता की रूढि हो जाती है। सशरीरता की कुण्ठा से उन्मुक्त होकर अशरीरता की असीमता में वह आरोहण करता है। आरोहण का निश्चय ही रूढ़ि है।

स्वात्मशक्ति का विस्मरण महती विनष्टि[1] है। क्रमशः पदे-पदे जागरूकता से गतिशील होना आक्रान्ति कहलाता है। स्वात्मसत्ता का स्मरण और उसकी अविस्मरणीय शक्तिमत्ता में—बलवत्ता में प्रवेश साधक के सौभाग्य का विषय है। वहाँ पहुँचने पर देहतादात्म्य शिथिल हो जाता है। एक झूठा सपना टूटता है और इस देह में ही देहात्मवादी वृत्तियों का जो अम्बार हो गया होता है, वह चकनाचूर हो जाता है। इस अवस्था में 'कम्प' होता है। वृत्तियाँ काँप-काँप उठती हैं—इन ऊँचे विचारों के कारण इस लिये इस दशा को 'कम्प' कहते हैं।

इसके बाद बाहरी आकर्षण समाप्त होने लगते हैं। व्यक्ति, अन्तर्मुख होने लगता है। बाह्य वृत्तियों से उपराम हो जाता है। परमतत्त्व का सांमुख्य उसे आनन्दविभोर कर देता है और एक अलौकिक अद्भुत नींद आ जाती है। यही निद्रा है।

उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, इस स्थिति में आते-आते स्वात्मसत्ता का संकोच विगलित हो जाता है और स्वात्मप्रसार हो जाता है। अब तक अनात्म पदार्थों में आत्मभाव का आग्रह था; वह मिट गया और 'स्व' ही 'सर्व' बन गया। 'स्' विसर्ग और सृष्टि सीत्कार का प्रतीक है। 'व' अनुत्तर और उन्मेष का अमृत है। इसमें ज्ञान की गतिशीलता की प्रतीक 'ऋ' 'अर्' गुण बन कर मध्य में समाहित हो उठी। इन अक्षर

१. उपनिषद् केन

सन्दर्भों के अनुसन्धान से उत्पन्न 'स्वरूप सर्व' का साक्षात्कार हो जाता है और साधक संकुचित 'स्व' से ऊपर उठ कर सर्वमयता की महानुभति से धन्य हो उठता है। इससे आत्मतत्त्व में अनात्मभाव का विलयन हो जाता है। सार्वात्म्य की संविद् सत्ता में आरूढ़ होकर वह घूर्णन करता है। इस लिये इस विकसित अवस्था को 'घूर्जि' कहते हैं। इसे महाव्याप्ति की उदयावस्था का परिणाम भी कहते हैं। इसमें दश अवस्थाओं का व्युदास हो जाता है।[1] विश्रान्ति की ये ५ अवस्थायें हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय और तुर्यातीत रूप वे पाँच अवस्थायें भी इसी उद्बोधन क्रम की प्रतीक है।[2] किन्तु इन्हें क्रमशः प्रागानन्द, कम्प, उद्भव, निद्रा और घूर्णि की शास्त्रीय भाषा में परिभाषित करते हैं।[3] प्रागानन्द योगिनी वक्त्र रूप त्रिकोण, उद्भव–कन्द, कम्प–हृदय, तालु–निद्रा और घूर्णि ऊर्ध्व कुण्डलिनी को कहते हैं[4] वास्तव में आणव समावेश ५० प्रकार का होता है। ५ प्रकार का भूतसमावेश, तत्त्वसमावेश ३० प्रकार का, आत्म समावेश तीन प्रकार का मन्त्र समावेश दश प्रकार का, और शक्ति समावेश दो प्रकार का होता है। ये भूत, तत्त्व, आत्म, मन्त्रेश और शक्ति समावेश हैं। इन्हें आणव समावेश कहते हैं। यही उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान भेद से ५ प्रकार का होता है। यह प्रत्येक समावेश जाग्रत् स्वप्नादि भेद से ५ प्रकार का होता है। ये सभी साधकों के लिये विशेषतः ध्यातव्य हैं। जाग्रत् पिंडस्थ, स्वप्न (द्विसंज्ञ) पदस्थ और व्याप्ति, रूपस्थ महाव्याप्ति, तुर्य रूपातीत प्रचय, तथा तुर्यातीत को महाव्याप्ति कहते हैं।[5] यह सब परिभाषा भेद से एक पदार्थ के ही प्रतिपादन की शास्त्रीय शैली है।

यह सारे के सारे समावेश त्रिकोण और ऊर्ध्व कुण्डलिनी के मध्य में ही अवस्थित हैं या इससे ही सम्बन्धित हैं। प्रत्येक प्रतिनियतचक्र में प्रवेश से विशेष-विशेष प्रकार के अलौकिक आनन्दों की उपलब्धि होती है। ठीक उसी प्रकार जैसे विषय सन्निकर्ष से इन्द्रियजन्य विशिष्ट आनन्दों की उपलब्धि होती है। आँख से रूप तन्मात्रा का ही ग्रहण सम्भव है। विप्रकर्ष संवलित गन्ध का नहीं। यह सब कुछ संविद् सन्निकर्ष के अनुसन्धान से

१. तं० ५-९४ २. मा० वि० ८-२६
३. तं० ५।१०१-१०८ ४. तं० ५।१११ मा० ११।३५
५. मा० वि० २।१८-२५-४२

साधकों को स्वतः, शास्त्रतः या गुरुदेव के महदनुग्रह से प्राप्त होता रहता है। यही उच्चार विश्रान्ति का रहस्य है।

एवम् उच्चारविश्रान्तौ यत् परं स्पन्दनं गलिताशेषवेद्यं, यच्च उन्मिषद्वेद्यं, यच्च उन्मिषितवेद्यं; तदेव लिङ्गत्रयम् इति वक्ष्यामः स्वावसरे। परं चात्र लिङ्गं योगिनीहृदयम्। तत्र मुख्या स्पन्दनरूपता संकोचविकासात्मतया यामलरूपतोदयेन विसर्गकलाविश्रान्तिलाभात् इत्यलम्। अप्रकाशः अत्र अनुप्रवेशः।

इस उच्चार विश्रान्ति में तीन लिङ्ग यथावसर वक्ष्यमाण हैं। प्रथम सर्वोत्कृष्ट स्पन्दन गलिताशेषवेद्य, दूसरा उन्मिषद्वेद्य और तीसरा उन्मिषित वेद्य स्पन्दन है। यहाँ [यह ध्यातव्य है कि] योगिनी हृदय को ही परम लिङ्ग कहते हैं। इसमें मुख्य स्पन्दनरूपता का क्रम है। संकोच विकासात्मकता के कारण यामलरूपता उदित होती है। विसर्गकला विश्रान्ति के लाभ से [संवलित] है। यहाँ अनुप्रवेश अप्रकाशरूप है।

उच्चार विश्रान्ति की व्याख्या ऊपर की गयी है। इसमें तीन प्रकार के लिङ्गों का स्पन्दन होता है। स्पन्दन का तात्पर्य अहंपरामर्शमय संविद् विश्रान्ति है। संविद् के इसी अहमात्मक विमर्शन को स्पन्द, हृदय, योगिनी-हृदय, अव्यक्तलिङ्ग आदि शब्दों से व्यपदिष्ट करते हैं। इस अहमात्मक संविद्विमर्श की तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली स्थिति में विभाग और पार्थक्य की कल्पना नहीं रहती। अविभाग की अलौकिक अवस्था का कमनीय निदर्शन यह स्पन्दन होता है। उसमें वेद्य की संवेदना नहीं होती। सम्पूर्णतया अहमात्मक परामर्श ही वहाँ होता है। उस अवस्था को शिव शक्ति की सामरस्य दशा कह सकते हैं। विगलित-वेद्यान्तर चितिचर्वण-चमत्कृतिचारु अहमात्मक विमर्श रूप यह उच्चार-विश्रान्ति-सम्भूत-स्पन्दन योगियों एवम् साधकों के लिये महत्त्वपूर्ण है। यही पर-स्पन्दन है। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि, यह दशा भी अनुत्तर दशा नहीं है। अनुत्तर ही इन तीन अवस्थाओं में स्पन्दित होता है।[1]

१. तं० ५।१२०

दूसरी श्रेणी का स्पन्दन, वह दशा है, जिसमें वेद्य वर्ग का उन्मेष अपनी प्रारम्भिक अवस्था में रहता है। इस अनुभूति की परम्परा का श्री गणेश होता है कि, यह अमुक पदार्थ है—यह अमुक वस्तु है, यह अमुक स्थान और व्यक्ति है। पार्थक्य की भेद प्रथा का अंकुरण इस दशा की विशिष्टता है। तदनन्तर भेद भूधर अपने भैरव सार्वभौम आयाम में विश्व-चेतना को आत्मसात् करने का उपक्रम कर लेता है। समग्र वेद्य वर्ग आकर्षण का केन्द्र बन कर सर्वात्मा को आकृष्ट करता रहता है।

यही तीन लिङ्ग हैं। लय होने और पुनः आ जाने के कारण अथवा लीन रहस्य को अवगम कराने के कारण इन स्पन्दनों को लिङ्ग कहते हैं।[1] यह विश्व अविभागत्वेन अवस्थित है फिर भी अन्तःस्थ रहता हुआ भी गम्य है। यह परा संविद् का विस्मयकारी प्रभाव है कि, विश्व उसी से उन्मिषित होता है और उसी में लीन हो जाता है। इन तीनों स्पन्दनों को क्रमशः अव्यक्त, व्यक्ताव्यक्त और व्यक्तलिङ्ग भी कहते हैं। इनमें सर्वोत्तम अव्यक्तलिङ्ग है। यह अहं परामर्शमय नरशक्ति शिवात्मक संवित्स्पन्दनात्मक योगिनी हृदय नामक लिङ्ग है। इस स्पन्दन की दशा में संकोच और विकास की यामलरूपता की विसर्गकला में विश्रान्ति होती है।

देह आदि में आत्माभिमान रहने पर भी परा संवित्-समावेश, दूषित नहीं होता वरन् बहिः उल्लसित इदन्ता से सम्पृक्त होकर भी मन्त्रवीर्यात्मक इदम् अहम् की प्रतीति से संचलित होता हुआ पुलकित रहता है। यह परापर दशा है—सद्विद्या की यही अनुभूति है। यहाँ अहन्ता और इदन्ता का सामानाधिकरण्य ही उल्लसित रहता है। शुद्ध अहं परामर्श का अभाव हो जाता है। नररूपता और शक्तिरूपता का यहाँ समन्वय होता है। इसी लिये इसे परापर व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग कहते हैं। किन्तु इससे भी आगे बढ़ कर जब पराद्वय शिवोहं परामर्श गौण हो जाता है और इदन्ता ही प्रधान हो जाती है, तब केवल पुँस्तत्त्व जड़ता से आच्छादित हो जाता है। ऊपर परतत्त्व की परिणामातिशयित दशा और नीचे पुँस्तत्त्व की जड़ता दोनों में मन्त्र का विनियोजन नहीं होता है। यह मध्य दशा में ही फलप्रद होता है। व्यक्तलिङ्गों से सिद्धि का उपक्रम, व्यक्ताव्यक्त से सिद्धि का सद्भाव, अव्यक्त से मोक्ष और अनुत्तर निर्विचार निर्विकार परमानन्द—

१. तं० ५।११३

यही वस्तु स्थिति है। इस विश्लेषण में संकोच विकास का पूरा इतिहास प्रतिबिम्बित है। वस्तुतः अहं परामर्शात्मक स्पन्दन एक ही है। उसकी यह त्रैध भेदवादिता उपचारात्मक है; आनन्द धारा के उच्छलन का उद्भावन है और विसर्ग विश्रान्ति की करवट है।

इसमें अनुप्रवेश अर्थात् परतत्त्व की चित्प्राधान्य और विमर्श प्राधान्य-संवलित अवस्थाओं का आकलन गुरु कृपा पर ही निर्भर है। जब भैरव-मुद्रानुप्रवेशात्मक निर्विशेषतत्त्व की अनुभूति हो जाती है, तो उसके चर्वण चमत्कार की चिदानन्दात्मकता प्रकाश की सामान्य परिभाषा से परिभाषित नहीं होती है। यही अप्रकाश अनुप्रवेश का तात्पर्य है।

> पूर्वं स्वबोधे तदनुप्रमेये
> विश्रम्य, मेयं परिपूरयेत।
> पूर्णेऽत्र विश्राम्यति मातृमेय-
> विभागमाश्वेव स संहरेत॥
> व्याप्त्याथ विश्राम्यति ता इमा स्युः
> शून्येन साकं षडुपाय-भूम्यः।
> प्राणादयो व्यानन्तपश्चिमास्त-
> ल्लीनश्च जाग्रत्प्रभृति-प्रपञ्चः॥
> अभ्यासनिष्ठोऽत्र तु सृष्टि-संहृद्-
> विमर्शधामन्यचिरेण रोहेत।
> इत्यान्तरश्लोकाः। इति उच्चारणम्॥

पहले इच्छारूप स्वात्मबोध परामर्श[1] में, फिर प्रमेय में विश्रान्ति लाभकर मेय को परिपूरित करके, पूर्ण परतत्त्व की विश्रान्ति दशा में माता, मान और मेय का पार्थक्य शीघ्र ही समाप्त करे।

व्याप्ति में अवस्थान के द्वारा विश्रान्ति लाभ होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान और शून्य ये छः उच्चार भूमियाँ होती हैं। इसी

१. तं० १।१४६

प्रकार जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत रूप समस्त स्पन्दन प्रपञ्च भी ज्ञातव्य है।[१] जो साधक सतत अभ्यास में लगा रहता है, वह सृष्टि, संहार, तिरोधान, अनुग्रहादि भूमियों में निश्चय ही आरोहण का अधिकारी बन जाता है। ये सम्बन्धित श्लोक हैं। इस प्रकार उच्चारण की प्रक्रिया का आकलन सम्पन्न होता है।

पाँचवें आह्निक में अब तक जो विश्लेषण किया गया है, इन श्लोकों में उन्हीं तथ्यों का पद्यात्मक आकलन है। पहले प्रत्यभिज्ञा का उपक्रम, फिर अहंता और इदन्ता का बोध, फिर इदम्-अहम् की अनुभूति, पुनः इदन्ता में से उत्तीर्ण अहंता की प्रबल अनुभूति और संसार में रहते हुए भी माता, मान और मेय बुद्धि की पूर्णतः प्रक्षीणता—यह योगी की तत्त्वचिति-विनियोजन प्रक्रिया का ऊर्ध्वारोहण क्रम है।

इसी प्रकार प्राण आदि पञ्च उच्चार, शून्य (अनुत्तर) को मिला कर छः प्रकार के होते हैं।[२] जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत रूप पाँच अवस्थाओं के प्रपञ्च भी उसी परम को ही परिभाषित करते हैं। निरन्तर अनुसन्धान संलग्न अनुसंधाता योगी सृष्टिस्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह की कलना से कलित होता है और उस परमतत्त्व का अधिगम कर लेता है। यह सारा रहस्योद्भावन उसी परमतत्त्व की प्राप्ति की प्रक्रिया का प्रतीक है। यहाँ तक ग्रन्थकार ने उच्चार विधि का विश्लेषण किया है।

अथ सूक्ष्मप्राणात्मा वर्णः

अस्मिन् एव उच्चारे स्फुरन् अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिः वर्णः। तस्य सृष्टिसंहार बीजे मुख्यं रूपं, तदभ्यासात् परसंवित्ति-लाभः। तथाहि—कादौ मान्ते सास्के अनच्के वा अन्तरुच्चारिते स्मृते वा समविशिष्टः संवित्स्पन्दस्पर्शः समयानपेक्षित्वात् परिपूर्णः। समयापेक्षिणोऽपि शब्दाः तदर्थभावका मनोराज्यादिवत्, अनुत्तर संवित्स्पर्शात् एकीकृतहृत्कण्ठोष्ठो द्वादशान्तद्वयम् हृदयं च एकीकुर्यात् इतिवर्णरहस्यम्।

१. तं० ५।४९   २. तं० ५।५४

सूक्ष्म प्राणात्मा वर्ण के इस प्रकरण में उसका रहस्य [वर्णित] है इसी उच्चार में स्फुरित अव्यक्तानुकृति प्राय ध्वनिको वर्ण कहते हैं। वर्ण के दो मुख्य रूप हैं १—सृष्टि बीज और २-संहार बीज। इनके अभ्याससे परा संविद् में अनुप्रवेशका लाभ होता है। उदाहरण रूप से 'क' से 'म' तकके स्वर सहित या स्वररहित ध्वनियों के आन्तरिक उच्चार की स्थिति में या उनकी स्मृति दशा में समानवैशिष्ट्य सवलित संवित् शक्तिके स्पन्दनका स्पर्श, किसी 'समय' की अपेक्षा नहीं करता। [अतएव उसदशा में वह] परिपूर्ण है। समयसापेक्ष शब्द मनोराज्य को तृप्त करते हैं। तथा इच्छित अर्थ के भावक होते ही हैं। अनुत्तर संवित् स्पर्श से एकीकृत हृदय कंठ ओष्ठ आदि स्थानों का रहस्य-प्राप्त [साधक] द्वादशान्त-द्वय और हृदय दोनों की एकरूपता का आकलन करता है। यही वर्ण का रहस्य है।

पाणिनीय शिक्षा के अनुसार बुद्धि और मन की अर्थानुसारी आत्म-विवक्षा ही प्राणस्पन्द की हेतु बन कर ५ प्रकार के वर्णों की उत्पत्ति करती है।[१] प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार भी प्राणोच्चार में स्फुरित अव्यक्तानुकृतिमयी ध्वनि को वर्ण कहते हैं।[२] अनाहत रूप अव्यक्तप्राय नाद, वर्णोत्पत्ति के हेतु के कारण वर्ण कहलाता है।[३] बैखरी [स्थूल वाणी] मध्यमा से, मध्यमा पश्यन्ती से और पश्यन्ती परावाक् से निष्यन्दमान विद्या-धारुणी की विभूति है। इससे भी सूक्ष्म परमेश्वर के स्वरूप में अनुप्रवेश करने वाली, मयूराण्डरसन्याय के अनुसार उक्त वाक्त्रय-शबल स्वभावा परावाक्[४] है। परमशिवरूप परप्रकाश का विमर्श ही परावाक् है। इसे नाद भी कहते हैं क्योंकि समस्त विश्व की प्राणकला के रूप में यहीं परिस्फुरित होती है। नदति क्रिया का यही भाव है।[५] नाद ही ध्वनि है। यह अव्यक्त पर-तत्त्व की अनुकृति के समान ही भासित है। यही नाद वस्तुतः वर्ण है। वर्ण शब्दराशिरूप परम भैरव के प्रतीक हैं। यद्यपि वर्ण ५ प्रकार के [ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापकसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध] होते हैं।[६] किन्तु इनका मुख्यरूप सृष्टिबीज और संहारबीज ही हैं।

१. पा० शिक्षा ६।१०
२. तं० ५।१३१-१३२   ३. तं० ६।२१६
४. म० मं० ५०   ५. तं० ३।११३   ६. मं० म० ३८ पृ० ९२

सृष्टि और संहार[1] बीज से तात्पर्य वर्ण की उस शक्तिमत्ता से है, जिसके द्वारा विसर्ग सुख [विकास] और विश्रान्ति सुख [संकोच] की उपलब्धि होती है। निस्तरङ्ग महोदधि की तरह शान्त पूर्णप्रकाश संकोच और विकास से रहित होता है। किन्तु वही महोदधि जब उत्ताल तरङ्गों की अपनी महोच्छलता से, बलवती बृंहित लेलिहान लहरों से लहराने लगता है, तो उसका रूप ही बदल जाता है। इसी प्रकार परप्रकाश की विमर्शमयी मधुस्रवा मञ्जुल महोर्मियों की स्पन्दनशीलता का परमानन्द सन्दोह संवलित महाप्रवाह जब सृष्टि के रूप में उच्छलित होता हुआ वह निकलता है, तब भेद प्रथा का प्रौढ़ पार्थक्य भव्यतया भासमान हो जाता है। यह परमेश्वर की स्वातंत्र्य शक्ति का ही विशद विलास है। विश्वका यह विपुल विस्फार और शश्वत् सुनियोजित [संविद् विलीनता के उत्पादक] संहार दोनों का बीज उसी महाप्रकाश में विद्यमान है। शास्त्र की भाषा में मातृका शक्ति के माध्यम से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है। 'अ' अनुत्तर परमशिव, 'इ' परमशिव की विमर्शमयी इच्छा, और 'उ' विश्व का विसर्गात्मक उन्मेष हैं। यह तीनों वर्ण सूर्यरूप हैं। यही मूल ह्रस्व स्वर दीर्घ होकर क्रमशः आनन्द, ईशितृ और ऊर्मिके प्रतीक बन कर विसर्गबीज के विस्फार के प्रतीक बनते हैं। अन्य स्वर और व्यंजन वर्ण समुदाय मातृका रूप में इन्हीं तीनों के विशेषतः व्यक्त विस्फुरण हैं। इन सबका संकोच नाद और विन्दु में होता है। विन्दु से वाक्‌रूप बाह्यविलास पश्यन्ती आदि शक्तियों में विलसति होता है। सृष्टि और संहार [विकास और संकोच] का यह क्रम परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का ही चमत्कार है। दोनों बीजरूप से वही हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है। बस प्रत्यभिज्ञा का उदय ही अपेक्षित है। उक्त ऊहापोह और तत्त्वानुसन्धान सतत आवश्यक है। अभ्यास से अनिवार्यतः पर-संवित्ति का सम्वेदन होता है।

नील पीत आदि पदार्थों में नीलत्व और पीतत्व की अनुभूति और उन पदार्थों से उत्पन्न होने वाले सुख और दुःख बाह्यविश्व के अपरिहार्य कार्य है। इनमें हान और उपादान क्रिया के द्वारा हेय का परित्याग तथा उपादेय का अङ्गीकार पशु के वैवश्य के विनाश के लिये आवश्यक है।

१. तं० ४।१५०-१५४

इसके द्वारा साधक के विकल्पों का संस्कार होता है, विश्वविषयक भेद वृत्तियों का क्षय हो जाता है तथा परमानन्द सामरस्य का आस्वाद सुलभ हो जाता है।[1]

'क' से लेकर 'म' तक स्पर्श वर्ण हैं।[2] ये कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग रूप ५ वर्णक्रमों में २५ है। इनके दो स्वरूप है। १-स्वर के साथ और २-स्वर से रहित। जिस समय प्राणवायु से प्रेरित होकर इनका उच्चारण करते हैं अथवा बुद्धि द्वारा इनका स्मरण होता है—इन दोनों दशाओं में इस बात की आकाङ्क्षा नहीं होती कि, इनका अर्थ क्या है! हाँ, संवित् में स्पन्दन का स्पर्श वहाँ पूर्ण ही रहता है। विना संवित्स्पन्दन के न प्राणवायु द्वारा इनका उच्चारण और न बुद्धि द्वारा इनका स्मरण हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में समविशिष्ट स्पर्श है। अतएव ये पूर्ण वर्ण हैं। जब वर्ण उच्चरित हो जाते हैं। उनके परस्पर विनियोग से शब्दों की निष्पत्ति हो जाती है और आप्त पुरुषों द्वारा अभिधेयार्थ का निर्धारण हो जाता है।

तब उन सभी शब्दों का उन-उन विशिष्ट अर्थों का बोध मनोगत वासना के अनुसार ही होता है। परिणामतः शब्दों के अर्थ समय-सापेक्ष और अपूर्ण विवरण देने वाले हो जाते हैं। यह मनोराज्य का शब्दगत प्रभाव है। घड़ा कहने से उसका लघुवृहत् आकार, उसका मूल [पंदा] और उसका आन्तर अवकाश का भान होता ही है, यद्यपि वे स्वयं अपने शब्दार्थ से अनभिज्ञ ही हैं।

विचारक जब इन सापेक्ष पार्थक्यों का अनुसन्धान करता है और इनके अन्तराल में प्रवेश करते हुए अनुत्तर संवित् का स्पर्श करता है, उस समय उच्चारण के सभी स्थान मानो एक ही हो जाते हैं और हृदय, कण्ठ ओष्ठ सब एक साथ ही 'अ' का आत्मत्व प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था में पूर्व वर्णित द्वादशान्तों का, विमर्श स्पन्द रूप हृदय का समभाव उपस्थित हो जाता है। प्राणपर्व में, संवित्क्रम में और वाक् भूमि तीनों में यह वर्ण-रहस्य प्रस्फुटित होता है। यही वर्ण सम्वन्धी विचार का क्रम है।

१. तं० ४।१८२-१८३, ५।१२५-१२६
२. कादयो मावसानाः स्पर्शाः, सि० कौ०

अन्तःस्फुरद्विमर्शानन्तरसमुद्भूतं सितपीताद्यान्तरं वर्णम्
उद्भाव्यमानं संविदम् अनुभावयति, इति केचित् ।

वाच्यविरहेण संवित्–स्पन्दादिन्द्वर्कगतिनिरोधाभ्याम् ।
यस्य तु समसंप्रवेशात् पूर्णा चिद्बीजपिण्डवर्णविधौ ॥

इति आन्तरश्लोकः । इति वर्णविधिः । करणं तु मुद्राप्रकाशने वक्ष्यामः ।

विकल्पः कस्यापि स्वयमनुपयन् पूर्णमयता–
मुपायात् संस्कारं व्रजति स उपायोऽत्र बहुधा ।
धियि प्राणे देहे तदनु बहिरित्याणवतया,
स निर्णीतो नैषां परफलविधौ क्वापि हि भिदा ॥

सुणउ रबि ससिदहन, स उ उस्सउ एहु सवीरु ।
जंहि अच्छन्तउ परमपउ, पावइ अचिरे वीरु ॥

सं. छा.-[स्वोपज्ञ]-शृण्वन्तु, रविशशिदहनाः! एष तु उत्सवः एव सवीराः।
येन आच्छादितं परमपदम् प्राप्नुयात् अचिरादेव वीरः ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचिते तन्त्रसारे आणव प्रकाशनं
नाम पञ्चममाह्निकम् ॥

अन्तः स्फुरणशील विमर्श के पश्चात् उत्पन्न श्वेत पीत आदि आन्तर उद्भाव्यमान वर्ण, संविद् अनुभूति की प्रेरणा देता है—वर्ण के विषय में यह कुछ लोगों का विचार है ।

वाच्य के विरह के कारण संवित् स्पन्द जन्य चन्द्र और सूर्य, सम्बन्धी गति और निरोध के फल स्वरूप समसंवित् में अनुप्रवेश हो जाता है । यह पूर्ण चिद्बीज रूप पिण्ड वर्ण की विधिका रहस्य है। ये आन्तर श्लोक हैं । यह वर्ण की विधि है। करण का वर्णन मुद्रा प्रकाश के सन्दर्भ में होगा ।

विकल्प किसी का भी हो वह पूर्ण नहीं है । उपाय करने से विकल्प संस्कृत हो जाते हैं । प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में अनन्त उपायों पर प्रकाश डाला

गया है । बुद्धि, प्राण और देह और इसके अतिरिक्त बाहर भी आणव रूप से वह निर्णीत है, चरम परम फल प्रदान करने में सहायक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

सूर्य, सोम और अनल रूप प्रमाताओं सुनो, यह संविद् विमर्श का का उत्सव है । इससे परमपद आच्छादित है । वीर भाव प्राप्त साधक इसे तुरंत प्राप्त करें ।

अन्तः स्फुरित विमर्श से तात्पर्य "मैं कोई अलौकिक प्रमाता हूँ" इसी प्रत्यभिज्ञानात्मक परामर्श से है । इसके बाद भी आँख की खिड़कियों पर बैठकर पार्थक्यप्रथापर्यवेक्षण-प्रगल्भ परम्बा रूपमाधुरी का पान करती हैं । अन्य इन्द्रिय गवाक्षों से भी अनन्त कल्पित स्तम्भ कुम्भादि रूप ग्राह्य-ग्राह्य संवित्ति का उद्भावन होता है । अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न द्विविध प्रमाताओं की अनुभूति ही विश्व के व्यवहार की कारण बनती है । 'इदम्' विमर्श, विच्छिन्न विमर्श ही है । इसमें ही सितत्व पीतत्व की संवित्ति का बोध होता है । किन्तु जब इदन्ता, अहन्ता के अतिरिक्त कुछ भी भासित नहीं होती, जब स्मृति के द्वारा स्वात्मतत्त्व प्रत्यभिज्ञात हो जाता है; अहंता की अनुभूति और सम्प्राप्ति हो जाती है, तभी पारमार्थिक संवित्ति उत्पन्न मानी जाती है। अहन्ता की स्मृति वस्तुतः 'स्व' रूप की जनिका है । उस समय यद्यपि निर्विषयता की प्रधानता होती है फिर भी अनेक आकारों में सर्वत्र अवस्थित होने के कारण वह रञ्जक-स्वभाव-संवलित शक्ति रूप से ही संस्फुरित होती है । स्वर्णघट में स्वर्णत्व का और घटत्व का बोध सर्वरञ्जक बोध है । जब स्वर्णत्व बोध समाप्त होकर केवल घटत्व बोध अवशिष्ट रह जायं, तो स्वर्णत्व-निष्ठ पीतत्व आदि की पार्थक्य प्रथा भी निरस्त हो जाती है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, आन्तर वर्णात्मक सित और पीत स्मृति संवित्क्रम का ही चमत्कार है। विश्व का पृथक् रूप से इदन्तामय दर्शन और प्रत्यभिज्ञा के बाद विराट् स्वात्म दर्शन, दोनों स्थितियों के आकलन में द्वितीय स्वात्म वैराज्य की स्मृति, आन्तर श्वेतत्व और पीतत्व आदि को आत्मसात् कर अवस्थित होती है । वह स्मृति ही आन्तर बोधरूप परप्रकाशविमर्शसंविद् का शाश्वत उद्भावन करती है ।

प्राणात्मक उच्चार और बुद्धि द्वारा स्मृति के समय वाच्यार्थ का आकलन नहीं होता । हाँ संविद् समुद्र में स्पन्द-ऊर्मियों की रमणीयता तो

उल्लसित होती ही रहती है। इस अवस्था में साधक सूर्यात्मक और सोमात्मक गतिशीलता और उनके निरोध के द्वारा समता में प्रवेश प्राप्त करता है। सूर्य प्रमाणात्मक होता है और सोम प्रमेयात्मक। जब प्रमाण प्रमेय रूप में उल्लसित होता है, तब सृष्टि प्रक्रिया गतिशील होती हुई बाह्योन्मुख प्रवाह में बहती रहती है। किन्तु जब प्रमेयांश का प्रमाण की ओर उन्मुख रहकर अनुत्तर विश्रान्तिरूप निरोध प्रारम्भ होता है, तो उस अवस्था से सुख-सीत्कार-सत्-सम्यक् के आदि वर्ण साम्यक्षेत्र में अनुप्रवेश हो जाता है। सृष्टि संहार को उभयात्मक शक्तिमत्ता बीजपिण्डों में पूर्णतया विद्यमान रहती है। अर्थात् प्रत्येक वर्ण अपने में पूर्ण होता है किन्तु वहीं वर्ण जब घट आदि शब्दबोध के आश्रय बन जाते हैं, तब समय-सापेक्ष बन जाते हैं अर्थात् अपूर्ण बन जाते हैं। यही इस आन्तर श्लोक का विश्लेषण है। यही वर्ण की संक्षिप्त विधि है [जो पुनरुक्ति भय से विस्तारपूर्वक नहीं लिखी गयी है]—उच्चार, ध्यान और वर्ण की व्याख्या तो ऊपर हुई किन्तु करण का विश्लेषण मुद्रा के प्रकरण में किया जायेगा।

विकल्पों का संस्कार पूर्णता प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। इनके उपाय भी अनेक हैं। बुद्धि, प्राण और देह रूप पुर्यष्टक और बाह्य विस्फार में आणव उपाय की उपयोगिता सर्वोत्कृष्ट है। परतत्त्व की उपलब्धि में इनकी भेदप्रथा का कोई स्थान नहीं है।

इतना विश्लेषण करने के उपरान्त ग्रन्थकार इस आह्निक का उपसंहार कर रहे हैं। श्रुति के अनुसार यह विश्व अग्निसोमात्मक है। पर इस शास्त्र के अनुसार सूर्यसोमात्मक है। सूर्य, सोम और अग्नि की शक्तियों का समुल्लास ही सर्वत्र उल्लसित है। चाहे वह संवित् क्रम हो, प्राणपर्व हो अथवा वाङ्मये विमर्श हो, सार्वत्रिक परसंविद्विलास रूपी उत्सव स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा शाश्वत आयोजित है।

महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के आणव-प्रकाश नामक पंचम आह्निक का नीर-क्षीर विवेक भाष्य सम्पूर्ण।

षष्ठमाह्निकम्

[कालाध्वप्रकाशनम्]

अथ बाह्यविधिः

स एव स्थानप्रकल्पनशब्देन उक्तः। तत्र त्रिधा स्थानम्—प्राणवायुः शरीरं बाह्यं च। तत्र प्राणे तावत् विधिः—सर्वः असौ वक्ष्यमाणः अध्वा प्राणस्थः कल्यते। तस्य क्रमाक्रमकलनैव कालः। स च परमेश्वर एव अन्तर्भाति। तद्भासनं च देवस्य काली नाम शक्तिः। भेदेन तु तदाभासनं क्रमाक्रमयोः प्राणवृत्तिः।

वही स्थान प्रकल्पन शब्द से उक्त है। स्थान तीन प्रकार का होता है। १. प्राणवायु, २. शरीर और ३. बाह्य। विस्तार । इस [सन्दर्भ] में प्राणविधि—सभी कहे जानेवाले अध्वा प्राण में स्थित आकलित होते हैं। अध्वा की क्रमाक्रम कलना ही काल है। काल परमेश्वर में ही अन्तः प्रकाशित होता है। उसका भासन परमेश्वर की काली नामक शक्ति है। भेद से उसका आभासन, क्रम अक्रम [रूप में] प्राणवृत्ति है।

इस प्रकरण में अथ शब्द का प्रयोग अधिकार का द्योतक है। यहाँ से बारहवें आह्निक पर्यन्त स्थान-प्रकल्पन सम्बन्धित विषय वर्णित हैं। उसके बाद भी विभिन्न बाह्य विधि से सम्बन्धित विषयों का ही वर्णन है।

समावेश के प्रकृत-वर्णन प्रसङ्ग में यहाँ आणव समावेश का विश्लेषण चल रहा है। इसमें उच्चार [करण] ध्यान और वर्ण का वर्णन पंचम आह्निक तक हो चुका है। इसके बाद छठें आह्निक में स्थान-प्रकल्पन शब्द के द्वारा आणव समावेश का बाह्यविधान कहा गया है। यह बाह्य उपाय है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि, उपायों के भेद से उपेय में भेद तो होता है, कारण के भेद से कार्य के भेद दीख पड़ते

हैं किन्तु परतत्व की उपलब्धि में उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और यह स्थानः प्रकल्पन आदि उपाय भेद वैचित्र्य के जनक नहीं होते। वरन् उसकी सिद्धि के समान रूप से साधक होते हैं।

स्थान प्रकल्पन शब्द के दो खण्ड हैं। स्थान[१] और प्रकल्पन। स्थान का ही प्रकल्पन स्थान प्रकल्पन होता है। यहाँ सम्बन्ध षष्ठी है। यह कर्म से सम्बद्ध है। स्थान को ही कल्पित कर परतत्त्व में प्रवेश प्राप्त करते हैं। स्थान तीन दृष्टियों से कल्पित हैं। १. प्राणवायु, २. शरीर और ३. बाह्य विस्फुरित विश्व! यह सब संविद् विस्तार की रूप रेखा है। सिद्धान्त है—'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'। प्राणरूप में संवित् सर्वप्रथम प्रकट हुई। प्राण के विषय में विचार करते समय हमें उसकी पंचात्मकता पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। वह प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान भेद से ५ प्रकार का होता है।

सामान्य स्पन्दन को प्राण कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है। १—प्रमाता और २—प्रमेय। प्रमातृगत अध्वा तीन प्रकार का होता है – १. पद, २. मन्त्र और ३. वर्ण। इसी प्रकार प्रमेयगत अध्वा भी तीन प्रकार का होता है। १. पुर, २. तत्त्व और ३. कला। यह सभी छः प्रकार के अध्वा सामान्य स्पन्दनात्मा प्राण में कल्पित हैं तथा पूर्णतया प्रतिष्ठित हैं।[२]

अध्वा के प्रकरण में संविद् विस्फार का आकलन दो प्रकार से किया जाता है। १. क्रम प्रकार और २. अक्रम प्रकार। समस्त भावराशि परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न रूप में साधक के समक्ष उपस्थित है। जहाँ कार्य और कारण का पार्थक्य अनुभूत होता है—वहाँ 'क्रम' का चमत्कार स्वतः आकलित हो जाता है। चित्र के दर्शन के अवसर पर रङ्गों की रंजकता में एकल चित्रात्मक बोध अक्रम रूप से होता है। द्वैतवादिसम्मत अध्वा क्रमाध्वा है और ज्ञानियों के लिए अक्रमरूप से ही संवित्तत्त्वात्मक सर्वाध्वावभास होता है।

निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि, क्रम और अक्रम की यह कलना

१. पू० प्र० पृ० १३-१०३

२. तं० आ० ६-५, पू० प्र० वि० पृ० २ श्लोक १२-१३

ही काल है। यह काल सनातन भाव से परमेश्वर में अवस्थित है। परम प्रकाश संवित् का 'काल' रूप शक्ति से यह शाश्वत संयोग परम रमणीय है। इस प्रमातृप्रमेयात्मक विश्व के आकलन की शक्ति को काली कहते हैं। क्रमाक्रमविभासमान काल रूप देवतात्मा की पराशक्ति ही काली शक्ति है। इस प्रकार के अवगम से क्रमाक्रमातीत संवित्तत्त्व में भेद बुद्धि का का विगलन भी हो जाता है। क्योंकि प्रमातृप्रमेयात्मक स्वेच्छावभासित जगत् के कलन का सामर्थ्य काली शक्ति का ही महाप्रभाव है। परमेश्वर संविद् में तो वस्तुतः कोई क्रम या अक्रम का प्रश्न ही नहीं उठता। वही संविद् जो अपने अन्तर में क्रमाक्रमविभाग रूप से सर्वत्र व्याप्त है; बाह्य रूप से क्रम और अक्रम का प्रस्फुरण करती है। उसमें एक अद्भुत स्पन्दन होता है और इसी प्ररोहावभास में कारण संवित् प्राणवृत्ति कहलाती है। या यह कहते हैं कि, पहले संवित् प्राणरूप में ही स्फुरित हुई।[१] वास्तव में क्रमाभास में भेदावभास निहित है। एक तत्त्व की ही विद्यमानता में भेद का अस्तित्व ही नहीं। वहाँ तो एकत्त्व का ही अनुदर्शन अमृत की वर्षा करता है किन्तु अनेकत्व के अनुदर्शन में क्रम का व्यतिक्रम सार्वात्म्येन विद्यमान है। उदाहरण के लिए हम आग को ले सकते हैं। आग को आग में डाल दीजिए और देखिये कहीं फफोले पड़ रहे हैं? नहीं न! ठीक है। किन्तु आग में इन्धन डालिए, अपनी अंगुलियाँ तपाइये और परिणाम देखिये। इसीलिए निष्कर्ष रूप से यह सिद्धान्त निरूपित है कि, भेदपूर्वक क्रमाक्रम रूप आभासन में प्राण ही कारण है।

संविदेव हि प्रमेयोभ्यो विभक्तं रूपं गृह्णाति[२], अतएव च अवच्छेदयोगात् वेद्यतां यान्ती नभः[३] ततः स्वातन्त्र्यात् मेये स्वीकारौत्सुक्येन[४] निपतन्तो क्रियाप्रधाना प्राणनारूपा[५] जीवस्वभावा पञ्चभा रूपैः देहं यतः पूरयति[६], ततोऽसौ चेतन इवाभाति।

क्योंकि संविद् ही विभिन्न प्रमेयों से विभक्त रूप ग्रहण करती है।

१. प्राक् संवित् प्राणे परिणता तं० ६।१२

२. स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण

३. तं० आ० ६।९

४. औत्सुक्यं—बहिर्मुखी भावः

५. तं० ६।११

६. तं० ६।१४

इसी लए अवच्छेद योग से वेद्यता प्राप्त करती हुई आकाश [रूप से भासित होती है]। इसके बाद स्वातन्त्र्य शक्ति से मेय (समुदाय) में स्वीकृति के औत्सुक्य के कारण निपतित होकर क्रिया प्रधान प्राणनावृत्ति [धारण कर लेती है] जीवन के लक्षण वाली [यह] पाँच रूपों से शरीर को पूरित करती है। इसी के फलस्वरूप देह चेतन को तरह अवभासित होता है।

संविद् परमेश्वर की महती प्रकाशात्मक शक्ति है। यह शुद्ध स्वातन्त्र्य विमर्श रूपा है। इसकी अनुभूति है—'अहमेव सर्वम्' मैं ही सब हूँ।[1] वैश्वात्म्य प्रथा की अनुभूति के विस्फार में "एक प्रकार का प्रकाशविमर्शात्मक चमत्कार उत्पन्न होता है। इस दशा के पूर्व संकोचरूपी कलङ्क की शङ्का से शून्य शुद्ध संविद् केवल प्रकाश रूपा होती है।

अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण अहम् की विशुद्ध मूल अवस्था से 'सर्व' की सर्वात्मकता को ग्रहण कर लेती है। इस अवस्था में अनन्तानन्त प्रमेयोंमें वह मानो विभक्त जान पड़ने लगती है। यही अवच्छेद है। पदार्थ-पदार्थ अलग-अलग हैं। अलगाव उनकी विशेषता है। विशेषता व्यवच्छेदक होती है। पार्थक्य में विशेषता रहती ही है। इस प्रकार प्रमेय-प्रमेय में विभक्त अवच्छेद के कारण वह जहाँ मूल रूप में विशुद्ध अहमात्मक अव्यक्त अवेद्य रूप में विराजमान थी, अब वेद्यता को प्राप्त कर लेती है। वेद्यता को प्रथम पाँचभौतिक अवस्था आकाश है। यह शब्द गुण वाला प्रथम तत्त्व है, जिसके परिवेश में समग्र वेद्यविस्फार स्फुरित है। इसमें अव्यक्त अवेद्य का भी वैशिष्ट्य है और व्यक्तवेद्य भी यह है। संविद् की स्वातन्त्र्य शक्ति का यह मौलिक अंकुरित भासमान उन्मेष है।[2] अब जब वेद्यता को संविद् ने स्वीकार ही कर लिया, तो बहिर्मुखता का आगे का रास्ता भी साफ हो गया। कुतूहल की परम्परा बढ़ चली, सृष्टि का रथचक्र चल पड़ा। इस गति को शास्त्र की भाषा में मेय में निपात कहते हैं। संवित् का मेय के क्षेत्र में निपतन किन्तु सृष्टि के सौभाग्य का संवर्द्धन ! कितना स्पृहणीय है ! 'मैं' विश्व से (विश्वरूपी मेय से) उत्तीर्ण होने का विमर्श है।

१. म० मं० १९

२. संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाशपरमार्थकम्। तन्मेयमात्मन: प्रेक्ष्य विविक्तं भापते नभ: ॥ तं० ६।९

यहाँ आकर संविद् क्रिया प्रधान हो जाती है। स्पन्द की विभिन्न सूक्ष्म दशाओं को पार करती हुई, शुद्ध अध्वा के उपरान्त, अशुद्ध अध्वा के काल गह्वर में प्रवेश करती हुई, चिदानन्दएषणा के सन्दर्भों को उज्जृम्भित करती हुई, क्रिया के प्राधान्य का अङ्गीकार करने वाली संवित्, प्राणना[1] व्यापार प्रवण बन कर जीव के जीवन को उल्लसित कर देती है। प्राण, जीव और जीवन-निर्मिति, संवित् शक्ति के स्वातन्त्र्य ही चमत्कार हैं। यह शक्ति पाँच रूपों से शरीर को पूरित करती है। १—उच्छ्वास निश्वास प्रवर्त्तक प्राण रूप से, २—हान और उपादान में उपयोगी व्यान रूप से, ३—शरीर संपोषक समान रूप से, ४—धातु के उन्नायक उदान रूप से और ५—विष्ठा और मूत्र आदि मलों के विसर्जक अपान रूप से उसका उद्यम शाश्वत प्रचलित है। साधारण बुद्धि के लोग आपाततः देह को ही इसी लिये चेतन मानने लगते हैं।[2] ये प्रलयाकल श्रेणी के पुरुष हैं। इनका दृष्टिकोण नितान्त हेय है। वस्तुतः शरीर पञ्चमहाभूतात्मक एक पिण्ड है और उसमें पाँच रूपों में प्राणना व्यापार करने वाली संवित् शक्ति का ही स्फुरण है। यही प्राणना वृत्ति-स्पन्द, स्फुरण, विश्रान्ति, जीव, हृदय, प्रतिभा आदि शब्दों से व्यपदिष्ट है।[3]

तत्र क्रियाशक्तौ कालाध्वा प्राच्यभागे, उत्तरे तु मूर्त्ति-वैचित्र्यरूपो देशाध्वा,[4] तत्र वर्ण-मन्त्र-पदाध्वनः कालाध्वनि स्थितिः पर-सूक्ष्म-स्थूलरूपत्वात्। देशाध्वस्थितिस्तु तत्त्वपुर-कलात्मना इति भविष्यति स्वावसरे। तत्र यद्यपि देहे सबाह्या-भ्यन्तरम् ओतप्रोतरूपः प्राणः, तथापि प्रस्फुटसंवेद्य प्रयत्नः असौ हृदयात् प्रभृति इति, तत एव अयम् निरूपणीयः।

क्रिया शक्ति में प्राच्य भाग में [पहले] कालाध्वा है। [बाद में]

१. स एव खात्मा मेयेऽस्मिन् भेदिते स्वीक्रियोत्सुकः।
पतन् समुच्चयत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञितः ॥ तं० ६।११

२. चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः तं० ६।१६
विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति।

३. तं० ६।१२

४. ई० प्र० २।१।५

उत्तर भाग में मूर्त्तिवैचित्र्यरूप देशाध्वा है। वर्ण, मन्त्र, और पद अध्वा की स्थिति कालाध्वा में ही है। कारण [वे] पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप ही हैं। देशाध्वा की स्थिति तत्त्व, पुर और कलारूप हैं। आगामी अवसर पर [यह व्याख्येय है]। यद्यपि शरीर में बाहर और भीतर समान रूप से प्राण ओतप्रोत है, फिर भी वह हृदय से ही विशेषतः स्फुट रूप से संवेदनशील प्रयत्न वाला है। इसका निरूपण वहीं होना चाहिये।

क्रिया वैचित्र्य का आभास क्रियामूर्त्तिविहीन संविद् शक्ति में ही होता है।[1] क्रिया शक्तिमयी संविद् के वर्ण, मन्त्र और पद समन्वित स्वरूप को काल नामक अध्वा से अभिहित करते हैं। क्रम की दृष्टि का प्राधान्य काल के विचार में स्वाभाविक है। संविद् में काल का वैचित्र्य जहाँ प्रारम्भ हुआ, क्रिया शुरू हो जाती है—स्पन्दन प्रारम्भ हो जाता है। यह स्पन्दन वाच्य और वाचक दो प्रकार का होता है। इसे क्रिया स्फार कहते हैं। इसकी भेद, भेदाभेद और अभेद भूमिकाओं में क्रमशः पद, मन्त्र और वर्णों का उद्भावन होता है। इसीलिये अभेदावस्था में वर्णात्मक, भेदाभेदावस्था में मन्त्रात्मक और भेदावस्था में पदात्मक कालाध्वा का आकलन होता है। यह उक्त आकलन क्रिया विस्फार का प्राच्य भाग है। चूँकि काल क्रमात्मक होता है और क्रम में पूर्व और उत्तर की कल्पना होती ही है। इस लिये यद्यपि क्रमाक्रमकथातीत संविद् तत्त्व में ही काली शक्ति-समन्वित काल का आकलन होता है; फिर भी बाह्य रूप में, बहिर्मुख संवित् रूपी काल में भी क्रमिकता स्वभावतः स्फुरित हो जाती है। स्फुरण का प्राच्य भाग ही कालाध्वा है। देश और काल की परिपाटी को ही वस्तुतः क्रम कहते हैं।[2]

क्रमिकता का उत्तर भाग देश नामक अध्वा कहलाता है। यह कलात्मक, तत्त्वात्मक और पुरात्मक होता है। इसमें मूर्त्तिवैचित्र्य का प्राधान्य होता है। पूर्व और उत्तर की यह कल्पनायें अन्योन्यापेक्ष या सापेक्ष हैं। पूर्व में भी क्रमशः उत्तरोत्तर और उत्तर भाग में पूर्व पूर्व उत्तर-उत्तर का आकलन शास्त्र सम्मत है।

१. पू० प्र० प्र० वि० २९
२. ईश्वर प्र० १।७।१ पृ० २७९ पं० १-२

कालाध्वा और देशाध्वा दोनों के सम्बन्ध में सूक्ष्म और स्थूल की दृष्टि से विचार अभेद, भेदाभेद और भेद के सन्दर्भ में अवसर के अनुकूल विचारणीय है।

जहाँ तक प्राण का प्रश्न है—यह बाहर और भीतर सभी अवयवों में तिलों में तेल की तरह व्याप्त है। ओत प्रोत शब्द पूर्णतया समिश्रण अर्थ में प्रयुक्त होता है। नीर क्षीर परस्पर इतने घुले मिले होते हैं कि, एक दूसरे को अलग-अलग नहीं कर सकते। शर्करा शरबत में ओत प्रोत होती है। उसी प्रकार प्राण भी सभी अवयवों में (चाहे वह बाहरी अवयव हो या भीतरी अंग हो, सब जगह ओत प्रोत है।

इस स्थिति में भी प्राण के स्पन्दन की प्रक्रिया, ध्यान देने की वस्तु है। स्पन्दन दो प्रकार का होता है। १—संवेद्य और २—असंवेद्य। प्राण के स्पन्दन तो शाश्वत और सतत अविश्रान्त होते ही रहते हैं। हाँ कभी उनका पता चलता है और कभी पता नहीं भी चलता। पता न चलने पर भी क्रिया तो स्वभावतः होती ही रहती है। जैसे स्वप्न की प्रक्रिया। वह स्फुट होती है—स्मृत रहती है और कभी विस्मृत हो जाती है। उस समय वह अस्फुट रहती है। किन्तु व्यवहार की दशा में स्पष्टतया स्पन्दन प्रतीत होता है; वह स्फुट संवेद्य है और जहाँ स्पष्ट नहीं होता, जैसे चिन्ता के मौन क्षण—वहाँ स्पन्दन तो है किन्तु वह अस्फुट संवेद्य है। इस प्रकार हृदय से प्राण का स्पन्दन स्फुट रूप में प्रतीत होता है। व्याकरण शास्त्र के आद्य प्रवर्त्तक भगवान् पाणिनि के अनुसार क्रमशः आत्मा, बुद्धि, मन कायाग्नि और मारुत ये ५ वर्णोदय के मूल कारण हैं।[1] प्राण वायु हृदय देश से स्पन्दित होकर मन्द्र स्वर उत्पन्न करता है। यह प्राण की स्फुट संवेद्यता है। इस लिये इसके निरूपण का मूल आधार हृदय ही है—यही बात सर्वतोभावेन मान्य है।

तत्र प्रभुशक्तिः आत्मशक्तिः यत्नः इति त्रितयं प्राणेरणे हेतुः गुणमुख्यभावात्। तत्र हृदयात् द्वादशान्तान्तं स्वाङ्गुलैः सर्वस्य षट्त्रिंशदङ्गुलः प्राणचारः निर्गमे प्रवेशे च, स्वोचित-बलयत्न देहत्वात् सर्वस्य। तत्र घटिका तिथिः मासो वर्षं च वर्षसमूहात्मा, इति समस्तः कालः परिसमाप्यते। तत्र सपादांशे

१. पा० शिक्षा ६।७

अंगुले चषक इति स्थित्या घटिकोदयः, घटिका हि षष्ट्या चषकैः तस्मात् द्वासप्तत्यंगुला भवति ।

प्रभुशक्ति, आत्मशक्ति[1] और यत्न [स्पन्द] यह तीन प्राण की प्रेरणा में कारण [स्पन्द] हैं। कहीं मुख्य और कहीं गौण भाव के प्रभाव से । उक्त भेद स्वीकृत हैं] । प्राण के निर्गम और प्रवेश दोनों में हृदय से शाक्त द्वादशान्त क्रम में त्रिगुणित कर देने से सबकी अपनी अंगुलियों १२३ = ३६ अंगुल प्राण चार होता है। सबके प्राणचार की गणना में अपना अपना बल, यत्न और देह अपेक्षित है। घटिका, तिथि, मास और वर्ष तथा वर्ष समूहरूप[2] काल है, इसमें सारा काल पूरा होता है। सवा पाँच अंगुल का चषक, और साठ चषकों की घटिका होती है। इसी लिये घटिका ७२ अंगुलों की होती हैं।

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या ये ५ शुद्ध अध्वा के रूप में परिगणित हैं। यह पंचक शिव का स्वरूप है; अपना शरीर है। यही कंचुकांचित होकर शिवशक्ति माया, सदशिव-कला और विद्या, ईश्वर-काल और नियति तथा सद्विद्या-राग रूप में अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के बल पर परिणत होते हैं और स्वयम् अपने आवारक बन जाते हैं। इनमें ईश्वर तत्त्व प्राणों का प्रमाता माना जाता[3] है। ईश्वर के प्राण के प्रमाता होने का कारण है। ईश्वर विश्वात्मक होता है। और संवित् रूप होने के कारण प्राण भी विश्वात्मक है।[4] इस लिये बाहर उन्मेष की दशा में प्राण का स्फुट संवेद्यत्व सिद्ध हो जाता है। यह निश्चित हो जाता है कि यह सारी विश्व की कलना प्राण के पन्थ पर ही आधृत है। प्राण की इसी कलना को काल भी कहते हैं।

प्राण सर्वव्यापक है पर शक्ति का अन्तरङ्ग अधिष्ठान है, फिर भी यह कहीं स्फुट और कहीं अस्फुट क्यों प्रतीत होता है ? इसी प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत पंक्तियों की अवतारणा की गयी है। वस्तुतः प्राण के प्रेरक

१. स्व० ७।७
२. स्व० ७।३ नसते कुटिलं गच्छति इति नासिका। तस्या इदं (अयं) नासिक्यः शुक्रः। [द्वादशान्तः]
३. तं० ६।४४ ४. तं० ६।४५

तत्त्व हैं—१—प्रभुशक्ति, २—आत्मशक्ति और ३—यत्न। प्रभु शक्ति से रक्त का संचार, शरीर का विकास दाँत, नख, लोमादि विकार, आदि क्रियायें होती हैं। आत्मशक्ति से अर्थात् परिमित प्रमाता से आङ्गिक संकोच विकोच अंगों का मोडना आदि क्रियायें तथा यत्न में प्राणायाम आदि क्रियायें होती हैं। इन समस्त क्रियाओं में गौणत्व और मुख्यत्व का सन्निधान होता है।

स्फुट रूप से प्राणचार निर्गम और प्रवेश में परिलक्षित होता है। यों तो प्राण सारे शरीर में ओतप्रोत है किन्तु साँस के लेने और छोड़ने में, श्वास प्रश्वास की गतिशीलता में यह स्फुट-संवेद्य होता है। इस स्फुट-संवेद्यता की अनुभूति हृदय नामक अंग से श्वास के चलने पर होती है। इसी लिये प्राण के संचरण की क्रमिकता हृदय से ही प्रारम्भ होती है—ऐसा मानते हैं। इसी को उच्चार का क्रम भी कहते हैं। क्रम में काल का आकलन स्वाभाविक है। इसी लिये सृष्टि, स्थिति और संहार क्रमशः होते हैं और ये सभी काल के अधीन हैं।

यह प्राणचार हृदय से लेकर शक्ति द्वादशान्त तक रहता है। इसकी दूरी और इसका समय विचारणीय विषय है। जैसे घड़ी की सेकेण्ड और मिनट की सूइयाँ या घण्टे की भी सूई दो प्रकार की गति का प्रकाश करती हैं। ये १ से १२ के अङ्कों के मध्य की '**दूरी**' चलती हैं और उसी से **समय** का हम आकलन करते हैं। इसी प्रकार[1] ३६ अंगुल के इस प्राणचार से तुटि, पल, कला, प्रहर, दिन, मास, वर्ष की गणना का रहस्य साधकों के लिये विशेष रूप से ज्ञातव्य है।

चाहे अत्यन्त क्षुद्र शरीरधारी मशक हो अथवा विशाल शरीर का हाथी हो, सबकी अपनी ३६ अंगुलि की गणना से प्राणोच्चार की दूरी ज्ञात होती है। प्राणचार की इस समता के प्राणी के वीर्य, ओज, बल, स्पन्द आदि की सर्वसमता का बोध भी हो जाता है तथा प्राण-अपान के आने जाने के क्रम से, आरोह और अवरोह से घटी तिथि मास वर्ष समूह रूप समस्त काल भी आकलित हो जाता है। प्रारम्भिक रूप से काल और दूरी (Time & space) का आकलन पलक निपात और अंगुलियों की

१. तं० ६।६१, स्व० ४।२३५

चौड़ाई से प्रारम्भ होता है। १½ अंगुलि का एक चषक होता है। चषक की गणना से घटिका का उदय होता है। एक घटी ६० चषक की होती है। इसी लिये वह ७२ अंगुलियों की होती है।

अथ तिथ्युदयः। सपादमङ्गुलद्वयं तुटिः उच्यते। तासु चतसृषु प्रहरः, तुट्यर्धं तुट्यर्धं तत्र संध्या, एवं निर्गमे दिनम्, प्रवेशे रात्रिः। इति तिथ्युदयः।

सवा दो अंगुलियों को चौड़ाई को तुटि कहते हैं। चार तुटियों का एक प्रहर, दिन और रात के पूर्व-पर तुटचर्ध तुटचर्ध में संध्या और इसी क्रम के विकास में दिन तथा संध्या में प्रवेश को रात्रि कहते हैं।

प्राण के दिन रात रूपी इसी निर्गम और प्रवेश से आन्तर तिथियों का उदय होता है। चषक, तुटि, घटिका, प्रहर, संध्या, दिन और रात्रि पक्ष, मास वर्ष के क्रम से आन्तर तिथियों के उदय की चर्चा यहाँ की गयी है। ये सभी शब्द पारिभाषिक और माप के मान के प्रतीक हैं। इसका पैमाना इस प्रकार समझा जा सकता है।[२] [यह ध्यातव्य है कि, यहाँ सौर काल को चर्चा नहीं अपितु आध्यात्मिक प्राणचार के काल का आकलन किया गया है।]

१½ अंगुल = १ चषक ३० चषक = १ प्राणचार = ३६ अंगुल
६० चषक = १ घटिका अर्थात् ७२ अंगुल = ३२ तुटि
२¼ अंगुल = १ तुटि
नव अंगुल या ४ तुटि = १ प्रहर, ४ प्रहर[३] दिन | ८ प्रहर = अहोरात्र
१६ तुटि = ३६ अंगुल ४ प्रहर रात |
३६ अंगुल = १ श्वास | = ७२ अंगुल
३६ अंगुल = १ निःश्वांस |
७२ अंगुल = १ प्राणचार = ३२ तुटि
१ प्राणचार = ३२ तुटि[१]
१५ तुटि = १ पक्ष
४ तुट्यर्ध = २ पक्ष सन्धियाँ

१. तं० ६ पृ० १४ 'प्राणापानाश्रिते वाहे द्वात्रिंशत्तुटयः स्थिताः।'
२. स्व० पटल ७।५
३. तं० ६ पृ० ५६

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणीय और अपानीय अन्तिम-अन्तिम तुटियों के सम्मिलन से काल का क्रमिक उदय होता रहता है। प्राण सूर्य और अपान चन्द्र माना जाता है। प्राण का प्रवेश सूर्योदय स्थानीय है और निर्गम रात है। प्राणापान प्रवेशनिर्गमरूपदिन रात में जितनी तुटियाँ होती हैं, उनके अन्तिम क्षण के सम्मिलन-स्थल संध्या हैं। चतुर्थ प्रहर के (६ अंगुल) के अन्त में प्राण रूपी सूर्य जब अस्तगत होता है, उस समय संध्या होती है। वही क्षण तुट्यर्ध कहलाता है।[१]

हृदय रूपी पद्म की ओर प्राण वायु के प्रवेश को प्रातः सन्ध्या कहते हैं। वही तुट्यर्ध पूर्व सन्ध्या के उदय का क्षण है।[२] यह प्रातः सायं सन्ध्याओं का आकलन है। इससे तिथियों के उदय भोग और अस्त के क्षणों का ज्ञान स्पष्ट रूप से हो जाता है।

अथ मासोदयः—तत्र दिनं कृष्णपक्षः, रात्रिः शुक्लः, तत्र पूर्वं तुट्यर्धम् अन्त्यं च तुट्यर्धं विश्रान्तिः अकालकलिताः। मध्यास्तु पञ्चदश तुट्य एव तिथयः। तत्र प्रकाशो विश्रान्तिश्च इति एते एव दिननिशे। तत्र वेद्यमयताप्रकाशो दिनं, वेद्यस्य विचारयितरि लयो रात्रिः। ते च प्रकाशविश्रान्ती चिराचिर-वैचित्र्यात् अनन्तभेदे, तत्साम्ये तु विषुवत्।[३]

अथ मासोदय—दिन कृष्णपक्ष और रात्रि शुक्लपक्ष हैं। दिन और रात का एक अहोरात्र, एक अहोरात्र में १६ तुटियाँ, इन १६ तुटियों के प्रथम तुटचर्ध और अन्तिम तुटचर्थ विश्रान्ति के क्षण हैं। इसी लिये अकालकलित हैं। बीच की १५ तुटियाँ ही १५ तिथियाँ होती हैं। इसी में प्रकाश और विश्रान्ति को दिन रात कहते हैं। वेद्यमयता का प्रकाश दिन और वेद्य की विचारयिता में विश्रान्ति रात्रि है। यह प्रकाश और विश्रान्ति दोनों चिर अचिर के वैचित्र्य से अनन्त भेद भिन्न हैं। उनका साम्य विषु कहलाता है। विषुवत् वृत्त की तरह ही यहाँ दिन रात [प्राणअपान] सम अर्थात् बराबर हो जाते हैं।

१. स्व० ७।७६ २. स्व० ७।३९
३. मेषतुलयोः संक्रान्तिकालः अहर्निशसाम्यात्मा

मासोदय के इसी प्रकरण में पक्ष की चर्चा भी कर दी गयी है। पक्ष में पन्द्रह तिथियाँ होती हैं। सोलह नहीं होती। होनी चाहिये १६। इसका कारण है। पूर्व तुट्यर्ध और पर तुट्यर्ध जो हृदय और द्वादशान्त विसर्ग या निर्गम में परिलक्षित होते हैं—वे दोनों विश्रान्ति रूप हैं। परिणामतः उनकी गणना काल क्रम में नहीं की जाती। इस प्रकार १५ तुटियों की १५ तिथियाँ क्रमशः स्वीकृत[1] हैं। ऐसा न मानने पर एक तुटि का विनियोग कहीं हो ही नहीं सकता।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, संवित् भगवती पराशक्ति प्रकाश और विमर्श अथवा अनुत्तर और आनन्दमयी है। जहाँ प्रकाश का प्रक्षेप है, वहीं दिन की बात स्वीकार्य हो सकती है और जहाँ प्रकाश की विश्रान्ति है, वहाँ रात ही मानी जा सकती है।[2] कहीं प्रकाश की प्रधानता और कहीं आनन्द की प्रधानता स्वाभाविक है। प्रकाश प्राधान्य में दिन और आनन्द प्राधान्य में रात्रि—यही क्रम सिद्ध है। यह दिवस निशा का आन्तर प्रकाशन है। बाह्य दिनों और रात्रियों की गणना में भी यही क्रम परिलक्षित है। दिवस को कृष्णपक्ष और रात्रि को शुक्लपक्ष कहने का कारण है। चन्द्रमा जिस पक्ष में प्रकाश करते हैं, वह पक्ष शुक्लपक्ष कहलाता है। प्राणचार व्यवस्था में प्राण प्रवेश रूप दिन में प्राण सूर्य के प्रभाव से अपान चन्द्रमा का क्षय हो जाता है। इस दृष्टिकोण से दिन कृष्णपक्ष कहलाता है। रात्रि में अपान चन्द्र के ही अस्तित्व के कारण रात्रि को शुक्लपक्ष की संज्ञा दी गयी है।

ज्ञाता या वेत्ता प्रमाता-विचारयिता है-विमृष्टा है। ज्ञाता में-विमृष्टा में विश्रान्ति का अर्थ विमर्श का ही प्राधान्य है। विमर्श के प्राधान्य को रात्रि कहने का तात्पर्य यही है कि, वेत्ता विमर्शनान्तरीयक होता है। प्रकाश और विमर्श की ज्ञानवत्ता, विचारमयता और सत्ता के पार्थक्य के कारण तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अद्वयता आदि स्थितियों के वैचित्र्य के कारण अनन्त भेदों की सम्भावना यहाँ है। संवित् के उदय के एक क्षण, एक मास, वर्ष, कल्प, निमेष आदि में चिरता और अचिरता का ही तत्त्व विद्यमान है।

१. तं० ६।७३ २. तं० ६।७८

कभी वेद्य और वेदिता में विश्रान्ति की समानता हो जाती है, वहाँ वेद्य और वेदक का साम्य हो जाता है। इसी अवस्था को दिन रात का बराबर होना मानते हैं। विषुवद्वृत्त पर बारहों मास दिन और रात बराबर होते हैं। यदि योगी साधक को यह महत्त्वपूर्ण अनुभूति का क्षण प्राप्त हो, तो उस काल को विषुवत्काल कह सकते हैं।[1] विषुवत्काल मेष और तुला की सूर्य संक्रान्ति का काल होता है। इसमें दिन रात बराबर होते हैं। आन्तर रूप से विषु के ७ अवस्थान होते हैं—प्राण, विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोध, नाद, नादान्त व शक्तिः।

तत्र कृष्णपक्षे प्राणार्कि अपानचन्द्र आप्यायिकाम् एकामेकां कलाम् अर्पयति। यावत् पंचदश्यां तुटौ द्वादशान्त समीपे क्षीणपृथग्भूतकलाप्रसरः चन्द्रमाः प्राणार्के एव लीयते। तदनन्तरं यत् तुट्यर्धं स पक्षसन्धिः। तस्य च तुट्यर्धस्य प्राच्यमर्धम् आमावस्यम् द्वितीयम् प्रातिपदम्। तत्र प्रातिपदे तस्मिन् भागे स आमावस्यो भागो यदा कासप्रयत्नावधानादिकृतात् तिथिच्छेदात् विशति तदा तत्र ग्रहणम्।

प्रकाश और विमर्श के प्रकरण में कृष्णपक्ष रूप प्राणार्क में अपानचन्द्र आप्यायित करने वाली अपनी एक-एक कला का अर्पण करता है। १५वीं तुटि में द्वादशान्त के समीप समस्त पृथग्भूत कलाओं का प्रसर क्षीण हो जाने पर चन्द्रमा प्राणार्क अर्थात् प्राण रूपी सूर्य में ही लीन हो जाता है। इसके बाद एक तुट्यर्ध शेष रह जाता है। वह पक्ष की सन्धि है। उस तुट्यर्ध का भी पहला आधा आमावस्या का और दूसरा आधा प्रतिपदा का होता है। जब प्रातिपद तुट्यर्ध में आमावस्य भाग कास प्रयत्न के अवधान से सम्भूत तिथिच्छेद के कारण प्रवेश करता है, तब ग्रहण काल हो जाता है।

प्राणचार की इस प्रकार विशद व्याख्या योगियों और साधकों के लिये परम उपादेय है। सांस लेना और सांस छोड़ना यह प्रकृतिक जीवन प्रक्रिया का प्रत्यक्ष प्रतीक है। प्रकृति का यह रहस्य वरदान है। इस

१. तं० ६।८५

रहस्य का उद्घाटन योगी या साधक के लिये अथवा तत्त्व जिज्ञासु के लिये परम आवश्यक है।[1]

व्यक्ति ने श्वास लिया। प्राण सूर्य का प्रवेश हो गया। अपान चन्द्र के न रहने के कारण इसे कृष्णपक्ष कहा गया। इस स्थिति में अपान रूपी चन्द्र अपनी पीयुष वर्षिणीकला का अर्पण करना प्रारम्भ करता है। उसकी कला का धर्म ही आप्यायन करना है। १५ वीं तुटि तक पहुँचते पहुँचते और क्रमशः एक एक कला का अर्पण करते करते चन्द्रमा का कला—प्रसार समाप्त हो जाता है। कला प्रसर के समाप्त होने के उस प्राणचार के स्थल को द्वादशान्त कहते हैं। वही स्थल पंचदशी तुटि का भी है। कला प्रसर के क्रमशः क्षीण होते रहने के कारण चन्द्र, प्राण रूपी सूर्य में लीन हो जाता है। मध्य योगी के लिये श्वास लेते समय इस प्रक्रिया पर ध्यान देना आवश्यक है।

शक्ति के मध्य ऊपरी भाग का तुट्यर्ध प्राणवायु का अन्तिम और अपानवायु का आदि तुट्यर्ध—दोनों का देश [स्थान Space] एक ही है। किन्तु काल दो तुट्यर्धों का वाहक है, अतएव वह दो पक्षों का सन्धि स्थल होता है।

दिवस और निशा अर्थात् प्राणचार रूप श्वास के ३६ अंगुल तथा अपानचार के ३६ अंगुल=यह ७२ अंगुल का अहोरात्र १५-१५ तुटियों के दो विभागों में विभाजित है। यद्यपि अहोरात्र ३२ तुटि का होता है किन्तु दो तुटियाँ, एक हृदय और एक द्वादशान्त में आधी-आधी-रूप से दिन रूपी कृष्ण और रात रूपी शुक्ल पक्षों को जोड़ने वाली बन जाती हैं। यह पक्षसन्धि का स्वरूप है।

इस तुट्यर्ध का पहला अर्द्धांश अमावस्या का विश्रान्ति स्थल है। प्राण रूपी सूर्य में अपानचन्द्र के प्रवेश के कारण उसे आमावस्य तुट्यर्ध कहते हैं। इसी प्रकार प्राण हंस के उच्चार के समय विश्रान्ति के अनन्तर प्रथम उत्थान जन्य शुक्लत्व के स्पन्दन क्षण में अपानचन्द्र की आदि क्रियाशीलता प्रारम्भ होती है। वह क्षण या वह तुट्यर्ध स्थल दोनों दृष्टियों से अर्थात् देश और काल विचार से प्रातिपद तुट्यर्ध कहलाता है।[2]

१. तं० ६।१९८

२. तं० ६।१९९

कुम्भक के कारण कभी-कभी प्राणवाह में विघ्न पड़ता है। खाँसी भी आ जाती है। फलतः प्राणचार में अथवा अपान चार में स्वाभाविक क्रमिकता भग्न हो जाती है। प्राणचार की इस अल्पकालिता को ऋण कहते हैं और निःश्वास जन्य चिरकालता को धन कहते हैं। तिथि के छेद में ऋण और वृद्धि में धन[1] का यही अर्थ है।

अमावस्या में सूर्य ग्रहण और पूर्णिमा में चन्द्र ग्रहण ज्योतिष शास्त्रगत प्रत्यक्ष सिद्ध सत्य है। प्राणचार के प्रसङ्ग में कासजन्य तिथिच्छेद के क्षण में प्राण की त्वरा द्रुततम स्तर पर पहुँच जाती है और आमावस्य अंश प्रतिपत् में प्रवेश कर जाता है और यहीं सूर्य ग्रहण लग जाता है।[2] वहाँ रविबिम्ब में चन्द्र बिम्ब का प्रवेश हो जाता है। चन्द्र की चान्द्रमसी सुधा का पान अमृतार्थी राहु करने लगता है। पीयूष पान के अनन्तर ही वह क्षपाकर को छोड़ पाता है। अमृतपान का यह अवसर ग्रहण काल है।[3]

यह सारा विश्लेषण आन्तर प्राणचार पर आधारित है। बाह्य काल परिसंख्यान ज्योतिषशास्त्र का विषय है। श्वासनिःश्वास का यह विचार योगियों के लिये उपयोगी है। हं और सः के बीच आत्मा की रहस्य वादिता का यत्किंचित् उद्घाटन इस विश्लेषण से हुआ है। यह तन्त्रागम-ग्रन्थकारों का ही अनुग्रह है कि, उन्होंने प्राण की साधना के माध्यम से परम तत्त्व को अधिगम करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। एक चित्र उन्होंने चित्रायित कर दिया है।

तत्र च वेद्यरूपसोमसहभूतो माया प्रमातृराहुः स्वभावतया विलापनाशक्तः केवलम् आच्छादनमात्रसमर्थः सूर्यगतं चान्द्रम् अमृतम् पिबति इति। प्रमातृप्रमाणप्रमेयत्रितयविभागकारित्वात् स पुण्यः कालः पारलौकिक फलप्रदः। ततः प्रविशति प्राणे चिदर्क एकैकया कलया अपानचन्द्रम् आपूरयति, यावत् पञ्चदशी तुटिः पूर्णिमा, तदनन्तरम् पक्षसन्धिः ग्रहणं च इति प्राग्वत्, एतत तु ऐहिकफलप्रदम् इति मासोदयः।

१. स्व० ७।६५

२. स्व० ७।७०, तं० ६।१००

३. स्व० ७।७०-७२

ग्रहण के इस प्रसङ्ग में प्रमेय सोम के साथ माया प्रमाता राहु स्वभावतः विलापन में असमर्थ, केवल आच्छादन में ही समर्थ [रहता हुआ] सूर्यगत चान्द्र [अपान] अमृत[1] पीता है। यही ग्रहण काल है। इसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का विभाग नहीं रह जाता। इसलिए सामरस्य पूर्ण इस काल को पुण्यकाल कहते हैं। यह [योगियों और साधकों के लिए] पारलौकिक फल प्रदान करने वाला है।

तत्पश्चात् इसी गति से शक्तिहृदन्त में प्राण के प्रवेश करते समय चित् रूपी अर्क अपनी एक एक कला से अपान चन्द्र को तब तक परिपूरित करता है, जब तक पन्द्रहवीं तुटि संवलिता पूर्णिमा नहीं आती। इसके इसके बाद पक्षसन्धि आती है। ग्रहण आता है। यह काल ऐहिक फल प्रदान करने वाला है। इस प्रकार यह मासोदय हुआ[1]।

सूर्य प्रमाण और सोम प्रमेय रूप से इस दर्शन में स्वीकृत हैं। सूर्य चिन्मय ज्ञानमय और सोम क्रियामय है। मायाप्रमाता राहु माना जाता है। राहु या मायाप्रमाता प्रनाण-प्रमेय रूप सूर्य और चन्द्र को स्वात्म-सात्कार करने के लिए आच्छादन या तिरोधान तो कर लेता है, पूर्णरूप से विलापन नहीं कर पाता, क्योंकि वह स्वयं अन्धकार रूप ही है और अन्धकार केवल आवरण ही कर सकता है—विलापन नहीं। सूर्य बिम्बा-न्तर में चन्द्रबिम्ब के प्रवेश के काल में राहु उत्तेजित होता है। सूर्य में प्रवेश के समय चन्द्र तप्त हो जाता है और स्वभावतः पीयूषवर्ष शशधर अमृतस्रावी बन जाता है। उसी विगलित सुधारस का आस्वाद शून्य प्रमाता राहु करने लग जाता है।[2] यह दशा महापुण्यफलप्रद मानी जाती है। इसका कारण है। माता, मान और मेय के परस्पर सामरस्य के कारण उस समय अद्वय दशा उल्लसित हो उठती है। परसंविन्मात्रसार यह तीनों का संघट्ट योगियों और साधकों को शाश्वत रस से सिक्त करता आया है। इसलिए इस पुण्य पवित्र काल को पारलौकिक फल प्रदान करने वाला बतलाया गया है अर्थात् इस अवस्था में समाहित चित्त योगी जागतिक भौतिक आनन्द से बहुत ऊपर, विद्यमान आध्यात्मिक आनन्द का उपयोग करता है।[3]

---

१. तं० ६।११०-११३ २. स्व० ७।७० तं० ६।१०१

३. तं० ६।१०२-१०६ स्व० ७।७३

इस प्रकार यह ग्रहण अलौकिक क्रिया कलाप से प्रतिफलित होता है। तिथिच्छेद की वेला में जब अमावस्य काल अर्थात् पक्षसंधि रूप तुट्यर्ध-काल अपने सन्ध्यर्द्धकाल से प्रतिपदा सम्बन्धो आद्य तुट्यर्ध से सहचार कर लेता है, तब सूर्यग्रहण हो जाता है।

अपानचार में ग्रहणमुक्त[1] चन्द्र को चिदात्मा प्राणरूपी सूर्य अपनी चतुर्दिक् प्रसरित चामत्कारिक मरीचिमाला की एक-एक कला से परिपूरित करने लगता है। यही कारण है कि, अपानचन्द्र प्रतिपद् को एक कला, द्वितीया को द्विकला, तृतीया को तीन कला, चतुर्थी को चार कला के क्रम से पूर्णिमा को पन्द्रह कलाओं से परिपूर्ण हो जाता है। उस समय अमृत-सुन्दर शशधर अपनी पूर्ण रमणीयता से, आकर्षक चान्द्रमसी अभिख्या से, विश्व का आकर्षण केन्द्र बन जाता है। किन्तु काल की गति बड़ी विचित्र है।

पूर्णिमा की अन्तिम तुटि बीती। तुट्यर्ध पक्षसन्धि का क्षण आया और यह क्या! यहाँ भी ग्रहण उपस्थित! यह चन्द्रग्रहण होता है। यहाँ भी मातृमेय संघट्ट होता है। सामरस्य दशा होती है। और साधक की अनुभूतियों में आनन्द महोदधि लहराने लगता है।

पूर्णिमा का स्थल हृदय है। अमावस्या का स्थल द्वादशान्त है। पूर्णिमा के अनन्तर कलाधर की कलायें क्रमशः कम होने लगती हैं। कमी का श्री गणेश पूर्णिमा के चन्द्रग्रहण से हो जाता है। अणु माया प्रमाता राहु पूर्णचन्द्र का ग्रास करता है—यह आश्चर्य का विषय होते हुए भी स्वा-भाविक है। आधुनिक विज्ञान सूर्य अस्त होता है—यह नहीं मानता। पृथिवी की कक्षा-गति से सूर्यास्त प्रतीत होता है—यह कहता है। प्राण-चार की आध्यात्मिक मान्यता में भी यही तथ्य निहित है। पूर्णिमा का पूर्णत्व अंशुमाली की किरणावली-कलित कलाओं का ही चमत्कार है। शुक्ल प्रतिपदा से प्राण का सम्पर्क अर्थात् सूर्य का सद्भाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। रात्रि में अर्क के अभाव के कारण अन्धकार रहता है किन्तु इस आध्यात्मिक रात्रि को शुक्लपक्ष कहने का तात्पर्य भी अर्क के सम्पर्क का ही द्योतक है।

---

१. स्व० ७ ७२

इस प्रकार चन्द्रग्रहण होता है। शक्ति से अभिषिक्त सुधाकर के, सुधासार का आग्रही पीयूष-पिपासु राहु ग्रहण का कारण बनता है। प्राण और अपान के सन्धिमध्य में राहु के सुधा आस्वाद का यह काल योगियों के लिये, साधकों के लिये सूर्यग्रहण की तरह ही हितावह है। अनेकानेक सिद्धियों को देने वाले ये दोनों अवसर बड़े ही स्पृहणीय हैं।[१] अनुभव यह बतलाता है कि, ये दोनों महाग्रह कुम्भक के ही महाफल हैं।

यह ग्रहण ऐहिक फल प्रदान करता है।[२] ऐहिक से तात्पर्य सृष्टिजगत् के कार्यकलापों और परिणामों से है। प्राण संचार ही सृष्टि का मूल मन्त्र है। पूर्णिमा के बाद प्राण सूर्य तक का प्रकाश पन्थ अपान के सहारे ही पार होता है। प्राणवान् होने पर हीं क्रिया की सिद्धि सम्भूत होती है। इस प्रकार उभयपक्षों की पूर्ण परिधि में मास पूरा होता है। यहाँ तक मासगत प्राणचार का ही चित्रण है।

अथ वर्षोदयः। तत्र कृष्णपक्ष एव उत्तरायणम् षट्सु षट्सु अंगुलेषु संक्रान्तिः मकरात् मिथुनान्तरम्। तत्र प्रत्यंगुलं पञ्चतिथयः। तत्रापि दिनरात्रिविभागः, एवम् प्रवेशे दक्षिणायनम्। गर्भत्वम्, उद्भवेच्छा, उद्बुभूषता, उद्भविष्यत्वम्, उद्भवारम्भः, उद्भवत्ता, जन्मादिविकारषट्कं च इति क्रमात् मकरादिषु इति। तथैव उपासा अत्र फलं समुचितं करोति। अत्र दक्षाद्याः पितामहान्ताः रुद्राः शक्तयश्च द्वादशाधिपतयश्च इति वर्षोदयः।

मास के बाद वर्षोदय का क्रम आता है। कृष्णपक्ष ही उत्तरायण है। ६.६ अंगुलों पर मकर से मिथुन तक संक्रान्ति होती है। प्रति अंगुल ५-५ तिथियाँ बनती हैं। वहाँ भी दिन रात्रि का विभाग है। अपानवाह रूप प्रवेश में दक्षिणायन है। गर्भाधान, उद्भवेच्छा, उद्बुभूषता, उद्भविष्यत्व उद्भवारम्भ उद्भवत्ता तथा जन्म, सत्ता, परिणति, वृद्धि, ह्रास और क्षय यह सब क्रम मकर कुम्भ मीन आदि राशि संक्रान्तियों में ज्ञातव्य है। इसी प्रकार की उपासना इन तिथियों

१. स्व० ७।८४-८५ २. तं० ६।११३

मासों और संक्रान्तियों में उचित है। दक्ष, चण्ड, हर, शौण्डी, प्रमथ, भीम, मन्मथ, शकुनि, सुमति, नन्द, गोपालक तथा पितामह वीरेश ये बारह इनके अधिपति हैं। यह वर्षोदय का स्वरूप है।

हृदयपद्म से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त ६ राशियाँ व्यवस्थित हैं। इनमें अर्थात् ६ अंगुल की एक विरति पर सूर्य की एक संक्रान्ति होती है। प्रथम संक्रान्ति का महीना माघ है। वहीं से उत्तरायण प्रारम्भ होता है। कृष्णपक्ष अर्थात् अपानवाह अर्थात् निर्गम अर्थात् रात्रि सूर्य की संक्रान्ति से पुलकित काल के नाम हैं। इसी लिए इसे उत्तरायण कहते हैं। माघ में मकर संक्रान्ति हृदय से उदय स्थान में, ६ अंगुलियाँ नीचे छोड़कर छोड़कर कुम्भ में, कण्ठ के ऊर्ध्व भाग मीन में, गले के ऊपर तालु तक मेष में, नासिकान्त तक, नासाग्र भाग से ६ अंगुल वृष में, पुनः छः अंगुल तक द्वादशान्त मिथुन में सूर्य की संक्रान्तियाँ होती हैं। इस गणना में पूरा छः मास का उत्तरायण पारलौकिक सिद्धियों को प्रदान करने वाला है।[१]

इस उत्तरायण गणना के सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि, इसमें एक-एक अंगुलि में ५-५ तिथियाँ स्थित और व्यतीत मानी जाती है। अंगुल के पंचांग में ही दिन और पंचाश में रात्रि अर्थात् एक अंगुल के दश भाग में ५/१० दिन और ५/१० रात्रि होती है।[२] यह निर्गम का विश्लेषण है।

प्रवेश अर्थात् प्राण के द्वादशान्त से हृत्पद्म की ओर प्रवेश के समय से लेकर हृत्पद्म में पहुँच जाने तक का दक्षिणायन है। इसकी कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है। जैसे बीज बोया जाता है। उसमें देश और काल के प्रभाव से पहले नमी फिर अंकुरण की क्रियाशीलता, अब तब में अंकुरणत्व, अंकुरण फिर जन्म स्थिति, परिपक्वता, वृद्धि, ह्रास और विनाश की अवस्थायें आती हैं। उसी तरह दक्षिणायन क्रम में प्राण का वपन (गर्भाधान) फिर उत्पत्ति की आकांक्षा, सत्ता में आने की आकांक्षा (उद्भवितुम् इच्छा उद्बुभूषा) भविष्य में स्थित रहने की आकांक्षा, उत्पत्ति का आरम्भ और उत्पत्ति की स्थिति आदि क्रियायें स्वाभाविक रूप से होती रहती हैं। इसके बाद भी (जायते-जन्मता) है।

१. तं० ६।११४, स्व० ७।९३-९९ २. तं० ६।१२१ स्व० ७।९६

अस्ति—रहता है, विपरिणमते—परिपक्व होता है, वर्द्धते-बढ़ता है, अपक्षीयते—क्षीण होता है और अन्त में विनश्यति अर्थात् नाश हो जाता है; इन छः वाक्यात्मक क्रियाओं से निष्पन्न जन्म, सत्ता, परिपाक, वृद्धि, क्षय और विनाश आदि भावात्मक शब्दों से अभिप्रेत अवस्थायें मकर से लेकर द्वादश संक्रान्तियों में होती हैं। मास की दृष्टि से यह माघ होता है। इसी मास में मकर[1] संक्रान्ति होती है।

जिस प्रकार खेत में बीज बो देने से उस पर बाहरी प्रभाव के कारण क्रमिक परिवर्त्तन होता हुआ अंकुरण होता है—पल्लवन, पुष्पन और फलन व्यापार होते हैं, उसी प्रकार श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया में जप आदि आध्यात्मिक क्रियाओं का साधकों को सिद्धि के सन्दर्भ में अप्रत्याशित महत्त्व माना जाता है। इसमें ध्यान होम जप आदि पारलौकिक फल प्रदान करने वाले माने जाते हैं। इन बारहों संक्रान्तियों में भी किसमें कौन सा कार्य आरम्भ किया जाय, इस वास्तविकता का भी योगियों ने अनुभव किया है। जैसे—मकर में सिद्ध मन्त्रों का, मीनादि चार अर्थात् मीन, मेष, वृष, मिथुन आदि में पुरश्चरण मन्त्र ग्रहण व्रतसंकल्प आदि गुरु के आदेशानुसार ग्रहण होना चाहिये।[2]

यह प्राणीय वर्ष की परिकल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १२ मासों के १२ अधिपतियों का उल्लेख भी आगमशास्त्र में उपलब्ध है। जैसे कार्त्तिक के 'रक्ष', मार्गशीर्ष के 'चण्ड' पौष के 'हर', माघ की शौण्डी, फाल्गुन के 'प्रमथ', चैत्र के 'भीम', वैशाख के 'मन्मथ', ज्येष्ठ के शकुनि, आषाढ़ के सुमति, श्रावण के 'नन्द', भाद्रपद के 'गोपालक' और आश्विन के पितामह अधिपति के रूप में परिगणित हैं। संक्रान्तियों के क्रम से यही इनके स्वामी के रूप से अधिष्ठित हैं।

ज्योतिषशास्त्र में भी द्वादश संक्रान्तियों की गणना आकाशीय ग्रह नक्षत्रों की और पृथिवी की गतिशीलता तथा परस्पर गति संक्रमण के आधार पर की जाती है। ठीक उसी प्रकार आगमशास्त्रों में भी श्वास प्रश्वासों में प्राणवाह और अपानवाह के सन्दर्भ में सूर्यतत्त्व और चन्द्रतत्त्व के संचार में प्राणीय संक्रान्तियों का ज्ञान साधक के लिये अनिवार्य है।[3]

१. तं० ८।११४-११८
२. स्व० तं० ७।१०३, ६।१२०
३. स्व० तं० ७।१२६

एक-एक अंगुल में ६०-६० तिथियों का काल, एक-एक अंगुल में एक-एक ऋतु, तीन-तीन अंगुल में अयन और ६ अंगुल में ही एक वर्ष यह सूक्ष्म प्राणीय वर्षोदय है—यही क्रम इस आन्तरालिक काल का सर्वमान्य है।[1]

वर्षोदय के इस आकल्पन में मुख्य रूप से विचारणीय विषय जीव की १२ स्थितियाँ ही हैं। प्राणसूर्य की गर्भता, उद्बुभूषेच्छा, उद्बुभूषता, उद्भूविष्यत्व, उद्भवारम्भ, उद्भवत्ता यह छः पहली और इसके बाद जन्म सत्ता, परिणति, वृद्धि, ह्रास और विनाश ये ६ दूसरी दोनों मिलाकर १२ अवस्थायें विश्व के सृजन, स्थिति और संहार से ही सम्बन्धित हैं।

एक एक अंगुल में ६० तिथियाँ यदि मान ली जाँय, तो संक्रान्ति में में एक वर्ष हो जायगा। पहले कहा गया है कि छः अंगुल में एक संक्रान्ति होती है। ६ अंगुल×६० तिथियाँ=३६० तिथियाँ और ३६० तिथियों का ही एक वर्ष, यह गणना का क्रम है।

एक प्राणचार और एक अपानवाह जिनकी चर्चा पहले की गयी है—इन दोनों में १२ वर्ष समाहित हो जाते हैं। ६ अंगुल एक वर्ष, तो ३६ अंगुल में ६ वर्ष। यह एक प्राणवाह होता है। अपानवाह के ३६ अंगुल में भी ६ वर्ष। इस प्रकार ६+६=१२ वर्ष, एक प्राणवाह और अपान के प्रवेश और निर्गम क्रम में सम्पन्न हो जाते हैं।

एक अंगुल में ३०० तिथियाँ होती हैं अर्थात् १/५ अंगुल में ६०। इस प्रकार १ १/५ अंगुल में ३६० तिथियाँ होंगी। १ १/५ अंगुल में एक चषक होता है—यह पहले ही कहा गया है। इस गणना से एक संक्रान्ति में ५ वर्ष होगा। इस परिपाटी से प्राण के एक-एक निर्गम और एक-एक प्रवेश अर्थात् एक निर्गम-प्रवेश में एक प्राणापान वाह में ६० वर्षों की गणना सम्पन्न होती है। इतने समय में इक्कीस हजार छः सौ तिथियाँ (३६०×६०=२१६००) होती हैं। एक अहोरात्र में इतनी ही श्वास प्रश्वासों की संख्या भी होती है। वर्ष की गणना के इस क्रम में उससे भी सूक्ष्म गणना हो सकती है क्योंकि गणना क्रम अनन्त है। अनन्तता के कारण शास्त्रकार इसे यहीं तक समाप्त कर रहे हैं।[2]

१. तं० ६।१२३-१२४
२. तं० ६।१२७, स्व० तं० ७।१३६

तत्र मानुषं वर्षं देवानां तिथिः । अनेन क्रमेण दिव्यानि द्वादश वर्षसहस्राणि चतुर्युगम् । चत्वारि त्रीणि द्वे एकम् इति कृतात् प्रभृति तावद्भिः शतैः अष्टौ संध्याः । चतुर्युगानाम् एकसप्तत्या मन्वन्तरम्, मन्वन्तरैः चसुर्दशभिः ब्राह्मं दिनं, ब्रह्मदिनान्ते कालाग्निदग्धे लोकत्रये अन्यत्र च लोकत्रये धूमप्रस्वापिते सर्वे जनाः वेगवदग्निप्रेरिता जनर्लोके प्रलयाकलीभूय तिष्ठन्ति । प्रबुद्धास्तु कूष्मांडहाटकेशाद्या महोलोके क्रीडन्ति । ततो निशासमाप्तौ ब्राह्मी सृष्टिः । अनेन मानेन वर्षशतं ब्रह्मायुः, तत् विष्णोः दिनम्, तावती च रात्रिः, तस्यापि शतम् आयुः । तत् दिनम् तदूर्ध्वे रुद्रलोकप्रभोः रुद्रस्य, तावती रात्रिः प्राग्वद्वर्षम्, तच्छतमपि च अवधिः ।

एक मानव वर्ष देवों की एक तिथि तुल्य है। इस क्रम से दिव्य बारह हजार वर्षों का एक युग होता है।[1] चार तीन दो एक इस क्रम से कृत, त्रेता, द्वापर और कलियुग के दिव्य सहस्र वर्ष होते हैं। चारों युगों की आठ सन्धियां होती हैं। ७१ चतुर्युगों का मन्वन्तर और १४ मन्वन्तरों का १ ब्रह्मदिन होता है। ब्रह्मा के दिनके अन्त में कालाग्नि से तीनों लोकों के दग्ध हो जाने पर तथा इसके ज्वलनधूम से ऊर्ध्व तीन लोकों के प्रभावित हो जाने पर सभी प्राणी वेगविन अग्नि से प्रेरित हो कर जनलोक में निवास करते हैं। वहाँ वे प्रलयाकल हो कर रहते हैं। प्रबुद्ध सिद्ध लोग कूष्माण्ड हाटकेश आदि मह लोक में विश्रान्ति प्राप्त करते हैं। पुनः निशाकी समाप्ति पर ब्राह्मी सृष्टि का सृजन होता है। इस उक्त मानसे सौ वर्ष ब्रह्मा की आयु है। ब्रह्मा का सौ वर्ष विष्णु का एक दिन और उतनी ही की एक रात होती है। इस मान से इनकी आयु भी १०० सौ वर्ष है। उससे भी बढकर विष्णु के सौ वर्ष का एक रुद्र का दिन और उतनी ही रात्रि। इस प्रकार १०० वर्ष की आयु रुद्र की भी मानी जाती है।[2]

१. स्व० ११।२१० तं० ६।१३९-४० २. स्व० ११।२१२

इस आधार पर उक्त गणित को रूप रेखा इस प्रकार होगी—

१ मानव वर्ष = १ दिव्य तिथि
दिव्य १२ हजार वर्ष = १ चतुर्युग
,, ४ ,, ,, = कृतयुग
,, ३ ,, ,, = त्रेता
,, २ ,, ,, = द्वापर
,, १ ,, ,, = कलियुग
,, १ सौ वर्ष = कलि का अन्त
,, ४ ,, ,, = कृत का आदि
,, ५ ,, ,, = कलि + कृत सन्धि
,, ७ ,, ,, = कृत + त्रेता सन्धि
,, ५ ,, ,, = त्रेता + द्वापर की सन्धि
,, ३ ,, ,, = द्वापर + कलि की सन्धि
,, १० हजार वर्ष = चारों युग
,, २ ,, ,, = ४ युगों की ८ सन्धियाँ
७१ चतुर्युग = १ मन्वन्तर
१४ मन्वन्तर = १ ब्राह्म दिन
१४ ,, = १ ब्राह्म निशा
ब्रह्मा की आयु = १०० वर्ष = १ विष्णु दिन
ब्रह्मा की १०० वर्ष = १ विष्णु रात्रि
विष्णु की आयु = १०० वर्ष = १ रुद्र दिन
विष्णु के १०० वर्ष = रुद्र की एक निशा
रुद्र की आयु = २०० दिव्य वर्ष (विष्णु)

तत्र रुद्रस्य तदवसितौ शिवत्त्वगतिः, रुद्रस्य उत्तराधिकारावधिः, ब्रह्माण्डधारकाणां तद्दिनं शतरुद्राणाम्, निशा तावती, तेषाममि च शतमायुः । शतरुद्रक्षये ब्रह्माण्डविनाशः । एवं जलतत्त्वात् अव्यक्तान्तम् एतदेव क्रमेण रुद्राणाम् आयुः । पूर्वस्यायुरुत्तरस्य दिनम् इति । ततश्च ब्रह्मा रुद्राश्च अबाधाधिकारिणः अव्यक्ते तिष्ठन्ति इति । श्रीकण्ठनाथश्च तदा

संहर्त्ता। एषोऽवान्तरप्रलयः, तत्क्षये सृष्टिः। तत्र शास्त्रान्तर-मुक्ता अपि सृज्यन्ते।

रुद्र की सौ वर्ष की आयु के व्यतीत हो जाने पर शिवत्व गति [प्राप्त हो जाती है]। रुद्र का १०० वर्ष ब्रह्माण्डधारक शतरुद्रों का एक दिन [होता है]। उतनी ही समयावधि की रात होती है। शतरुद्रों के विनाश होने पर ब्रह्माण्ड का विनाश हो जाता है। इस प्रकार जलतत्त्व से अव्यक्त पर्यन्त इसी क्रम में रुद्रों की आयु [होती है]। पूर्व पूर्व की आयु उत्तर उत्तर का दिन है। इसके बाद ब्रह्मा और रुद्र जो अप् आदि के अधिकारी हैं—अव्यक्त में रहते हैं। श्रीकण्ठनाथ ही उस अवस्था में संहर्त्ता होते हैं। यह अवान्तर प्रलय है। इस प्रलय के क्षय के उपरान्त सृष्टि होती है। सृष्टि की इस दशा में, अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार जो मुक्त हैं—वे भी सृष्ट होते हैं।

ब्रह्मा की आयु के उपरान्त विष्णु, विष्णु की आयु के उपरान्त रुद्र और रुद्र की आयु के उपरान्त शिवत्त्व की गति काहो, क्रम है। रुद्र का उत्तराधिकार शतरुद्रों को प्राप्त होता है। शतरुद्रों की आयु भी १०० वर्ष की होती है। रुद्र की आयु के पूरे १०० वर्षों का एक दिन और रुद्र १०० वर्षों की ही एक रात होती है। शतरुद्रों की आयु की समाप्ति पर पूरे ब्रह्माण्ड का विनाश हो जाता है।[1]

जल तत्त्व से लेकर अव्यक्त तत्त्व पर्यन्त यही क्रम चलता है। इसमें क्रमशः १००-१०० वर्षों का अन्तराल मान्य है। अपने-अपने सौ वर्ष के आयुष्य के मान से उनकी दिन और रात्रियों का मान निर्धारित किया जा सकता है।[2] इस मान का पैमाना इस प्रकार दिया जाना अपेक्षित है :—

रुद्र की आयु के दिव्य १०० वर्ष = १ शतरुद्र दिन।
" " " १०० वर्ष = १ " रात्रि
शतरुद्र की आयु के १०० वर्ष = १ ब्रह्माण्ड का जन्म अस्तित्व और विनाश।[3]

१. तं० ६।१६, स्व० ११।२६३-२६३ २. तं० ६।१४७ ३. तं० ६।१४६

सोमा—जल तत्त्व से लेकर अव्यक्त पर्यन्त रुद्रों की आयु का यही क्रम[1] है।

परिमाण—पूर्व का आयुष्य = उत्तर का दिन अर्थात्—
पूर्व पूर्व की आयु = उत्तर उत्तर का दिन

प्रश्न उपस्थित होता है कि, सृष्टि के जीव ब्रह्माण्ड के विनाश के समय कहाँ रहते हैं ? ब्रह्माण्ड के विनाश के समय सभी जीव पुर्यष्टक रूप से विद्यमान रहते हैं। भूः, भुवः और स्वः तीनों लोक कालाग्नि-धूम्र से आच्छादित होकर प्रलयकेवली अवस्था में जन लोक में स्थित होते हैं। उस समय कूष्मांड और हाटक आदि लोकनायक मह में प्रलीन रहते हैं सूक्ष्म देह ही पुर्यष्टक है। उसी में पुर्यष्टक रूप से ही सभी जीव उस अवस्था में अवस्थित रहते हैं। यह सूक्ष्मावस्थान एक प्रकार की कालिका की कमनीय क्रीडा मात्र है। यहाँ ब्रह्मा बुद्धितत्वस्थ देवता है, न कि सत्यलोक स्थित पुराण प्रसिद्ध विश्व स्रष्टा।

पञ्चमहाभूतों के अधिकारी, गुण तत्त्वों के अधिष्ठाता ये ब्रह्मा और रुद्र आदि सभी पुंतत्त्वस्थ श्रीकण्ठ शिव के साथ ही अव्यक्त तत्त्व में निवास करते हैं। अव्यक्त ही प्रकृति रूप मूल तत्त्व है। वहाँ ब्रह्मादि तत्त्व श्रीकण्ठ नाथ के नायकत्व में निवास करते हैं। इस लिये श्रीकण्ठनाथ का ही प्राधान्य रहता है। वहाँ वे ही संहार के मुख्य देव हैं। यह अवान्तर प्रलय की अवस्था का एक विवरण है। इस में ब्रह्माण्ड का ही तत्त्व रूप में विलयन होता है। यह तो निश्चित है कि, संहार के अनन्तर (निशा के अन्त होने पर दिन के समान) सृष्टि का क्रम पुनः प्रारम्भ होता है।

सृष्टि के इस क्रम को साधक प्रकृत्यण्ड विस्फार की संज्ञा प्रदान करता है। एक समय प्रलयोल्लास और तदनन्तर प्रकृति प्रस्फुरण समुल्लास। रात्रि और दिन; सूर्यास्त और सूर्योदय ! ब्रह्मविलास का आतन्री कारण और समयानुसार पुनः ब्राह्म विस्फार !

इस क्रम के समझने के मुख्य विषय तत्त्वों के निमेष और उन्मेष ही हैं। शतरुद्रक्षय होने पर जब ब्रह्माण्ड रहता ही नहीं है, तो उसके अधिष्ठाता देव कहाँ रहते, क्या करते और कैसे श्रमापनोदन करते हैं। श्रीकंठ के अधीन उनका विश्राम उनके शयनके समान है।

१. तं० ६।१४८

यत्तु श्रीकण्ठनाथस्य स्वम् आयुः, तत्त कञ्चुकवासिनां रुद्राणां दिनम्, तावती रजनी, तेषां यदायुः तत् गहनेशदिनम् तावती एव क्षपा, तस्यां च समस्तमेव मायायां विलीयते। पुनः गहनेशः सृजति। एवं यः अव्यक्तकालः तं दशभिः परार्धैः गुणयित्वा मायादिनं कथयेत्। तावतीरात्रिः। स एव प्रलयः मायाकालः परार्धशतेन गुणितः ऐश्वरतत्त्वे दिनम्। अत्र प्राणो जगत् सृजति, तावती रात्रिः, यत्र प्राणप्रशमः, प्राणोऽपि ब्रह्म-बिलधाम्नि शान्तेऽपि, या संवित् तत्राप्यस्ति क्रमः।

जहाँ तक श्रीकण्ठनाथ की आयु का प्रश्न है—वह कञ्चुक में रहने वाले रुद्रों का दिन ही है। उतनी ही बड़ी उनकी रात। इन रुद्रों की जितनी आयु, उतनी अवधि तक महेश का दिन, जितना बड़ा दिन, उतनी ही बड़ी रात! इस रात के समय उक्त सामस्त्य का, समग्रता का, इस पूर्णता का विलय माया तत्त्व में हो जाता है। इस विलय के बाद सृजन का जो क्रम आरम्भ होता है, उसका सृजन गहनेश नामक शिव करते हैं। इस प्रकार का इतना काल अव्यक्तकाल होता है। इसको दश परार्ध से गुणा करने से, जो समय का मान होगा, वह ईश्वर तत्त्व का दिन है। यहाँ प्राण जगत् का निर्माण करता है। जितना बड़ा ऐश्वर दिन, उतनी बड़ी उसकी रात! इस रात में प्राण का प्रशमन होता है। प्राण के ब्रह्मबिल रूप (परात्पर) धाम में शान्त हो जाने पर, जो संवित् शक्ति उल्लसित रहती है, उसमें भी क्रमिकता का आकलन होता है।

आनन्त्य के इस महाप्रसार में, तत्त्वों की इस पारम्परिक विस्फूर्त्ति में कल्पनातीत काल का जो अकल्पनीय-संख्यातीत विस्फार-विस्तार है—वह निःसन्देह योगियों के लिए ही गम्य है। सामान्य मस्तिष्क के वश की यह कालगणना नहीं है। इस गणित का महाज्ञाता, अनुत्तर गणितज्ञ परम शिव ही है।

मनुष्यों की काल गणना से देवों की आयु का आकलन, फिर चतुर्युग, मन्वन्तर, कल्प, ब्रह्मा, विष्णु रुद्र के दिन और उनकी रातें, आयु, फिर

शतरुद्रोत्पत्ति और उनका क्षय! फिर अव्यक्तावस्थान, श्री कण्ठ, रुद्र, गहनेश, माया, ईश्वर तत्त्व, सदाशिव तत्त्व का पुनः बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, अनाश्रित सामनस्य-औन्मनस्य-पदों का निमेष और उन्मेष। यह ब्रह्म का उपबृंहण। एकका लय—दूसरे का उदय।

इस अनुच्छेद में रुद्र, गहनेश, माया, ऐश्वर आयु और प्राण, तत्त्वों के दिन और रात्रि के सम्बन्ध में उल्लेख है। अन्त में संविदुल्लास के क्रम का भी यहाँ संकेत है।

ऐश्वरेकाले परार्धशतगुणिते या संख्या, तत् सादाशिवं दिनम्, तावती निशा, स एव महाप्रलयः। सदाशिवः स्वकाल-परिक्षये बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिका आक्रम्य नादे लीयते, नादः शक्तितत्त्वे, तद्व्यापिन्यां, सा च अनाश्रिते। शक्तिकालेन परार्ध-कोटिगुणितेन अनाश्रित दिनम्। अनाश्रितः सामनसे पदे, यत् तत् सामनस्यम् साम्यं तद्ब्रह्म। अस्मात् सामनस्यात् अकल्यात् कालात् निमेषोन्मेषमात्रतया, प्रोक्ताशेषकालप्रसरविलय-चक्रभ्रमोदयः।

ईश्वर के आयुष्य में सौ परार्धों से गुणा करने पर जो संख्या होगी, वही सादाशिव दिन की अवधि है। उतनी ही बड़ी रात भी निश्चित है। काल की अकल्पनीय सीमा महाप्रलय की सीमा है। अपने काल की परिसमाप्ति पर सदाशिव, बिन्दु, अर्धचन्द्र निरोधिका के सूक्ष्माति-सूक्ष्म परमयोगिवृन्दगम्य अनुभूति के स्तरों को पार कर नाद स्तर में लीन होता है। नाद (नादान्त से होता हुआ) शक्ति तत्त्व में विलीन होता है। शक्तितत्व, व्यापिनी तत्त्व में, वह अनाश्रित में, अनाश्रित सामनस पद में लीन होता है। अनाश्रित तत्व का समय शक्तितत्त्व की काल सीमा में एक करोड़ परार्ध से गुणा करने पर ज्ञात होती है। अनाश्रित और समना के सामरस्य का चिद्घनानन्द स्वरूप ही ब्रह्म है। वह सामनस्य, वह साम्य ब्रह्म ही है। सामनस्य के इसी कल्पनातीत

काल से, निमेष उन्मेष मात्र से कथित समस्त तुटि आदि कालचक्र के क्रम-भ्रम का उदय होता है।

ईश्वर तत्त्व प्रत्यभिज्ञा दर्शन का एक उत्कृष्टतम स्तर है। ईश्वर के बाद शुद्ध अध्वा का अहन्ता प्राधान्य संवलित सदाशिव तत्त्व आता है। सदाशिव शिव का एक शक्तिमान् प्रतीक है। उसकी आयु के सम्बन्ध में आगमविदों में कोई वैमत्य नहीं है। आचार्य अभिनव गुप्त ने गुरु-परम्परा प्राप्त इसी रहस्य का उद्‌घाटन किया है। उनका कहना है कि, ईश्वर के आयुष्य में सौ परार्धों से गुणा करने पर सदाशिव के दिन मान का ज्ञान होता है। दिन की जितनी काल सीमा हो सकती है, रात की भी उतनी ही अवधि होती है। सदाशिव के दिनमान के बीत जाने पर एक प्रकार से शुद्ध अध्वा का भी उपसंहार हो जाता है। इसे ही महा-प्रलय कहते हैं।[1]

चराचर जगत् को आत्मसात् कर यह सदाशिव देव अपने आयुष्य के अवसान पर प्रथमतः बिन्दु में लीन होता है; फिर अर्धचन्द्र में और पुनः निरोधिका के पदों को पार करता हुआ वह नाद के स्तर पर पहुँचता है। नाद तत्त्व सृष्टि का उत्स माना जाता है। यह अनाहत नाद होता है। कबीर ने इसे ही अनहद नाद कहा है। नाद के बाद नादान्त तत्त्व होता है। यहाँ ब्रह्माण्ड चक्र का भेदन होता है। योगी साधना के बल पर इन अवस्थाओं को प्राप्त करता है और हठपूर्वक ब्रह्मबिल का भेदन करता है। ब्रह्मबिल के भेदन पर शक्तितत्त्व का क्षेत्र प्राप्त हो जाता है।[2]

इस उच्चस्तर तक पहुँचने के बाद भी अभी चार स्तर अवशिष्ट रह जाते हैं। वे हैं—व्यापिनी, अनाश्रित, समना और सहस्रार। शक्ति का व्यापिनी में विलय, उसका अनाश्रित में विलय-ज्ञान यह सब साधक को गुरु कृपा से प्राप्त हो जाता है। किन्तु तत्त्वों के विलय की प्रक्रिया बड़ी ही विलक्षण है। शक्तिकाल के कोटि परार्धों के गुणा करने पर जो काल आता है, वह अनाश्रित तत्त्व का दिन होता है। समना के उन्नततम स्तर को सामनस पद कहते हैं। इस सामनस स्तर पर अनाश्रित के विलीन

१. तं० ६।१६०, स्व० तं० ११।२९८

२. तं० ६।१६१-१६२. स्व० ११।३००-३०४, ३०७

विलीन होने को सामनस्य दशा कहते हैं। सामनस्य अवस्था में नितान्त समरसता आ जाती है। वहीं सहस्रार का परम प्रकाश प्राप्त हो जाता है। वही ब्रह्म का सम रूप है। वही साम्य है, वही महासामनस्य है।

समग्र कलाओं से ललित संवलित कल्पनातीत किन्तु सर्व समाकलन-समर्थ परमसाम्यस्वरूप शिव चिन्तन का विषय है। पृथिवी से लेकर अनाश्रित पर्यन्त समस्त भेदप्रथा, समस्त सविकल्पक पार्थक्य ध्वस्त हो जाता है। सर्व को 'स्व' की सत्ता में आत्मसात् हो जाना पड़ता है। भेद प्रथा का अभाव और अभेद भाव की भव्यता का सर्वतोभावेन उद्भावन इस स्तर के वैलक्षण्य, वैचित्र्य और वैशिष्ट्य हैं।

इसीलिये इस अवस्था को साम्य शब्द से, सामनस्य शब्द से अथवा ब्रह्म पद से अभिधान करते हैं। यह सचमुच अकलय कल्पनातीत काल का क्रम ही है।[1] विश्व संहार की दशा में समस्त अणुमात्र समना की समरसता में निवास करता है।[2] यह ऊर्ध्व गति परमशिवमय मुक्ति सुलभ करती है। फिर यहीं से काल के लघुतम अंश निमेष, उन्मेष, तुटि पल आदि का समुद्भव होता है।

एकं, दश, शतं, सहस्रम्, अयुतं, लक्षम्, नियुतं, कोटिः, अर्बुदं, वृन्दं, खर्वं निखर्वं, पद्मं, शङ्कुः, समुद्रं, अन्त्यं मध्यं, परार्धम् इति क्रमेण दशगुणितानि, अष्टादश इति गणितावधिः।

एवम असंख्याः सृष्टि प्रलयाः एकस्मिन् महासृष्टिरूपे प्राणे, सोपि संविदि, सा उपाधौ, स चिन्मात्रे, चिन्मात्रस्यैवायं स्पन्दः यदयं कालोदयो नाम।

एक, दश, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, पद्म, शङ्कु, समुद्र, अन्त्य, मध्य और परार्ध—इस क्रम से दस गुने अठारह पर्यन्त (भारतीय) गणना का क्रम है।

१. स्व० ११।३४६ २. स्व० ४।४२९

इस तरह असंख्य सृष्टि और असंख्य प्रलय इस महासृष्टि रूपी प्राण में होते रहते हैं। प्राण की सृष्टि-प्रलयावस्था संविद् में, संविद् उपाधि में, उपाधि चिन्मात्र में सृष्ट और लीन होते रहते हैं। यह सारा स्पन्द चिन्मात्र का ही स्पन्द है। स्पन्द को ही कालोदय कहते हैं।

भारतीय आचार्यों ने अङ्कविद्या का आविष्कार किया था। एक से लेकर दश-दश की गुणित गणना के अठारह क्रम पर्यन्त परार्ध की संख्या होती है। गणित शास्त्र में इसके आगे किसी संख्या शब्द की कोई संज्ञा निर्धारित नहीं है।

आगम का सिद्धान्त है–'प्राक् संविद् प्राणे परिणता' अर्थात् संविद् की प्रथम परिणति प्राणरूप में हुई थी। इसलिये प्राण को महासृष्टि कहते हैं। यह शाक्ती सृष्टि है।[1] जहाँ सृष्टि होगी, वहाँ प्रलय भी अवश्यंभावी है। सृष्टि और प्रलय के शक्त्यन्त के कर्त्ता एक मात्र अघोरेश ही हैं।[2] इनसे सम्पन्न सृष्टि और प्रलय इसी महाशक्ति की प्राणसत्ता में चलते रहते हैं। प्राण का भी प्रणयन और प्रलयन संविद् शक्ति के अन्तराल में ही अनुभूत होते हैं।

उपाधि सर्वदा उपहित होती है। स्वात्म स्वातन्त्र्य के कारण संविद् शक्ति कभी पार्थिव, कभी आप्य आदि वैशिष्ट्य से संचलित होती रहती है। इस प्रकार संविद् का प्रसार तैजस, प्रकाशोपहत और तीक्ष्णता आदि गुणों से भी मुक्त होकर विचित्रता को प्राप्त करता है। कभी प्रकाश सूर्य रूप से, कभी चन्द्र रूप से प्रभावित होता है और उपाधि कलुषित हो जाता है।[3] उपाधि में भी सृष्टि और प्रलय का यह शाश्वतक्रम सापेक्ष रूप से शाश्वत परिलक्षित होता है। संविद् का जैसे उपाधि में उसी प्रकार उपाधि मात्र का चिन्मात्र में कभी प्रच्छादन और कभी प्रकटीकरण, कभी लय और कभी उदय होता है।[4] संविद् पार्थक्य-प्रथा-प्रथित नील आदि विभिन्न आभासों से संचलित परिमित रूप, उपाधि स्थिति में और यह समस्त उपाधि प्रसार चिन्मात्र में ही विलसित होता है। यहीं चित्स्वातंत्र्य है। यह समग्रविश्ववैचित्र्य, यह सकल क्रिया प्रसार इच्छा शक्ति में ही प्रतिष्ठित होता है।

१. तं० ६।१७३ २. तं० ६।१७२
३. तं० ३।११८-११९ ४. तं० ६।१७८-१८०

चाहे जिस रूप में हो—ज्यों ही किसी प्रकार का स्फुरण होगा, चाहे वह जागृति हो, स्वप्न हो सुषुप्ति हो तुरीया दशा हो, समाधि हो, लय उदय का कोई भी अंश हो—स्पन्द रूप ही है। यह काल का ही अवभासन है।[1] काल के उदय का तात्पर्य है—किसी प्रकार का स्पन्द। साम्य स्थिति में[2] पृथिवी से लेकर अनाश्रित पर्यन्त की अभेदात्मक स्थिति निश्चित रूप से कल्पनातीत होती है किन्तु जहाँ किसी प्रकार का अणुमात्र भी स्पन्द हुआ साम्यस्थिति में भेद, दृष्टिगोचर होगा ही। सामनस अवस्थान के कालात्मक स्पन्दन को ही लोक भाषा में हम निमेष-उन्मेषात्मक तुटि से लेकर परार्ध तक संज्ञा प्रदान करते हैं।

तत एव स्वप्नसंकल्पादौ वैचित्र्यम् अस्य, न विरोधावहमे एवं यथा प्राणे कालोदयः, तथा अपानेऽपि हृदयात् मूलपीठ-पर्यन्तम्। यथा च हृत्कण्ठ-तालु-ललाट-रन्ध्र-द्वादशान्तेषु ब्रह्म-विष्णु-रुद्र–ईश–सदाशिव–अनाश्रित–कारणषट्कम्, तथैव अपानेऽपि हृत्कन्दानन्द–संकोच–विकास–द्वादशान्तेषु, बाल्य–यौवनवार्धक–निधन–पुनर्भव–मुक्त्यधिपतय एते।

(चिन्मात्र का स्पन्द होने के कारण) स्वप्न और संकल्प आदि में जो वैचित्र्य दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है, वह विरोध मूलक नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार जैसे प्राण में कालोदय होता है, उसी तरह अपान में भी हृदय से मूल पीठ तक कालोदय होता है। जैसे हृदय-कण्ठ-तालु ललाट रन्ध्र और द्वादशान्तों में ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईश-सदाशिव और अनाश्रित ये ६ कारण क्रमशः हैं, वैसे ही अपान में भी हृदय-कन्द-आनन्द-संकोच विकास-द्वादशान्तों में बाल्य-यौवन वार्धक्य-निधन-पुनर्भव तथा मुक्ति के अधिपति ये उक्त ६ क्रमशः कारण रूप से विद्यमान रहते हैं।

एक महासृष्टि में असंख्य सृष्टि और प्रलय निरन्तर होते रहते हैं। यह सारा सृष्टिसंहारस्पन्दन वस्तुतः संविद् में ही होता है। यही स्पन्दन

१. तं० ६।८०-८० २. ६।१६६

उपाधि में, वही चिन्मात्र में सर्वत्र होता है, जिसे कालोदय के नाम से जाना जाता है।[१]

इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि, स्वप्न में भी जो कुछ दीख पड़ता है, वह भी एक प्रकार का स्पन्दन ही है। संकल्पों और विकल्पों में जो वैचारिक उथल-पुथल चलती रहती है वह भी तो स्पन्दन ही है। यह वही स्पन्दन वैचित्र्य है, जो प्राण में, संविद् में, चिन्मात्र में और उपाधि में निरन्तर चल रहा है। इसमें विरोध की कोई बात ही नहीं है। स्वप्न में जो सोने का महल क्षण भर में खड़ा हो जाता है और निमिष मात्र में ध्वस्त भी हो जाता है, यह स्पन्दन को ही तो विचित्रता हुई—इसमें विरोध की तो कोई बात हुई नहीं। यही प्रक्रिया प्राण में कालोदय रूप से जानी जाती है। यह सब लय और उदय संवित्स्वातन्त्र्य का परिणाम है। यही काल जन्य विचित्रता है। यही प्राण में कालोदय है।[२]

क्रिया वैचित्र्य की शक्ति से उत्पन्न होने वाला काल जैसे प्राण में परिस्फुरित होता है—वैसे ही अपान में भी प्रस्फुटित होता रहता है। इसकी सीमा हृदय से मूलाधार नामक महापीठ पर्यन्त है।[३] प्राण की ऊर्ध्व सरणी में पहला स्थान उदय का है। हृदय से प्राण चल कर कण्ठ में आता है, जहाँ से स्वर व्यंजन रूप से व्यक्त होता है। यह प्राण का दूसरा विश्रान्ति स्थल है। वहाँ से प्राण विशुद्धचक्र तालु में विश्रामं करता है। वहाँ से आगे ललाट में आज्ञा चक्र के कमल दलों के परागसे पुलकित होता हुआ (विन्दु, निरोध, नाद, नादान्त, शक्ति, समना, उन्मना की मन्जिलों को पार करता हुआ ब्रह्मरन्ध्र, के पञ्चम विश्रामस्थल पर पवता है। उसके बाद प्राण के परिस्पन्द की उत्तम अवस्था आती है। उसे द्वादशान्त कहते हैं। वस्तुतः शक्ति के उदय और अस्त के अन्तिम विश्रान्तिस्थल को द्वादशान्त कहते हैं। यह एक पारिभाषिक शब्द है। देह की सत्ता की इयत्ता का ऊपर का तथा नीचे का अन्तिम विन्दु है। पाँच कर्मेन्द्रियों ५ पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन-बुद्धि के बारह प्रमेयों का अन्त अहंकार में होता है। अहंकार द्वादशान्त है।[४] उसी प्रकार ऊर्ध्ववक्त्र शक्ति के हृदय-कण्ठ-तालु-ललाट-रन्ध्र स्थलों की विश्रान्ति जहाँ होती है, वह द्वादशान्त स्थल है। इन

१. तन्त्रलोक ६।१७९-८०
२. तं० ६।१८१-१८२
३, ६।१८५-६६
४. तं० ५।१६१

छः स्थानों में क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु, रुद्र, ईश-सदाशिव और अनाश्रित शिव ये कारण रूप से विश्राम करते हैं।

अपान में अर्थात् अधोवक्त्र रूप शक्ति के उदय विश्राम स्थल **हृदय-कन्द-आनन्द-संकोच-विकास और द्वादशान्त स्थलों** में ये ही ब्रह्मा-विष्णु रुद्र-ईश-सदाशिव और अनाश्रित छः कारण रूप से विद्यमान रहते हैं। इन छहों को क्रमशः बाल्य-यौवन-वार्धक्य-मृत्यु पुनर्भव और मुक्ति के अधिपति के रूप में योगिवर्ग अपने योगानुभव से जानता है।[१]

संसार में हेय और उपादेय का ज्ञान आत्मकल्याण के लिये अनिवार्य है। हेय के ज्ञान हो जाने पर उसका परित्याग सरलता पूर्वक हो जाता है। उसमें गति और रोध नहीं रह जाते। फलतः उपादेय में सुख पूर्वक विश्रान्ति हो जाती है। समस्त कारणों की उत्पत्ति का कोई उत्स अवश्य है। वही अन्तिम उपादेय है। वही शिव है। उस में साधक का समावेश उसके अस्तित्व की विश्रान्ति के सदृश है। उस प्रकार प्राण की तरह अपान के कालोदय क्रम में 'द्वादशान्ते परः शिवः' का सिद्धान्त लागू होता है। तुटि से लेकर ६० वर्षों की अवधि को अपान का समय कहा जा सकता है।

अथ समाने कालोदयः। समानो हार्दीषु दशस्तु[२] नाडीषु संचरन् समस्ते देहे साम्येन रसादीन् वाहयति। तत्र दिगष्टके संचरन् तद्दिक्पतिचेष्टाम्[४] इव प्रमातुः अनुकारयति। ऊर्ध्वाधस्तु संचरन् तिसृषु[४] नाडीषु गतागतं करोति। तत्र विषुवद्दिने बाह्ये प्रभातकाले सपादां घटिकां मध्यमार्गे वहति। ततो नवशतानि प्राणविक्षेपाणाम्—इति गणनया बहिः सार्धघटिकाद्वयम् वामे दक्षिणे वामे दक्षिणे वामे इति पञ्च संक्रान्तयः।

समान वायु में कालोदय का प्रकार—

१—हृदय की दश नाड़ियों में समान रूप से संचार करता है।
२—समस्त शरीर में साम्यभाव से रस आदि का संवहन करता है।

१. तं० ३।१८७-१८।१९१

३—आठों दिशाओं में चलता हुआ दिशाओं के अधिपतियों की तरह प्रमाता को कार्य में प्रवृत्त करता है।

४—ऊपर नीचे संचरित होता हुआ मुख्यतः इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना में संचार करता है।

५—विषुवद् दिन (मेषार्क) में प्रभातकाल में सवा घड़ी मध्य में वहन करता है। अर्थात् सौषुम्न मार्ग में संचार करता है।

६—फलस्वरूप प्राणविक्षेप की क्रिया २।। घड़ी में ९०० हो जाती है।

७—इस गणना के अनुसार बाह्य दशा में २।। घड़ी बायें, दायें, बायें, दायें और बायें इस क्रम से ५ संक्रान्तियाँ होती हैं।

उपर्युक्त सातों प्रकार समान में काल के उदय का प्रक्रम दिग्दर्शित करते हैं। वस्तुतः सृष्टि और प्रलय प्राण परिस्पन्द के ही परिणाम हैं। प्राण संविद् तत्त्व का ही परिणाम है। संवित्तत्त्व भी ज्ञेयवर्जित चिन्मात्र में प्रतिष्ठित रहता है। चिन्मात्र ही परा परमेश्वरी शक्ति है। यह ३८वाँ तत्त्व है।[१] इस विवरण के अनुसार प्राण में लयोदय रूप जो कालक्रमात्मा स्पन्दन होते हैं—वे सभी संवित्स्वातन्त्र्य के प्रतीक हैं। जैसे प्राण में हृदय-कण्ठ-तालु-ललाट-रन्ध्र और द्वादशान्त स्थलों के ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईशान, सदाशिव और अनाश्रित शिव रूप ६ कारण तत्त्व हैं, उसी प्रकार अपान में हृदय, कन्द, आनन्द, संकोच, विकास और द्वादशान्त स्थलों में उक्त छः कारणतत्त्व क्रमशः बाल्य, यौवन, वार्धक्य, निधन, पुनर्भव और मुक्ति के अधिपति रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं।

शरीर में संचरण करने वाले ५ प्राण तत्त्वों में समान वायु का विशेष महत्त्व है। समस्त शरीर में समान भाव से रस आदि तत्त्वों का संवहन करता है। हृदय में दश नाडियाँ हैं—१—इडा, २—पिङ्गला, ३—सुषुम्ना, ४—गान्धारी, ४—हस्तिजिह्वा, ६—पूषा, ७—अर्यमा, ८—अलम्बुषा, ९—कुहू और १०—शंखिनी।[२] समान वायु यद्यपि सर्वत्र समान रूप से संचरण करता है, फिर भी इसका केन्द्र स्थान नाभि प्रदेश ही है।[३]

१. तं० ६।१८० २. तं० १९६ पृ० १६२ नं० १६-१७— ज्ञान संकलिनी तन्त्र ७५-७७। स्वच्छन्द ७।१५-१६
३. ज्ञान सं० ७०

समान वायु साम्यभाव से, सामनस रूप से विद्यमान रहता है। अतः इसका प्रभाव समानरूप से आठों दिशाओं पर रहता है। दिशाओं के स्वामियों के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। समान वायु का सम्पर्क सबसे है। यही कारण है कि, मनुष्य में शोक, क्रोध, विषाद, विस्मय ताप, हर्ष, उल्लास और आनन्द आदि भाव यथा समय परिस्थितिवश उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे अन्तरिक्ष के किस दिग्विभाग में इस समय पृथ्वी है—यह अज्ञात है, पर उसका प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता ही है, उसी तरह समान वायु शरीर में कब कहाँ संचरित हो रहा है—यह अज्ञात है, फिर भी इन उभरते भावों से उसकी स्थिति का आकलन होता है।

ऊपर और नीचे की गति इडा, पिंगला और सुषुम्ना से सम्बन्धित है। इन्हीं तीनों में समानवायु आता जाता रहता है। सर्वत्र समानरूप से स्थित रहने पर भी मुख्यरूप से तीनों उक्त नाड़ियों में वाम और दक्षिण क्रम से यह गतिशील रहता है।[१] दक्षिण में सूर्य और वामभाग में चन्द्र सञ्चार होता है। परिपाक की दशा में यह मध्यावस्थान करता है।[२] इडा विन्दु नाडी है। पिङ्गला नाद नाड़ी है। सुषुम्ना शक्ति नाड़ी है। इनमें सञ्चार के फल स्वरूप अनेक प्रकार की श्वाससम्पर्क-क्रिया सम्पन्न होती है। जैसे मकर वृत्त के सूर्य के स्पर्श से मकर और कर्क-वृत्त-सम्पर्क से कर्क संक्रान्तियाँ होती हैं; उसी तरह विषुवद् दिन में मेष संक्रान्ति के श्वास (प्राणचार) की गणना से यह प्रतीत होता है कि, प्रातःकाल से १¼ घड़ी में ४५० प्राणचार होते हैं। इस समय समानवायु सौषुम्न मार्ग में अवस्थित रहता है। यही मध्य मार्ग है। ६० चषक की एक घड़ी होती है। एक चषक में ६ श्वास प्रश्वास चलते हैं। इस प्रकार साठ चषक की एक घड़ी में ६०×६=३६० प्राणचार होते हैं। ¼ घड़ी अर्थात् १५ चषकों में १५×६=९० प्राणचार होते हैं। ३६०+९०=४५० प्राणचार मेष के सूर्य के प्रभावकालीन गणना से सिद्ध हैं। २½ घड़ी में ४५०+४५०=९०० प्राण सञ्चार होते हैं।

सूर्य संक्रान्तियाँ वर्ष में १२ होती हैं। मेष से कन्या तक ६ और तुला वृश्चिक धन मकर कुम्भ मीन राशियों में ६ मिलाकर ६+६=१२ संक्रान्तियाँ ज्योतिष शास्त्र में परिगणित हैं। इडा-पिंगला और सुषुम्ना

१. तं० ६।१९८ २. स्व० ७।५२

नाड़ियों में मुख्यतः और दश नाड़ियों में सामान्यतः संचार करने वाले अन्तःस्थित प्राणचार में भी यहाँ संक्रान्तियों को गणना की गयी है। सम्पूर्ण पृथ्वी का गोल मण्डल ३६० अंशों में बाँटने पर १२ संक्रान्तियों के लिए ३०-३० अंश आते हैं। ३० आन्तरिक प्राणसंचार ५ चषक में हो जाते हैं।

प्राणचार एक चषक में ६ बार होता है। ६० चषक की घड़ी में ३६० और ६० घड़ी के बाह्य अहोरात्र में २१६०० प्राणचार हो जाते हैं।[1] इसी अन्तराल में २४ संक्रान्तियाँ होती हैं। प्रभात, मध्याह्न, सन्ध्या और मध्यरात्रि (निशीथ) ये चार विषुवत् हैं।[2] प्रभात कालीन विषुवत् में १¼ घड़ी में ४५० प्राणचार और एक मेष संक्रान्ति का समय होता है। इसके बाद १२½ घड़ी में ४५०० प्राणचार २½ घड़ियों के क्रम से बायें दाहिने, बायें, दाहिने और फिर बायें अर्थात् चन्द्र सूर्य चन्द्र सूर्य और चन्द्र अर्थात् इडा पिंगला इडा पिंगला इडा का आश्रय लेकर होते हैं। यही पाँच संक्रान्तियाँ है। इस अवस्था तक मेष से कन्या तक ६ संक्रान्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

ततः संक्रान्तिपञ्चके वृत्ते पादोनासु चतुर्दशसु घटिकासु अतिक्रान्तासु दक्षिणं शारदं विषुवन्मध्याह्ने नवप्राणशतानि। ततोऽपि दक्षिणे वामे दक्षिणे वामे, दक्षिणे इति संक्रान्तिपञ्चकं प्रत्येकं नवशतानि, इत्येवं रात्रावपि, इति। एवं विषुवद्दिवसे तद्रात्रौ द्वादश द्वादश संक्रान्तयः। ततो दिनवृद्धिक्षयेषु संक्रान्तिवृद्धिक्षयः।

मेष के अतिरिक्त पाँच संक्रान्तियों के सम्पन्न होने के कारण १३¾ घड़ियाँ बोत जाती हैं। तदुपरान्त दक्षिणवाही विषुवत् मध्याह्न होता है। इसमें ९०० प्राण संचार होते हैं। इसमें पहले दक्षिण श्वास फिर वाम प्राण संचार, पुनः दक्षिण फिर वाम और इसके बाद दक्षिण यह

१. तं० ६।१९९
२. तं० ६–२०५-२०६

५ संक्रान्तियाँ होती हैं। प्रत्येक संक्रान्ति में ९०० प्राण संचार होते हैं। इसी तरह रात्रि मे भी प्राण संचार होते रहते हैं। इस प्रकार विषुवद्दिवस और रात्रियों में १२-१२ संक्रान्तियाँ गणना से सिद्ध हैं। दिन में वृद्धि-क्षय होते ही रहते हैं। परिणामतः संक्रान्तियों में भी वृद्धिक्षय होते रहते हैं।[1]

विषुवत् प्रभात विषुदत् मध्याह्न, विषुवत्सन्ध्या और विषुवत् निशीथ की चार संक्रान्तियों के[2] अन्तराल में ५-५ संक्रान्तियाँ होती हैं। १¼ घड़ी विषुवत् प्रभात संक्रान्ति और १३¾ घड़ी की ५ संक्रान्तियाँ इस प्रकार कुल १५ घड़ी की विषुवत्प्रभातोत्तर संक्रान्ति सीमा तथा मध्याह्नोत्तर संक्रान्ति सीमा की १५ घड़ियाँ मिलकर ३० घड़ी का विषुवद्दिवस होता है। ३० घड़ी की रात्रि सीमा भी है। कुल ३०+३०=६० घड़ियों का अहोरात्र होता है।

प्रत्येक संक्रान्ति में ९०० प्राणसंचार होते हैं। १२ दिवससंक्रान्तियों में १०८०० प्राणसंचार और रात्रि में भी १०८०० प्राणसंचार अनिवार्यतः आकलित हैं। कुल २१६०० योग होता है। विषुवत् प्रभात और विषुवत् मध्याह्न संक्रान्तियों में गति क्रम में अन्तर है। प्रभात में प्राणसंचार वाम से दक्षिण स्वरानुयायी होता है और मध्याह्न तथा मध्याह्नोत्तर दक्षिण से वाम स्वरानुयायी होता है।[3] प्रत्येक प्राणसंचार का रात्रिकालीन क्रम भी यही होता है।[4] कुल २४ संक्रान्तियों का यही क्रम अहोरात्र की प्राणसंचार की सीमा निर्धारित करता है। सूर्य की गति के अनुसार दिन और रात्रि में बढ़त घटत होती रहती है। इसकी वजह से संक्रान्तिकाल में भी वृद्धि और क्षय अवश्यम्भावी हैं।[5]

१. तं० ६।२०२-२०३
२. स्व० ७।१६७
३. स्व० ४।१६३
४. तं० ६।२०४
५. तं० ६।२०५-६-७

एवम् एकस्मिन् समानमरुति वर्षद्वयं श्वासप्रश्वासि योगाभावात् । अत्रापि द्वादशाब्दोदयादि पूर्ववत् । उदाने तु द्वादशान्तावधिश्चारः स्पन्दमात्रात्मनः कालस्य । अत्रापि पूर्ववत् विधिः । व्याने तु व्यापकत्वात् अक्रमेऽपि सूक्ष्मोच्छलत्तायोगेन कालोदयः ।

इस प्रकार एक समानवायु में श्वास प्रश्वास के योग के अतिरिक्त दो वर्ष का समय आकलित हो जाता है। इस आकलन में द्वादश अब्दों का उदय पहले की तरह ही करणीय है।[1]

उदान वायु का संचार द्वादशान्त तक होता है। काल स्पन्दात्मक होता है। स्पन्द यदि हृदय से मूर्धातक हो, तो उसे उदान-स्पन्द की संज्ञा प्रदान की जाती है। स्पन्द ही काल का जनक है। इस वायु में संचार में भी संक्रान्तियों की कल्पना की विधि है।

व्यान वायु व्यापक वायु है। व्यापकता के कारण इसमें क्रम का अभाव है किन्तु सूक्ष्म रूप से स्पन्दात्मक उच्छलन होता ही रहता है। उसे कालोदय की संज्ञा दी जा सकती है।

प्राण और उदान वायु के संचार में कुछ विशेषता है। प्राणवायु की संचार व्याप्ति ब्रह्मरन्ध्रवर्त्ती नासिक्य द्वादशान्त पर्यन्त है। उदान की व्याप्ति ऊर्ध्वधामस्थित शक्ति द्वादशान्त पर्यन्त होती है।[2]

व्यान व्यापक वायु है। इसमें कोई क्रम नहीं है। यह विश्वात्मक है। 'व्यापकत्वात् विशेषेण आननात्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसकी व्यान संज्ञा होती है। इसकी सीमा में सूक्ष्मातिसूक्ष्मकाल के उच्छलन की क्रिया होती रहती है पर यह अनुभवगम्य है।[3]

१. तं० ६।१२३-१२८, स्व० ७।१२६
२. तं० ६।२१२-१३
३. तं० ६।२१४

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच प्राण वायु हैं। संवित् पहले प्राण रूप में ही परिणत हुई थी। संवित् प्रकाश रूपा है। प्रकाश शिवरूप है। शिव के पाँच कार्य सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह क्रमशः प्राण आदि काल संवित् के इन रूपों में भी विद्यमान हैं। शून्य से लेकर व्यानोदय तक ६ विश्रान्तियों में आनन्द का समुद्र हिल्लोल करता है।[1]

अथ वर्णोदयः—तत्र अर्धप्रहरे अर्धप्रहरे वर्णोदयो विषुवति समः, वर्णस्य वर्णस्य द्वे शते षोडशाधिके प्राणानाम् बहिः षट्त्रिंशत् चषकाणि इति उदयः । अयम् अयत्नजो वर्णोदयः । यत्नजस्तु मन्त्रोदयः, अरघट्टघटीयन्त्रवाहनवत् एकानुसन्धि बलात् चित्रं मन्त्रोदयं दिवानिशम् अनुसंदधत् मन्त्रदेवतया सह तादात्म्यम् एति ।

आधे आधे पहर में वर्णों का उदय विषुवत् में समानरूप से होता है। वर्ण वर्ण का प्राणचार पृथक् पृथक् है। कुल संख्या २१६ है। आन्तर प्राणीय अर्धप्रहर में प्रतिवर्ष २४ अङ्गुलोदय और बाह्य प्राणीय अर्धप्रहर में ३६ चषक होते हैं। अयत्नज वर्णोदय का यही क्रम है।

यत्नज वर्णोदय मन्त्रोदय का हेतु है। यह अरघट्ट घटी यन्त्र के बाहर के सदृश एकानुसन्धि के बल से विचित्र मन्त्रोदय को रात दिन अनुसन्धान करता हुआ मन्त्र की देवता के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है।

१. तं० आ० ५ पृ० ३८

वर्णोदय का रेखाचित्र इस प्रकार समझा जा सकता है--

वर्णोदय विवरण

प्रायत्निक (यत्नज) — परेच्छाधीन (योगीच्छानिबन्धन)

स्वारसिक (अयत्नज) — १ पर, २ सूक्ष्म, ३ स्थूल

पर — १ तर, २ तम

तर — परतर — ह्रस्व, दीर्घ

३ वर्ण सूर्य + इन्दु (सोम) ३ वर्ण = ६

अ)— इ)— उ)— अंगुल १२ १२ १२ प्रति

इतरत् प्रवेश में अ+अ=(आ) इ+इ=(ई) उ+उ=(ऊ)

में अ+उ | आ+ऊ | में ए पुनः प्रवेश ऐ

षण्णाम् इतरत् प्रवेश — अ+उ | आ+ऊ | में =ओ अकार में पुनः प्रवेश औ

तम — एक नादात्मक वर्ण। इसमें वर्णों का अविभाग है। इसे भैरव सद्भाव या मातृ सद्भाव कहते हैं। यही अनाहत, पर, एकाक्षर वर्ण है, जिसमें चराचर जगत् लीन है।

४ — प्रत्येक का १८ अंगुल (प्राण और अपानवाह की व्याप्ति इ)

विशेष—(सूर्यस्वर) अ के अ में प्रवेश से सोम स्वर आ बनता है, किन्तु इकार के दो और रूप हते हैं। ऋ और ऌ। दोनों में इकार के साथ र, ल की श्रुति का व्यंजनाभास है। ये दोनों वर्ण षण्ठ वर्ण कहलाते हैं। वर्णमाला में यही क्रम स्वीकृत है। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के मूल उत्स यही अ, इ, ऋ, ऌ, उ ये ५ स्वर हैं। यही ५ स्वर वर्णों पदों और मन्त्रों के स्रोत हैं।[१] यथा—

संस्थानानुक्रम—

अ—क, ख, ग, घ, ङ, और विसर्ग इ—च, छ, ज, झ, ञ, य और श ऋ—ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष ऌ—त, थ, द, ध, न, ल और स उ—प, फ, ब, भ, म, : कः प	कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दन्त और ओष्ठ स्थानों से सभी व्यंजन अल्पप्राण और महाप्राण, घोष अघोष विवार संवार नाद रूप विभिन्न बल से उच्चरित होते हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि, जो अकार का उदय स्थान है, वही कवर्ग का भी है। इसी तरह इकारादि चवर्ग आदि के उदय स्थान हैं। यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि, यद्यपि सकार दन्त्य और हकार कण्ठ्य है, फिर भी सकार प्राणात्मक और जीवनरूप है। अतएव हृदय में उदित होता है। हकार प्रकाशात्मक है। अतः सब उसके उदय स्थान हैं। वर्णोदय का यह क्रम परोदय में प्रस्फुटित है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म के प्रवेश में सोलह और निर्गम में १२ वर्णोदय होते हैं। प्रवेश में अपानवाह अवस्था होती है। उसमें आनन्द का प्राधान्य होता है।[२] श्वास निर्गम में षण्ठ वर्ण नहीं होते।

अपानवाह में प्रत्येक वर्ण २½ अंगुल का दिक् प्राप्त करता है। तथा प्राण में ३ अंगुल का दिक् श्वास से प्रभावित होता है। यह प्राण और अपान की क्रिया स्वाभाविक रूप से समस्त श्वासप्रश्वासजीवी प्राणियों में होती है। मानव में वर्णोदय का स्पन्दन षोडशक या द्वादशक वर्ण समुदाय (जो क्रमशः श्वास के प्रवेश और निर्गम में होते हैं) का आश्रय लेकर

१. त० ६।२२ २. तं० ६।७।४

उनका अध्ययन किया गया है। यह सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्णोदय, सूक्ष्म वर्णोदय का दूसरा प्रकार है।

अंगुल की गणना छठें आह्निक के प्रारम्भ से ही चल रही है। स्थान प्रकल्पन में बाह्यविधि ग्राह्य है। यह सिद्धान्त है कि, हृदय से द्वादशान्त तक अपनी अंगुलियों से ३६ अंगुल का प्राणचार होता है। ३६ अंगुल प्राणवाह में विन्दु का और ३६ अंगुल के अपानवाह में नाद संचार होता है।

इतना विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि, दिन और रात के चार-चार पहर के अनुसार अ से ह तक वर्णों के आठ वर्ग कैसे उदित होते हैं। स्वर वर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग अन्तःस्थवर्ग और ऊष्मा वर्ग ये आठ वर्ग प्राणवाही दिन और अपानवाही रात्रि में उदित होते हैं। बाह्य अहोरात्र भी इससे प्रभावित होते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म प्रभाव योगिजनों द्वारा परिलक्षित हो सकते है।

६० घड़ी के अहोरात्र में चार विषुवत् होते हैं। प्रत्येक विषुवत् में समान रूप से वर्गोदय होता है। प्रति ४½ अंगुल का उदय क्रम निश्चित है। प्रत्येक वर्ण के २१६ प्राण स्पन्दन होते हैं। बाह्य उदय में ३६ चषक होते हैं। एक चषक में ६ श्वास चलते हैं। ३६×६=२१६ प्राण स्पन्दन योगियों द्वारा आकलित हैं।[1] वर्णों का वर्ग के क्रम से जितना उदय होता है, वह सभी स्थूल वर्णोदय ही कहलाता है। यही बैखरी वाक् है।

यत्नज वर्णोदय रहट की तरह चलाने पर चलता या होता है।[2] रहट में एक ओर ऊर्ध्वमुख और एक ओर अधोमुख का चक्र चलता है। पानी अपने आप गिरता प्रतीत होता है। उसी तरह यत्नपूर्वक मन्त्र प्रवर्त्तन में एक चक्र चलता है और पर संवित् से ऐकात्म्य स्वतः प्राप्त होता रहता है। यह चक्रोदय परा संवित् के संप्रापण में निमित्त बन जाता है।[3] एक-एक मन्त्र की अनुसन्धि मन्त्रानुसन्धान के सन्दर्भ में देवता से तादात्म्य स्थापित करता है।

तत्र सदोदिते प्राणचारसंख्ययैव उदयसंख्या व्याख्याता, तद्द्विगुणिते तदर्धम् इत्यादि क्रमेण अष्टोत्तरशते चक्रे द्विशत-

१. तं० ६।२४६ २. तं० ७।३ ३. तं० ७।४

उदयः, इतिक्रमेण स्थूलसूक्ष्मे चारस्वरूपे विश्रान्तस्य, प्राणचारे क्षीणे कालग्रासे वृत्ते सम्पूर्णमक्रममेवेदं संवेदनम् चित्रशक्ति-निर्भरं भासते।

इस स्थिति में अर्थात् मन्त्रोदय और मन्त्र देवता के तादात्म्य प्राप्त कर लेने पर प्राणचार की संख्या से ही मन्त्रार्ण के उदय की संख्या यहाँ व्याख्यात है। उसके दूने और उसके आधे के तथा १०८ चक्र में २०० प्राणोदय, इस क्रम से भी स्थूल और सूक्ष्म प्राणचार के उभय स्वरूप निर्मित होते हैं। उनमें विश्रान्त वर्णमात्र कालखण्ड का प्राणचार क्षीण हो जाने तथा कालग्रास सम्पन्न हो जाने पर यह पूर्ण संवेदन चित्रशक्ति निर्भर होकर ही भासित होता है।

वर्णों और मन्त्रों के उदय तथा प्राणचार का प्रकरण पहले स्पष्ट हो चुका है। स्पष्टता के लिए पुनरुक्ति रूप प्राणचार संख्या का पुनः उल्लेख स्थूल और सूक्ष्म चार भेद से तीन प्रकार से विभाजित हो सकता है—
१—तद्द्विगुणित का तात्पर्य ३० घड़ी की १२ दिवस संक्रान्तियों में १०८००+३० घड़ी की १२ रात्रि संक्रान्तियों में १०८००=२१६०० प्राणचार होता है। २—स्पष्ट ही १०८ के चक्र में १००, + १०८ के चक्र में १०० अर्थात् १०८ के चक्र में दो सौ का गुणा करने पर पुनः २१६०० प्राणचार होते हैं। ३—६० घड़ी के ३६० श्वासों के गुणित होने पर भी वही २१६०० प्राणचार एक अहोरात्र में सम्भव है।

प्राणचार क्षीर्ण होने का अर्थ दो प्रकार से लिया जा सकता है— १. समाधि की अवस्था और २. मृत्यु की अवस्था। दोनों अवस्थाओं में काल का ग्रास पूर्ण होता जान पड़ता है। इन दोनों भूमियों में वर्णोदय को स्वारसिक (अयत्नज) स्थिति होती है। उस समय स्वारसिकता की परतम स्थिति होती है। उसको मातृसद्भाव या भैरवसद्भाव स्थिति कहते हैं। यही इसकी चित्रात्मकता है। इसी अनाहत, पर या एकाक्षर, शाश्वत-समुदित वर्ण में चराचर जगत् लीन रहता है। एक अद्भुत संवेदन! साधक की आनन्दभूमि और मृत्यूपरान्त की महाविश्रान्ति का महाभास!

कालभेद एव संवेदन भेदकः, न वेद्यभेदः शिखरस्थज्ञानवत्, ज्ञानस्य यावान् अवस्थितिकालः स एव क्षणः, प्राणोदये च एकस्मिन् एकमेव ज्ञानम्, अवश्यं चैतत्–अन्यथा विकल्पज्ञानम् एकं न किञ्चित् स्यात, क्रमिकशब्दरूषितत्वात्, मात्राया अपि क्रमिकत्वात्। यदाह—तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (पा० १–२–३१) इति—

काल भेद ही संवेदन के भेद का हेतु है, वेद्य भेद नहीं। शिखर पर खड़े व्यक्ति के ज्ञान की तरह। ज्ञान की स्थिति का समय ही क्षण है। प्राण के उदय होने पर एक प्राणोदय में एक ज्ञान हो होता है। यह अनिवार्य सत्य है अन्यथा विकल्प ज्ञान भी एक नहीं होगा। मात्रा में क्रमिकता का प्रभाव भी क्रमिक शब्द से हो सिद्ध है। इसी दृष्टिकोण का समर्थन पाणिनि की अष्टाध्यायी का सूत्र 'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१।२।३२) भी करता है।

वेद्य, वेदक और वेदिता विश्व के यही तीन स्वरूप भेद हैं। वेद्यवस्तु एक ही है। पार्थक्य की भेद की; अनुभूति का कारण काल है। समय के प्रभाव से ही संवेदन की भिन्नता ज्ञात होती है। वेद्य मात्र तो एक ही है। उसमें कोई भेद नहीं होता। उदाहरण से इसे समझें—एक व्यक्ति शिखर की उँचाई पर बैठा हुआ एक बस्ती को देख रहा है। उसे अलग-अलग घर नहीं दीख पड़ेंगे अपितु एक ही स्थान, एक ही नगर दीख पड़ेगा। ज्ञान क्षणिक होता है। जिस समय जिस वस्तु का ज्ञान होता है, वह समय, वह क्षण उस वस्तु के ज्ञान से सम्बन्धित होता है। ज्ञान क्षणिक होता है, इसका अर्थ यह है कि, जब तक ज्ञान अवस्थित रहता है—वह कालखण्ड क्षण है और उतनी देर तक ही ज्ञान रहता है।

वस्तुतः नील, पीत, घट, पट आदि वेद्यमूलक ज्ञान होते हैं और क्षणानन्तर समाप्त होते रहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि, समय ही वेद्यभेद पैदा करता है। यह समय सूक्ष्मक्षणात्मक होता है।

जहाँ तक प्राणोदय का प्रश्न है, उसमें भी एक उदय में एक ही ज्ञान सम्भव है। प्राण सामान्य स्पन्दात्मक होता है। आनन्द के क्रम की कलना

को ही काल कहते हैं। यह काल अखण्ड परमेश्वर की स्वेच्छा से अवभासित काली शक्ति का ही प्रभाव मात्र है।

प्रश्न होता है कि, प्राण के स्पंन्दन में भी त्रुटि आदि का क्रम होता ही है फिर प्राणोदय में एक ही ज्ञान के उदय का क्या तात्पर्य है ? उत्तर स्पष्ट है—विकल्प ज्ञान भी एक ही होता है और क्रमिक होता है। एक ज्ञान का एक विकल्प ज्ञान। इसे क्रम योग कहते हैं।[1] क्रमिकता सदा अपेक्षित है। क्रमिकता काली शक्ति है। सारी मात्रायें क्रमिक रूप से ही हो सकती हैं।

व्याकरण के प्रवर्त्तक भगवान् पाणिनि इसमें प्रमाण हैं। अष्टाध्यायी उनका सूत्रग्रन्थ है। पहले अध्याय के दूसरे पद के ३२ वें सूत्र में उन्होंने मात्रागत स्वरों की चर्चा की है। उनके अनुसार तालु आदि मुखस्थ अवयवों के ऊर्ध्व भाग से उच्चरित होने वाले स्वर उदात्त होते हैं। जैसे 'आ ये मित्रावरुणाः' इस ऋचा में आकार और एकार उदात्त हैं। उन्हीं मुखस्थ अवयवों के अधोभाग से उच्चरित स्वर अनुदात्त होते हैं। जैसे 'अर्वाङ् यज्ञः संक्राम' इस ऋचा में आदि अकार अनुदात्त हैं। जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त दोनों धर्मों का मेल हो, वह स्वरित स्वर होता है। जैसे 'क्व १ वोश्वाः' में क्व ह्रस्व स्वरित और 'वो' का ओकार रूप उदात्त परभाग में है।

विना विस्तार में गये यह स्पष्ट है कि, इस स्वर विधान में भी पूर्वापर विचार है। यही नहीं वरन् संहिता की दशा में भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तथा प्रचय स्वरों का भी क्रमिक विचार है।

इससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि, मात्राओं में निश्चय रूप से क्रमिकता का महत्व है और उसी के आधार पर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय आदि का निर्णय होता है। जैसे 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इस ऋचा में पद पाठ से अग्निम् अन्तोदात्त, ईडे अनुदात्त तथा इसी का संहिता भाग में ई स्वरित होता है।[2] मात्राओं का यह विचार वैदिक वाङ्मय का मुख्य विषय है। इससे काल का ही आकलन होता है।

१. मा० वि० तन्त्र १।४७

२. सिद्धान्त कौमुदी [चौ०] प्रथम भाग पृ० ९।१०

तस्मात् स्पन्दान्तरं यावत् न उदितं, तावत् एकमेव ज्ञानम्। अतएव एकाशीतिपदस्मरणसमये विविधधर्मानुप्रवेश-मुखेन एक एव असौ परमेश्वरविषयो विकल्पः कालग्रासेन अविकल्पात्मा एव सम्पद्यते इति।

इससे जब तक एक स्पन्द के बाद दूसरा स्पन्दन नहीं उदित होता, तब तक एक ही ज्ञान रहता है। इसलिए 'इक्यासी पदों वाली परा मातृका देवी हैं'—इस स्मरण सन्दर्भ में अनेक धर्मों के भीतर एक के अनुप्रवेश के माध्यम से एक ही वह (परमेश्वर विषयक) शुद्ध विद्या रूप विकल्प कालग्रास से अविकल्प रूप ही सम्पन्न होता है।

यह सारा सांसारिक प्रसार एक मात्र स्पन्दन का ही खेल है। एक स्पन्दन हुआ। तदनन्तर द्वितीय, तृतीय और इसी प्रकार क्रमशः अनन्त स्पन्दनों का विराट् उच्छलन यह विश्व। इच्छा, क्रिया और ज्ञान भी स्पन्द के माध्यम से ही महनीय होते हैं। जब तक एक स्पन्द-तब तक एक ही ज्ञान। द्वितीय स्पन्द क्षण में द्वितीय ज्ञान। यही ज्ञान का क्रम-विकल्प सिद्धान्त है।

सिद्धान्ततः परामातृका ८१ चरणों की मानी जाती है।[1] ५×२ ह्रस्व स्वर, ८×२ दीर्घ स्वर, ६ प्लुत स्वर, ३३ कादिमान्त व्यंजन और १६ अन्तःस्थ तथा ऊष्मा = १०+१६+६+३३+१६=८१ इक्यासी अर्धमात्राओं से संवलित मालिनी मातृका देवी एकामर्श में, पारमैश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर परम शिव और विविध धर्मानुप्रवेश में, स्वर-व्यंजन वर्ण समुदाय में, उल्लसित होती है।

शुद्ध विद्या में 'इदमहं' की अनुभूति की वेला में, इदन्ता रूप ५० वर्णात्मिका मातृका लिपिमाला में अहंता रूप परमेश्वर विषयक परामर्श होता है। किन्तु काल का ग्रास जहाँ से प्रारम्भ हुआ, बस सारे परामर्श स्वतन्त्र और अविकल्पात्मक प्रतीत होने लगते हैं। यही कालोदय का प्रभाव है। कालोदय से ही वर्णोदय भी प्रभावित हो जाता है।

१. तं० १।२२७; ६।२२५, ३।१९७/पृ० १९० पं० ८-१४

एवम् अखिलं कालाध्वानं प्राणोदय एव पश्यन्, सृष्टि-संहारांश्च विचित्रान् निःसंख्यान् तत्रैव आकलयन्, आत्मन एव पारमैश्वर्यं प्रत्यभिजानन् मुक्त एव भवतीति।

इस प्रकार सम्पूर्ण काल अध्वा को प्राणोदय में देखता हुआ, असंख्य विस्मयजनक सृष्टि संहारों का भी वहीं आकलन करता हुआ, स्वात्म पारमैश्वर्य का प्रत्यभिज्ञाता साधक अवश्य ही मुक्त हो जाता है।

इस आह्निक के पूर्ण विश्लेषण से यह निश्चय ही सिद्ध है कि, प्राण के एक एक स्पन्दन में असंख्य सृष्टि और प्रलय अन्तर्भूत हैं।[1] प्राण महासृष्टि रूप है। 'प्राक् संविद् प्राणे परिणता' के अनुसार प्राण की प्राणवत्ता संविद् में सम्पन्न होती है। वह संविद् भी चिन्मात्र में बोधित होती है और चिन्मय शिव का स्पन्दन ही कालोदय है। कालोदय की प्रक्रिया में प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान के स्पन्दनों को साधक साक्षात् प्रत्यक्ष करता है।

सृष्टि और संहार के स्वरूप को समझ लेने पर साधक परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का अनुभव कर विस्मय विमुग्ध हो जाता है। उसे यह प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है कि, यह सारी की सारी आश्चर्यचरितावली प्राण की वरेण्यता में व्यवस्थित है।

इसी क्रम में साधक यह भी अनुसन्धान कर लेता है कि, यह सारा विश्वविस्फार मेरे स्वात्म के ऐश्वर्य से ही सम्भूत है। उसे प्रत्यभिज्ञा के बल से आत्मानुभूति हो जाती है। अपनी विश्वरूपता का आकलन कर उस महतोपिमहीयान् भूमिका को आत्मसात् कर लेता है।

तब उसे जीवन्मुक्तता का आनन्द उपलब्ध हो जाता है। आनन्दवाद की उस भूमिका में आत्मा के महामाहेश्वर्य के अतिरिक्त कुछ अनुसन्धेय नहीं रहता। वह मुक्त ही हो जाता है।

संविद्रूपस्यात्मनः प्राणशक्तिं, पश्यन्रूपं तत्रगं चातिकालम्
साकं सृष्टिस्थेमसंहार-चक्रैर्नित्योद्युक्तो भैरवीभावमेति॥
संविद्रूपां प्राणसत्तां निरीक्ष्य कालातीतां स्वात्मतां चानुभूय।
सृष्टौ स्थित्यां सर्वसंहारभेदे, तिष्ठन् साक्षात् भैरवः साधकोऽहम्। स्व०।

१. तं० ६।१७२-१७३

संविद्रूप अपनी प्राणशक्ति का अनुसन्धान अनिवार्यतः करणीय है। हम अकालपुरुष हैं। काल हमको कीलित नहीं कर सकता, यह धारणा का विषय है। सृष्टि, स्थिति और संहार के चक्र में आनन्द लेता हुआ नित्य प्रबुद्ध साधक भैरव रूप ही हो जाता है।

सअल पआस रूउ संवेअण, फन्दतरङ्गकलण तहु पाणुर
पाणब्भन्तरम्मि परिणिट्ठउ सअलउ कालपसरु परिआणु ॥

छाया—सकलप्रकाशरूप संवेदनस्पन्दतरङ्गकलना तस्य प्राणः।
प्राणाभ्यन्तरे परिनिष्ठितं सकलं कालप्रसरं परिज्ञाय ॥

विश्व प्रकाशरूप है। सारा संवेदन, सारी अनुभूतियाँ, प्राण की स्पन्दशक्ति की तरङ्ग हैं। इनका आकलन अनिवार्य है। यही सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है कि, प्राण के भीतर ही सारा काल-प्रसार प्रसरित है।

जह उल्लसइ जह विणिरुज्जइ,
पवन सत्ति तह एहु महेसरु।
सिट्ठिपलअं दसइ ज णिमज्जई,
सो अत्ता णउ चित्तहसाअरु ॥

छाया—यथोल्लसति यथा विनिवर्त्तते, पवनशक्तिस्तथैष महेश्वरः।
सृष्टि-प्रलयं दर्शयित्वा स आत्मा नित्यचित्तत्त्वसागरः ॥

उदाहरण रूप से पवन शक्ति को लें। जैसे वह उल्लसित होता है—पूर्व और पश्चिम, उत्तर और मलय वातास के वातायन से वह निकलता है। उसी प्रकार यह महेश्वर है। यह भी उसी तरह उल्लसित होता है और हवा की तरह ही विनिवृत्त भी प्रतीत होता है।

कभी सृष्टि का सर्जन करता है और कभी वही संहार की लीला भी प्रदर्शित करता है। वास्तव में यह आत्मा चित् सत्ता का शाश्वत सुधा-समुद्र है। इसके आलोडन में शाश्वत आनन्द का उल्लास है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसार के कालाध्व-प्रकाशनं नामक षष्ठ आह्निक का नीर-क्षीर-विवेक भाष्य सम्पूर्ण।

सप्तममाह्निकम्

अथ देशाध्वा

तत्र समस्त एव अयं मूर्त्तिवैचित्र्याभासनशक्तिजो देशाध्वा संविदि विश्रान्तः, तद्द्वारेण शून्ये बुद्धौ प्राणे नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिः शरीरे यावल्लिङ्गस्थण्डिलप्रतिमादौ समस्तोऽध्वा परिनिष्ठितः, तं समस्तमध्वानं देहे विलाप्य, देहं च प्राणे, तं धियि, तां शून्ये, तत्संवेदने निर्भरपरिपूर्णसंवित् संपद्यते।

मूर्त्ति वैचित्र्य के आभासन की शक्ति से उत्पन्न यह समस्त देशाध्वा संविद् में विश्रान्त है। संविद् के द्वारा शून्य में, बुद्धि में, प्राण में, नाडी चक्रानुचक्रों में, बाह्य शरीर अर्थात् लिङ्ग से प्रतिमापर्यन्त बाह्य प्राणस्थान में सभी प्रकार के अध्वा, परिनिष्ठित हैं। उक्त समस्त अध्वा को देह में, देह को प्राण में, प्राण को बुद्धि में, बुद्धि को शून्य में और शून्य को संवेदन में प्रविलापन करने पर निर्भर परिपूर्ण संवित् संपादित होती है।

आणवसमावेश—१. उच्चार, २. करण, ३. ध्यान, ४. वर्ण, और ५. स्थान प्रकल्पन रूप पाँच प्रकार के चिन्तन के द्वारा होता है।[1] इनमें स्थानप्रकल्पन ही देशाध्वा का विषय है। देशाध्वा तीन रूपों में उक्त है। उसका प्रथम स्थान प्राण, द्वितीय देह और तीसरा स्थान बाह्य पदार्थों की स्वात्म मूर्त्ति है। जगत् मूर्त्ति-वैचित्र्य से भरा हुआ है। वेद्य मात्र का आभास, शक्ति पर ही निर्भर है। आभास की शक्ति से प्रत्येक वेद्य में वैचित्र्य आता है। वेद्य मूर्त्तियों का स्थान ही देश है। देश का विस्तार और उसका समझना देशाध्वा है। क्रिया से (काल क्रम) कालाध्वा और मूर्ति से देशाध्वा का पार्थक्य होता है। छःहों प्रकार के अध्वा चिन्मात्र में ही प्रतिष्ठित हैं।[2] देशाध्वा पूर्णतया संविद् में समाहित रहता है।[3]

१. महार्थमञ्जरी का० ५६ पृ० १३९ पंक्ति ४-५ ।।
२. तं० ८।३ ३. तं० ६।२८

संविद् पर-प्रकाश रूप से शुद्ध होती है। स्वातन्त्र्यशक्ति के कारण अपने में अपूर्णत्व के अवभासन की आकांक्षा जब उसमें उदित होती है, तो सारा विश्व रूप मेय उसमें भासित हो उठता है। फलस्वरूप यह देशाध्वा भी उसी में प्रतिफलित होता है। संविद् के द्वारा शून्य, बुद्धि, प्राण और सभी नाडियों, चक्रों-अनुचक्रों से युक्त लिङ्ग, स्थण्डिल, प्रतिमा आदि में अध्वा की अनुभूति साधना का विषय है।

अध्वा का विलय शरीर में करने की विधि गुरु से ज्ञात की जा सकती है। इसी क्रम में देह का विलापन प्राण, प्राण का विलापन बुद्धि और बुद्धि का विलापन शून्य में किया जाता है। स्वात्म विमर्श रूप स्पन्दन का आद्य प्रसर प्राण है। इस रूप में प्रसरित होने पर भी संवित् में किसी प्रकार का रूपान्तर असंभव है। अन्तः का सारतत्त्व बुद्धि है। इससे पहले ही प्राण उल्लसित रहता है। प्राण, स्पन्द, स्फुरत्ता, विश्रान्ति, जीव, हृदय प्रतिभा आदि शब्दों से संज्ञापित होता है। प्राण की २४ शिखायें २४ संक्रान्तियाँ हैं, जो अहोरात्र में होती हैं। ९०० प्राण उल्लास के रन्ध्र हैं। २४×९०० प्राणोल्लास=२१६०० प्राणचार ६० घड़ी में होते हैं।

विश्व में प्रमेय का उल्लास प्रमाता के स्वातन्त्र्य से ही सम्भव है। प्रमेय का सर्वथा अभाव शुद्ध संवित् की अवस्था में होता है। उस समय संवित् का परामर्श होता है—'मैं विश्वोत्तीर्ण हूँ।' इस अवस्था की कल्पनातीत रिक्तता को 'नभ' या 'शून्य' कहते हैं। उसी शून्य में बुद्धि का विलापन होता है। अन्त में साधना की पराभूमि पर रिक्तता का भी विलापन संवित् में हो जाता है। सर्व संवेद्य का सर्वथा संक्षय अर्थात् भावातीत शुद्ध संवित् का सर्वत्रावस्थान परमार्थतः अनुभव गम्य है।

षड्त्रिंशत्तत्त्वस्वरूपज्ञः तदुत्तीर्णां संविदं परमशिवरूपां पश्यन् विश्वमयीमपि संवेदयेत्, अपरथा वेद्यभागमेव कंचित् परत्वेन गृह्णीयात् मायागर्भाधिकारिणं विष्णुब्रह्मादिकं वा, तस्मात् अवश्यं प्रक्रियाज्ञानपरेण भवितव्यम्। तदुक्तं—

न प्रक्रियापरं ज्ञानम्......।' इति

१. तं० आ० ६।१०, ८।७

३६ छत्तीस तत्त्वों के 'स्व'-रूप का ज्ञाता साधक विश्वोत्तीर्ण संविद् को परमशिव के रूप में ही देखता है। संविद् के विश्वमयत्व की अनुभूति उसे सदा रहती है।[1] इसके न होने पर वेद्य के जितने सूक्ष्म अंश हैं—जैसे ब्रह्माविष्णु आदि जो माया गर्भ के ही अधिकारी हैं, उन्हीं को वह परमतत्त्व मान लेता है। इसलिये प्रक्रियाज्ञान परमावश्यक है। कहा भी है—"प्रक्रिया से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है।"[2]

धरादि शिव पर्यन्त ३६ तत्त्व होते हैं। इसके स्वरूप का ज्ञान तत्त्वज्ञ को सदा रहता है। यह अनुभूति-जन्यज्ञान विश्वमयता से सम्बन्धित है। विश्वोत्तीर्णा संविद् की अनुभूति का विशेष महत्त्व है। वह परम शिवरूप होती है। तत्त्वज्ञ योगीश्वर उसका साक्षात्कार करता है। अन्यथा वेद्यवर्ग की रोचिष्णु रश्मियों से शोभित किसी तत्त्व-प्रतिनिधि-रूप संविदंश को ही वह परमतत्त्वरूप से स्वीकार करने के कलङ्कपङ्क में निमग्न हो सकता है। जैसे वैष्णव मायागर्भ के अभिमानी तत्त्व को ही परब्रह्म रूप मानकर मूल तत्त्वज्ञान से वंचित रह जाते हैं। इसलिये प्रक्रिया का ज्ञान परमावश्यक है। प्रक्रियायोग से प्रक्रिया ज्ञान होता है। प्रत्येक तत्त्व का, उसकी क्रमिक उत्पत्ति और विलय का, एक दूसरे में लय करने और पुनः पार्थक्य प्रथन में समर्थ होने की प्रक्रिया का ज्ञान सचमुच परमावश्यक है। इसको न जानने वाला न मुक्त हो सकता है, न मुक्त कर सकता है।[3]

तत्र पृथ्वी तत्त्वं शत कोटिप्रविस्तीर्णं ब्रह्माण्डगोलकरूपम्। तस्य अन्तः कालाग्निर्नरकाः, पातालानि, पृथिवी, स्वर्गो यावद् ब्रह्मलोक इति। ब्रह्माण्डबाह्ये रुद्राणां शतं। न च ब्रह्माण्डानां संख्या विद्यते। ततो धरातत्त्वात् दशगुणं जलतत्त्वम्। तत उत्तरोत्तरं दशगुणम् अहंकारान्तम्। तद्यथा जलं तेजो वायुर्नभः तन्मात्र-पञ्चकाक्षैकादशगर्भोऽहंकारश्च। अहङ्कारात् शतगुणं बुद्धितत्त्वं। ततः सहस्रधा प्रकृतितत्त्वम्। एतावत्प्रकृत्यण्डम्। तच्च ब्रह्माण्डवत् असंख्यम्।

१. स्व० तं० ७।५३, वि० भैरव १५६ २. तं० ८।११ स्व० तं० ११।१९८
३. तं० ६।८५९

पृथिवी तत्त्व शतकोटि प्रविस्तीर्ण है। यह ब्रह्माण्ड गोलकरूप है। इसमें कालाग्निभुवन, नरक, पाताल, पृथिवी और स्वर्ग तक ब्रह्मलोक है। ब्रह्मलोक के बाह्य गोलक में सौ रुद्रों का विस्तार है। वस्तुतः ब्रह्माण्डों की गणना असम्भव है। धरा तत्त्व से दसगुना जलतत्त्व है। जल से उत्तरोत्तर अहंकार तक दसगुणित तत्त्व-विस्तार है। जल, तेज, वायु, आकाश, पाँच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियाँ और अहंकार यही क्रम है। अहंकार से सौ गुना बुद्धितत्त्व है। बुद्धि से हजार गुना प्रकृति है। पृथ्वी तत्त्व से प्रकृति पर्यन्त इस विस्तार को प्रकृत्यण्ड कहते हैं। यह भी ब्रह्माण्ड की तरह असंख्य हैं।

देशाध्वा में प्रकृत्यण्ड के विस्तार का यह एक सामान्य चित्र है। यह अकल्पनीय विस्फार शिवस्वातन्त्र्य का प्रतीक है। अध्वा का यह सारा विस्तार चिन्मात्र में ही सम्प्रतिष्ठित है।[1] पृथिवी तत्त्व विभिन्न रूपों में सौ करोड़ गुणित विस्तार से संवलित[2] है। इसके भीतर पैशाच, राक्षस, यक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म ये ८ आठ लोक आते हैं। कालाग्नि (नरक) पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग यह सब ब्रह्म लोक के अन्तर्गत हैं। स्थूलता की चरम अवस्था ही पृथ्वी है। इसमें दूसरे तत्त्वभी मिले हुए परिलक्षित होते हैं। अतः पृथ्वी अनेक तत्त्वमय मानी जाती है।[3]

ब्रह्मलोक ही ब्रह्माण्ड है। वस्तु के पिण्ड को अण्ड[4] कहते हैं। सूक्ष्म-तत्त्व परमाणुओं की स्थूल अभिव्यक्ति ही वस्तु है। इसके अन्तर्गत अनन्त शरीर, इन्द्रियों के आधार एवं क्षेत्र आते हैं। पिण्ड तत्त्वों का समूह है। इसे गोलक भी कहते हैं। हमारा यह गोलक ही ब्रह्माण्ड है।

ब्रह्माण्ड का धारक शतरुद्र क्षेत्र ही है।[5] सौ करोड़ योजन विस्तार के वृहद् आयाम को शतरुद्र अण्ड कहते हैं। ब्रह्माण्ड गोलक के चतुर्दिक् वृत्ताकार इस क्षेत्र में बडे भाग्यशाली साधकों का प्रवेश होता है।

ब्रह्माण्डों की संख्या भी अनन्त है। एक ब्रह्माण्ड का विस्तार पञ्चमहाभूतों की भव्यता से भरा हुआ है। धरा तत्त्व से दश गुणा जल तत्त्व है।

१. तं० ८।३
२. तं० ८।११८
३. स्व० १०।३५१, ६२१
४. तं० ८।१६८, १६९
५. ८।१५७, १६७-१६८, स्व० १०।६२३ (दश दशक्रमेणैव दशदिक्षु समन्ततः)

धरा का आवरण आकाश है। आकाश में ही धरा, जल, तेज और वायु हैं। इनसे ऊपर पञ्चतन्मात्रायें, एकादश इन्द्रियाँ और अहंकार तत्त्व हैं। धरा से लेकर अहंकार की सीमा में आने वाले ये तत्त्व क्रमशः धरासे दस-दस गुना अधिक हैं।

इसी प्रकार अहंकार से भी दस गुणा बुद्धि तत्त्व है।[1] बुद्धि तत्त्व से हजार गुना अधिक प्रकृति का क्षेत्र है। इसे प्रकृत्यण्ड कहते हैं। जैसे ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है, उसी तरह प्रकृत्यण्ड भी अनन्त हैं। ब्रह्माण्ड की स्थूलता में प्रकृत्यण्ड की सूक्ष्मता का उल्लास अनुभूतिका विषय है। ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड की कोई विभाजक रेखा नहीं हैं। ये परस्पर मिलित और एक दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। शरीर की सीमा में अणोरणीयान् और महतोमहीयान् विस्तार का अवगम साधना के द्वारा किया जा सकता है।

प्रकृतितत्त्वात् पुरुषतत्त्वं च दशसहस्रधा। पुरुषात् नियतिः लक्षधा। नियतेरुत्तरोत्तरं दशलक्षधा कलातत्त्वान्तम्। तद्यथा—नियतिः, रागः, अशुद्धविद्या, कालः, कला चेति। कलातत्त्वात् कोटिधा माया। एतावत् मायाण्डम्।

प्रकृति तत्त्व से पुरुषतत्त्व दसहजारगुना अधिक है। पुरुष तत्त्व से लाखगुना नियति तत्त्व है। नियति से दसलाख गुना बड़ा, राग तत्त्व है। राग से अशुद्ध विद्या, अशुद्ध विद्या से काल और कालतत्त्व से भी कला तत्त्व का दस दस लाख गुना विस्तार है। कला तत्त्व से करोड़ गुना विस्तार माया तत्त्व का है। इस तत्त्व से संवलित इस गोलक को मायाण्ड कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार ३६ तत्त्वों के अन्तर्गत 'प्रकृति'[2] २४ वाँ तत्त्व है। पंच महाभूतों, तन्मात्राओं, इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि के क्रम का उल्लेख किया जा चुका है। उनका क्षेत्र और उनके विस्तार का क्रम भी दिखलाया जा चुका है। प्रस्तुत है–चौबीसवें 'प्रकृति' तत्त्व से 'पुरुष' तत्त्व का विस्तार। आगमिक परम्परा में यह मान्य है कि 'पुरुष' तत्त्व 'प्रकृति

१. तं० ८।२२६, २३५; २५१
२. तं० ८।२५३-२६०: सा. सू० १।६०, सां० का. ११

से दश हजार गुना विस्तृत है। 'पुरुष' २५ वाँ तत्त्व है। इसके बाद ५ पाँच कंचुकों की गणना है। 'पुरुष, से लाख गुना बड़ा विस्तार 'नियति, का है। 'नियति, से दस लाख गुना अधिक विस्तार 'राग, का है। 'राग' से अशुद्ध 'विद्या' अशुद्ध 'विद्या' से 'काल' और 'काल' से 'कला' का विस्तार भी दस दस लाख गुना अधिक माना गया है। कला से करोड़ गुना माया का विस्तार है। इतना मायाण्ड है।

मायातत्त्वात् शुद्धविद्या दशकोटिगुणिता। विद्यातत्त्वात् ईश्वरतत्त्वम् शतकोटिधा। सादाख्यात् वृन्दगुणितं शक्तितत्त्वम् इति शक्त्यण्डम्।

सा शक्तिर्व्याप्य यतो विश्वमध्वानम् अन्तर्बहिरास्ते तस्मात् व्यापिनी। एवमेतानि उत्तरोत्तरम् आवरणतया वर्त्तमानानि तत्त्वानि उत्तरं व्यापकं, पूर्वं व्याप्यम् इति स्थित्या वर्त्तन्ते।

माया तत्त्व से शुद्धविद्या दस कोटिगुणित बड़ी है। शुद्धविद्यातत्त्व से ईश्वर तत्त्व सौ करोड़ गुना बड़ा है।[१] ईश्वर तत्त्व से सदाशिव तत्त्व एक हजार करोड़ गुना बड़ा है। सदाशिवतत्त्व से वृन्द[२] [दस अरब] गुना बड़ा शक्ति तत्त्व है। माया से लेकर शक्ति पर्यन्त विस्तार को शक्त्यण्ड कहते हैं।

यह शक्ति विश्व में व्याप्त है। समस्त अध्वा के अन्दर और बाहर ओत प्रोत है। अतः इसे व्यापिनी कहते हैं। माया का आवरण शुद्धविद्या है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक के दूसरे तत्त्व आवरण [रूप से विद्यमान] हैं। पहला तत्त्व व्याप्य और आगे का तत्त्व व्यापक माना जाता है। यही शक्त्यण्ड की स्थिति है।

एक एक तत्त्व की अण्डाकार स्थिति का आकलन साधक को साधना के स्तर में स्वभावतः होता रहता है। मायाण्ड को आवृत करनेवाले शुद्धविद्या तत्त्व का भी एक व्यापक विस्तार है। यह मायाण्ड से दश करोड़ गुना बड़ा है। इसी प्रकार विद्यातत्त्व से ईश्वर तत्त्व सौ करोड़ गुना बड़ा है। ईश्वर तत्त्व का विस्तार स्वयम् कल्पनातीत है। इससे भी सहस्रकोटि गुणित विस्तार सदाशिव तत्त्व का है।

---

१. तन्त्रसार० ६। पृ. ५६ पं. १२-१५, तं.० ८।१८९

सदाशिव तत्त्व को दस अरब गुना विस्तार से शक्ति तत्त्व व्याप्त करता है। इसी लिये शक्ति तत्त्व को 'व्यापिनी' भी कहते हैं। दिव्य शक्ति सम्पन्न यह व्यापिनी शक्ति सबको [सभी अध्वा को] व्याप्त कर व्यवस्थित है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, मायाण्ड से लेकर शक्ति-तत्त्व पर्यन्त जितनी शक्तियाँ हैं और शक्ति के जितने स्तरीय प्रतिनिधि हैं, सभी उत्तरोत्तर बडे तत्त्वों से आवृत हैं। पृथ्वी से जल, जल से अग्नि, अग्नि से आकाश, आकाश से तन्मात्राओं, इद्रियों और अहंकार की दश दश गुणित व्याप्ति स्वाभाविक है। अहंकार से शतगुणित बुद्धि,बुद्धि से प्रकृति,प्रकृति से पुरुष, पुरुष से नियति, नियति से राग,राग से अशुद्ध विद्या, अशुद्धविद्या से काल,काल से कला और कला से माया उत्तरोत्तर बड़े हैं और क्रमशः अपने आभ्यन्तरिक तत्त्वों को व्याप्त करते हैं।

इसी प्रकार शक्ति तत्त्व सदाशिव को, सदाशिव तत्त्व ईश्वर को, ईश्वर तत्त्व शुद्ध विद्या को व्याप्त कर व्यवस्थित हैं। इन तत्त्वों में पहले के तत्त्व व्याप्य और बाद के अर्थात् उत्तर के तत्त्व व्यापक कहलाते हैं।[१]

यावदशेष शक्तितत्त्वान्तोऽध्वा शिवतत्त्वेन व्याप्तः। शिवतत्त्वं पुनरप्रमेयं सर्वाध्वोत्तीर्णं सर्वाध्वव्यापकं च। एतत्तत्त्वान्तरालवर्तीनि यानि भुवनानि तत्पतय एव अत्र पृथिव्यां स्थिताः इति। तेषु आयतनेषु ये म्रियन्ते, तेषां तत्र-तत्र गतिं ते वितरन्ति।

शक्तितत्त्व पर्यन्त [शास्त्र में मान्य] सभी अध्वा शिवतत्त्व से व्याप्त है। शिवतत्त्व अप्रमेय है।[२] समस्त अध्वा वर्ग से उत्तीर्ण है और सब में व्याप्त भी है।[३] शिवतत्त्व के अन्तराल में जितने भुवन हैं, उनके अधिपति हैं। वे इस पृथिवी पर भी विद्यमान हैं। विभिन्न आयतनों में जो मरते हैं, उनकी विभिन्न गतियों की व्यवस्था वे करते हैं।

अध्वा संकोच के प्रतीक हैं। व्यापकता के महासमुद्र के ये देदीप्यमान द्वीप हैं। सारा संकोचात्मक प्रपंच शक्ति सत्ता से ओत प्रोत है।

---

१. तं० ८।१८६, १८९, २. तं० ८।१९०, स्व० १०।६७३, ३१९· ३. ८।३९८, स्व० १०।१२१४

शक्ति भी या शक्तितत्त्वान्त अध्वा भी-अपने मूल शिवतत्त्व से सर्वतो-भावेन व्याप्त है। शिवतत्त्व परतत्त्व है। वह संवित्स्वातन्त्र्य-सुन्दर परमाद्वैत तत्त्व है और सर्वत्र व्याप्त है। इसके अतिरिक्त सारा पृथ्वी से लेकर शक्ति पर्यन्त प्रपंच व्याप्य माना जाता है।[१]

इसी विशिष्ट स्वातन्त्र्य-चिन्मयत्व-संवलित परम चरम तत्त्व को अप्रमेय शब्द से भी अभिहित किया जाता है। अप्रमेय परम शिव के दो स्वरूप हैं। १—विश्वोत्तीर्ण और २—सर्वाध्वव्यापक। अनन्त शक्ति वैचित्र्य विभूषितलयोदयकलेश्वर परमशिव स्वात्म व्योम में अनर्गल (स्वातन्त्र्य) भाव से व्याप्त है[२]। विश्व वैचित्र्य का उल्लास करता हुआ भी वह इससे उत्तीर्ण है। उसका स्वभाव ही प्रकाश है। वही मूल बिम्ब है। विश्व उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है। यह प्रतिबिम्ब ही अध्वा है[३]। समस्त अध्वा से वह उत्तीर्ण है। अतः विश्वोत्तीर्ण है।

शिव तत्त्व के अन्तराल में ही सारे भुवन हैं। विशेषता यह है कि, समस्त भुवन निवृत्ति आदि कलाओं में स्थित हैं।[४] भुवनों के अधिपति इस पृथिवी पर भी विद्यमान हैं। उनके पृथक् आयतन हैं। इन आयतनों में मरने वालों की गति के व्यवस्थापक ये भुवनाधिपति ही हैं।[६] यही कारण है कि, गति वितरण के अनुसार ही जीव का जन्मान्तर निर्धारित होता है।

इतनी व्याख्या का कारण है। यह सारा भुवन-विभाग, तत्त्वात्म-विस्तार साधक की साधना में बाधक न बन सके वरन् वह सारे प्रपंच को पंचत्त्व (मृत्यु) से ग्रस्त मानकर अमरतत्त्व का (शिवतत्त्व) वरण कर सके—इसी लिये यहाँ विस्तार पूर्वक अण्ड कटाह से लेकर शिवपर्यन्त यह तत्त्वमार्ग प्रदर्शित किया गया है। इसमें क्या हेय है? और क्या उपादेय है—इस विषय में साधक को सदा सावधान रहना चाहिये![७]

क्रमाच्च ऊर्ध्वोर्ध्वं प्रेरयन्ति दीक्षाक्रमेण। तद्यथा—

कालाग्निः कूष्माण्डो नरकेशो हाटकोथ भूतलपः।
ब्रह्मामुनिलोकेशो रुद्रः पञ्चाण्डमध्यगतः।

१. तं० ८।२९२ २. ३।६ ३. सौ० हृदयस्तोत्र ८
४. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ३ ५. त० ८।३७८, स्व० ४।१०३, ८।१५१
६. तं० ८।२८-२९ ७. तं० ८।४३५

अधरेऽनन्तः प्राच्याः कपालि वह्वयन्तनिर्ऋति, बालाख्याः।
लघुर्निधिपतिर्विद्याधिप शम्भूर्ध्वान्ति स वीरभद्रपतिः॥
इति षोडशपुरमेतत् पार्थिवमण्डं निवृत्तिकला।
लकुलीश भारभूतिर्दिण्डयाषाढी च पुष्कर-निमेषौ॥
प्रभास सुरेशाविति सलिले प्रत्यात्मकाष्टकं प्रोक्तम्॥

दीक्षाके क्रम से उनको ऊर्ध्व और ऊर्ध्वगति को प्रेरित करते हैं।[१]
आयतन और आयतन के अधिपति निम्नलिखित हैं—

आयतनः—	अधिपति--

१. नरक--(यम) कूष्माण्ड, कालाग्नि नरक के अधिपति'
२. भूतल—हाटक-प्रबुद्ध-प्रलयाकल प्रतीक देव।
३. मुनिलोक--(स्वर्ग) ब्रह्मा
४. पञ्चाण्ड--(ब्रह्म, प्रकृति, माया, शक्ति और शिव) रुद्र
५. पाताल—अधर-विष्णु-अनन्त-काल
६. प्राच्य—कपाली वह्नि (यम) निर्ऋति और बल
७. निधि—निधिपति (शीघ्र)
८. विद्या—विद्याधिप (विद्येश)
९. ध्वान्त—वीरभद्र[२]

इनमे ११ बाह्य आवरण के अधिपति है और ५पांच आन्तर अधिपति है। यह १६ पुरों वाला ब्रह्माण्ड है। यह निवृत्ति कला से कलनीय होता है। स्वर्ग-नरक-भूतल-पाताल और ध्वान्त ये ५ पुर तो आन्तर हैं। ५ अण्ड ४ प्राच्य १ निधि और १ विद्या ये ११ बाह्य हैं। इस प्रकार यह १६ पुरों वाला है।[३] यह पार्थिवाण्ड है।

कालाग्नि नरक १४० होते हैं।[४] पार्थिवाण्ड २५७ देशात्मक होता है। ये सभी अधिपति अलुप्तविभव माया तत्त्वाधिकारी माने जाते हैं। ये भूतल पर भी अपना अधिकार रखते हैं और विभिन्नस्तरों के अनुसार जीव को गति प्रदान करते हैं। अपने को ही सृष्टि कर्त्ता व अधिकारी मानते हैं। अतः सुप्त प्रबुद्ध हैं।[५]

१. तं० ८।२० -२११ २. तं० ८।१८०, मा. वि. ५।१४
३. तं० ८।४३९ ४. तं० ८।२८ ५. मतङ्ग ८।७३-८०

लकुलीश, भारभूति, दिण्डी, आषाढी, पुष्कर, निमेष, प्रभास और सुरेश ये सलिलाधिपति हैं।[1] प्रति आठ का अष्टक इनका क्षेत्र हैं। अप् तत्त्व के ये आठ अधिकारी हैं। इन्हें गुह्याष्टक भी कहते हैं

प्रमेय प्रपंच की परम्परा का यह जलावरण—विश्लेषण है। यह द्वितीय आयतन है। इस आयतन के आठों अधिकारी अपने अपने स्तर से जीव गति का उपक्रम करते हैं। यह व्याख्यां आगमिक परम्परा से समर्थित है।

भैरवकेदारमहाकाला मध्याम्रजल्पाख्याः।
श्रीशैल हरिश्चन्द्राविति गुह्याष्टकमिदं महसि।

भैरव, केदार, महाकाल, मध्यम, आम्रातकेश्वर, जल्प, श्रीशैल और हरिश्चन्द्र ये आठ गुह्याष्टक तेज के अधिपति हैं।

अग्नि का यह तेजस क्षेत्र शिवाग्नि के अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ नहीं हैं। इसमें वह्नि सम्बन्धी धारणा वाले जीव ही निवास करते हैं। उनकी व्यवस्था करने वाले उक्त आठ अधिपति हैं।

भीमेन्द्राट्टाः सविमल कनखलनाखल कुरुस्थितिगया[2]ख्याः।
अतिगुह्याष्टकमेतन् मरुति सतन्मात्रके साक्षे॥

भीमेश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश्वर, कनखल, नाखल, कुरुक्षेत्र और गय ये आठ अतिगुह्य तत्त्व वायु तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। स्पर्शेन्द्रिय और स्पर्श का अनुभव करने वाली तन्मात्रायें मरुत् के क्षेत्र में आती हैं, [यह प्राण भुवन है, ।]

प्राण-भुवन के तत्त्वों के भी अलग भेद हैं। इसमें योगी धारणा करते है। ऐसे सिद्ध योगी वायुशरीर से आकाश में विचरण कर सकते हैं। उनका शरीर उतनी शक्ति से सन्पन्न हो जाता हैं। स्थूल शरीर निश्चिन्त निश्चेष्ट पड़ा रहता है। प्राण की धारणा के कारण वे वायुभूत हो जाते हैं। आकाशीय मूर्त्ति रूप शरीर से वे अपनी यौगिक प्रक्रिया पूरी करते हैं। उनकी सिद्धि उसी क्षेत्र में सीमित रहती है। स्थूल से सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होने का यह एक यौगिक क्रम है।

१. तं. ८।२०४, मा. वि. ५।१७, स्व. १०।८५४
२. तं० ८।२०८, मा. वि. ५।१९, स्व० १०।८८४

स्थाणुसुवर्णाख्यौ किल भद्रो गोकर्णको महालयकः।
अविमुक्त-रुद्रकोटी वस्त्रापद इत्यदः पवित्रं खे॥

आकाशीय तत्त्व के अधिपति. स्थाणु, सुवर्णाक्ष, गोकर्ण, भद्रकर्ण, महालय, अविमुक्त, शतरुद्र और वस्त्रापद ये आठ हैं।[1] यह गुह्याष्टक भी महत्त्वपूर्ण हैं। ये आकाशाधिपति हैं और अपनी व्यवस्था के अनुसार गति प्रदान करते हैं।

स्थूलस्थूलेशशङ्कुश्रुतिकालांश्चाथ मण्डलभृत्।
माकोटाण्डद्वितयंच्छगलाण्डाष्टकं त्वहङ्कारे॥

स्थूल, स्थूलेश्वर, शङ्कुश्रुति, कालंजर, मांकोट, द्वचण्ड, छगलाण्ड, मण्डलभृत् ये आठ अहङ्काराधिपति हैं। अहङ्कार पर्यन्त सारी तन्मात्रायें और इन्द्रियाँ अपने गुण ग्रहण में सक्षम हैं। ये अहंकृति की स्थान प्रकल्पना के अधिष्ठाता देवता है।[2] द्वचंण्ड को दुरण्ड या दुरदण्ड भी कहते हैं। स्व० १०।८८९

अन्ये त्वहङ्कारान्तास् तन्मात्राणीन्द्रियाणि चेत्याहुः।
धियि देवयोनयोऽष्टौ प्रकृतौ योगाष्टकं किलाकृतप्रभृति।
इति सप्ताष्टकभुवनप्रतिष्ठितिः सलिलतस्तु मूलान्ता॥

पार्थिव—जल—तेज—वायु और आकाश के पाँच अण्ड कटाहों के अन्तराल का और उनके अधिपतियों का वर्णन करने के उपरान्त यहाँ उपसंहारात्मक उपक्रम ग्रथकार कर रहे हैं।

तन्मात्रायें और इन्द्रियाँ तो अहङ्कार तक सीमित हैं। बुद्धि तत्त्व में आठ देवयोनियाँ हैं। पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म ये आठ देवयोनियाँ प्रसिद्ध हैं। ये पुनः पुनः सृष्टि और संहार की लीला को ललित लडियां हैं।[3]

[4]बुद्धितत्त्व के अन्तराल में पार्थिव से अहङ्कार पर्यन्त सभी पुर इन आठ देव योनियों के अमुख्य भुवन हैं। बुद्धि तत्त्व में योगाष्टक[5] की कल्पना भी आगमशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। अकृत, कृत वैभव, ब्राह्म,

१. मा०वि० ५।२०, स्व० १०।८८७, तं० ८।२०८–२०९
२. ता० ८।२२५, मा. वि. ५।२१; स्व० १०।८८९ ३. ता० ८।२२६
४. तं० ८।२५८,–२९५ ५. तं. ८।२३७, २५२, २६३

वैष्णव, कौमार भौम और श्रीकण्ठ[1] ये प्रकृत्यण्ड (मूल) के पुर हैं। नामानुकूल इनके अधिपति भी हैं। ये सभी अपर भुवन हैं। इसी में सात अष्टक वाले भुवन पृथिवी से लेकर मूल प्रकृति तक हैं। इसके अतिरिक्त परभुवन भी है। उसके सर्वाधिपति उमापति श्रीकण्ठ हैं।[2]

नरि वामाद्या रुद्रा एकादश वित्कलानियतिषु स्यात्।
प्रत्येकं भुवनद्वयमथ काले तत्त्रयं निशायां स्युः॥
अष्टावष्टाविंशति भुवना विद्या नराग्निशान्तमियम्।
विद्यायां पञ्च स्युः विद्येशाष्टकमथेश्वरे तत्त्वे॥
सादाख्ये पञ्चकमिति अष्टादश भुवनिका शान्ता।
अध्वानमिमं सकलं देहे प्राणेऽथ धियि महानभसि।
संविदि च परं पश्यन् पूर्णत्वात् भैरवीभवति॥

पुंस्तत्त्व से लेकर माया तक २८ भुवन होते हैं। पुंस्तत्त्व के अधिपति वामदेव अघोरेश आदि रुद्र हैं। विद्या, कला और नियति कंचुकों के परिवेश में प्रत्येक—में दो दो स्थान और उनके—अधिपति हैं। वे क्रमशः—विद्या में क्रोध और चण्ड नामक स्थान और उनके अधिपति हैं। कला में संवर्त्त और ज्योति नामक पुराधिपति हैं। नियति में भी दो ही अधिपति हैं—१—सूर और पञ्चान्त।

पुंस्तत्त्व में—वाम, भीम, उग्र, भवेश, वीर प्रचण्ड, गौरीश, अज, अनन्त, एक और शिव ये ग्यारह स्थान (पुर) और इसी नाम के ११ अधिपति भी हैं। विद्या में क्रोध और चन्द्र, कला में संवर्त्त और ज्योति, नियति में सूर और पञ्चान्त, काल में वीरशिख, ईश, और श्रीकण्ठ नाम पुर और उनके उन्हीं नामों की अधिपति हैं। इस प्रकार माया से निष्पन्न-कंचुक रूप इन[3] क्षेत्रों के २० भुवन आगमिकों द्वारा प्रत्यक्ष किये गये हैं।

स्वयं माया में भी आठ भुवन—१. महातेज, २. वाम, ३. भवोद्भव, ४. एकपिंगल, ५. ईशान, ६. भुवनेश, ७. पुरस्सरक और ८. अंगुष्ठ हैं। इस प्रकार २८ भुवनों का क्षेत्र अशुद्ध विद्या

१. स्व० १०।९८१ २. तं० ८।२४०, २५२।२६७
३. स्व० १०।११०४, तं० ८।४४७

से लेकर माया तक विद्यमान हैं। अशुद्ध अध्वा का यह क्षेत्र अन्य स्थूल ब्रह्माण्डों का आवरक है

इसके ऊपर अर्थात शुद्ध अध्वा के क्षेत्र में विद्या से लेकर शिवपर्यन्त[4] तत्त्व आते हैं। इन पाँचों तत्त्वों के अन्तराल में कुछ अवान्तर तत्त्व भी अपने लालित्य की लीला का प्रसार करते हैं। यह सारा ऊहापोह मेधामहनीय मनीषियों की मनीषा का मधुर मकरन्द ही है।

शुद्ध विद्या तत्त्व में पाँच विद्येश होते हैं। ईश्वर तत्त्व में आठ भुवनेश हैं तथा सदाशिव तत्त्व में पाँच भुवन और भुवनेश हैं[1]। इस प्रकार शान्ता के इन तीन शुद्धविद्या; ईश और सदाशिव तत्त्वों के अन्तराल में अट्ठारह भुवन और भुवनेश हैं। उक्त समस्त अध्वा को देह प्राण बुद्धि और शून्य में विलापन करने की रहस्यात्मक प्रक्रिया है। इन सब को संविद् में समुल्लसित देखना योग मार्ग का उद्देश्य है। उस दशा में व्यक्ति की साधना पूर्ण हो जाती है और साक्षात् भैरवी भाव समुद्भूत हो जाता है। साधक साक्षात् शिव इव हो जाता है।

इस समस्त विश्लेषण का तात्पर्य भैरवी भाव की उपलब्धि है। पहले साधक इसे देह में देखता है। फिर प्राण के परिवेश में अनुभव करता है। फिर आकाश, अथ च, अहंकार, बुद्धि और शून्य में साधना के बल से समझने का अभ्यास करते हैं।

परमेसरसासण सुणिरूढउ सुणि विमअल अद्धधाणउ।
झहुज्झति—सरीरि—पवणि संवेअ णिअपेक्खन्तउ—
पहुरइ परिउण्णु॥

सं० छाया—
परमेश्वर शासन—सुनिरूपित सुविमल—सकलाध्वानम्।
धियि नभसि शरीरे प्राणे संविदि निरीक्ष्य पश्यति परमेशम्॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे देशाध्वप्रकाशनं नाम सप्तममाह्निकम्॥ ७॥

परमेश्वर शास्त्र में सुनिरूपित सुविमल समस्त [अध्वा में पारङ्गत साधक] सकल अध्वामात्र की बुद्धि, शून्य, शरीर और प्राण में तथा संविद् में निरीक्षण कर परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है।

१. तं० ८।४४५—४५१।

शैवदर्शन में जीवन की सार्थकता के सरल सिद्धान्त निरूपित हैं। यह दर्शन समस्त प्रपंचोल्लास को शुद्ध और अशुद्ध अध्वा में विभाजित करता है। अशुद्ध अध्वा में समस्त सांख्य वेदान्त समर्थित २६ तत्त्व आते हैं। साथ ही साथ जिन तत्त्वों के द्वारा इनकी अशुद्धि का सिलसिला शुरू हो जाता है—वे ६ कंचुक भी आते हैं। वे हैं—माया—कला—विद्या—राग—काल और नियति। इन कंचुकों के आवरण को हटाने का उपक्रम जब साधक के मन में होता है—तब उसे शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रवेश मिलता है। शुद्ध विद्या के क्रमशः स्तरों को पारकर साधक स्वरूप के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है।

प्रस्तुत श्लोक उसी का एक दिशा निर्देश है। पहले समस्त अध्वा को शरीर में देखने का अभ्यास आवश्यक है।

इसके बाद प्राण के सन्दर्भ को समझने की आवश्यकता साधक को होती है। प्राण के प्रकरण को प्रक्रिया योग से उपक्रान्त कर बुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। बुद्धि का विस्तार कल्पनातीत है परन्तु साधक अपनी साधना के बल पर उसे जीत लेता है और महाशून्य में प्रवेश पा लेता है। महाशून्य में व्याप्त 'संवित्' तत्त्व का उल्लास उसे पहले ही स्पष्ट हो जाता है।

इतनी साधना साधारण बात नहीं है। संसार में रहते हुए संसार के रूप का परिवर्त्तन कर देना और उसका एक से दूसरे में विलापन करते हुए संविदनुप्रवेश कर लेना जीवन का महान् लक्ष्य है।

यह निश्चित है कि, यदि साधक संविद्विमर्श का परमानन्द सन्दोह प्राप्त कर ले, तो वह स्वयं भैरव (शिव) बन जाता है। परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। स्वयम् परमेश्वर बन जाता है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित तंत्रसार के देशाध्वप्रकाशन नामक
सप्तम आह्निक का नीर-क्षीर-विवेक-भाष्य सम्पूर्ण।

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितस्य तन्त्रसारग्रन्थस्य
डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीर-क्षीर-विवेकभाष्य संव-
लितस्य प्रथमो खण्डः परिपूर्णतामगात्।

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्दार्थविमर्श

अ—अनुत्तर प्रकाश परमशिव का प्रथम परामर्श, मातृका शक्ति का प्रथम उल्लास, सूर्यात्मक बीज, स्वर, परनादगर्भ चित्स्वभाव परमेश्वर के शक्तिकलाप का प्रथम उत्स, अनुत्तर का बीजात्मक प्रतीक, परावाक् का प्रथम स्पन्दन, अर्धमात्रात्मक व्यञ्जनों का आधार, रौद्री, वामा और ज्येष्ठा शक्तियों का मूलाधार, चित्प्राधान्य-बीज, अक्षुभित अवस्था का प्रथम स्वरूप, अकुल बीज।

अज्ञान—बौद्ध-पौरुष बुद्धिगत अज्ञान बौद्ध, पुरुषगत अज्ञान पौरुष, भुवनके अंकुर का कारण, कर्म हेतु, अशुद्ध विकल्प, विकल्प स्वभाव, कभी बौद्ध अज्ञान कार्य तथा कारण पौरुष अज्ञान! पौरुष अज्ञान की निवृत्ति दीक्षा से होती है। कभी बौद्ध अज्ञान कारण और पौरुष अज्ञान कार्य। बौद्ध अज्ञान अनिश्चय रूप होता है। बुद्धि जन्य ज्ञान = चिच्छायाका प्रतिबिम्ब = बौद्ध अज्ञान।

अणु—अनवच्छिन्न निजानन्दविश्रान्त प्रकाशरूप शिव स्वेच्छासे अपनेको संकुचित अवभासित करता है। संकोचकी अवस्थामें वही शिव अणु कहलाता है। पाशबद्ध, पशु, जीव, पुद्गल, क्षेत्रवित्।

अध्यवसाय = अधि + अवसाय = अध्यवसाय। अवसायके शेष, समाप्ति और निश्चयात्मक व्यापार यह तीन अर्थ होते हैं। अधि = आधार = अधिकरण पूर्वक निश्चयात्मक व्यापार। उत्साह। बुद्धिनिष्ठ अध्यवसायात्मक ज्ञान प्रधान होता है। अज्ञान अनध्यवसायात्मक होता है। अज्ञानका अध्यवसाय बन्धका कारण है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय मोक्षका कारण होता है। बुद्धिका लक्षण।

अनामृष्ट—परामर्श रहित (न + आ + मृश् + क्त)

अनुग्रह—स्वात्मतादात्म्यभाव। अपने रूपमें मिलाकर रखनेकी कृपा, शिवके ५ कामोंमें यह सबसे उत्कृष्ट कोटिका ५वाँ काम है। यह काम अणु भी करता है।

अनुत्तर—न+उत्तर। जिसके उत्तरमें कोई अन्य नहीं, वह परमशिव (नास्ति उत्तरं यस्य सः परमशिवः) सर्वत्र व्याप्त, सर्वश्रेष्ठ, शिव-शक्तिका सामरस्यमय परमतत्त्व।.........विसर्ग=सामरस्यात्मक विमर्श। अमृत-कुल। 'अहं'का आदिभाव। पर, उत्कृष्ट स्वात्मपरामर्शकी दशा।

अनुपाय—न उपायः अनुपायः। शैव विज्ञान, जहाँ उपाय अनावश्यक है। उपायोपेय भाव रहित विज्ञान।

अन्तर्विजिज्ञास्य—भीतर ही भीतर अन्तःकरणसे, विशेषरूपसे जानने के योग्य।

अन्य व्यामिश्रत्व—दूसरे का सहयोग। वस्तु है, अन्धकारमें नहीं दीखती। वही प्रकाशिकासे दीख जाती है। वि+आ+मिश्र+त्व।

अभ्यास—विशेष प्रयास। संविद् में आरूढ होने का अध्यवसाय। उत्त-रोत्तर उत्कर्ष हेतु, हठ पूर्वक प्रयास। तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की ओर प्रवृत्ति के कारण क्रियायोग करना। साक्षात् उपाय नहीं हो सकता। द्वैत के निरास और अद्वैत में अधिवास प्रक्रिया का प्रकार।

अम्—क्रियाशक्ति के अन्त में सारा कार्य अनुत्तर में प्रवेश करता है। वह बिन्दु रूप से विद्यमान रहता है। संविद् सार-रूप प्रकाशमात्र विन्दु अनुत्तर 'अ' के साथ मिल कर अम् बनता है। बोज।

अमृत कुल—शरीर, अमाकला, अनुत्तर, हृदय, (अविद्यमानं मृतं यत्र तत्कुलं शरीरं यस्य तत्) भाव-विसर्गमय सामरस्य।

अवच्छिन्न—अलग। टूटा हुआ। हत। कटा हुआ। खण्डित। एक खण्डित धर्म से विशिष्ट। आच्छादित—युक्त। जैसे पृथिवी लक्ष्य है। पृथिवीत्व धर्म से अवच्छिन्न है और जल से पृथिवीत्त्व के कारण अलग

अहम्—(विश्वोत्तीर्ण) 'अ से 'ह' पर्यन्त वर्णमातृका-प्रत्याहार+अविभाग का द्योतक विन्दु=अहम्। शुद्ध अहम् विश्वोत्तीर्ण होता है। यह परम शिवका 'अकुल' स्वरूप माना जाता है। धरा से लेकर शिवान्त तत्त्वों से उत्तीर्ण। अपरिच्छिन्न संवित् रूप परम शिव। स्वात्ममात्र संवित्-परमार्थ सार। शिव-शक्ति, सामरस्य के आनन्द में रहने की चरमोत्कर्ष दशा। 'अ' अनुत्तर कला के साथ 'ह' कला और विश्व का बिन्दु (प्रकाश)

है। न+अवच्छिन्न=अनवच्छिन्न। सतत। अनवरूद्ध। अखण्डित विद्युत् प्रकाश अवच्छिन्न प्रकाश है। परम शिव का प्रकाश अनवच्छिन्न है।

आ—चान्द्र स्वर, अ+अ=आ, आनन्द और आह्लाद तथा अनुत्तर विश्रान्ति का प्रतिनिधि, स्वर मातृका का द्वितीय प्रतीक।

आगम—शास्त्र, गुरु-शिष्य की परम्परा से आने वाले शास्त्र, जिनकी वैदिक, स्मार्त और पौराणिक पद्धति के अतिरिक्त स्वतन्त्र परम्परा है तथा जिसका स्वतन्त्र चिन्तन है और स्वतन्त्र दर्शन है।

आणव विसर्ग—चित्त विश्रान्ति रूप। अणुषु भेदिषु भवः आणवः, भेद प्रधान। अपूर्णता ख्याति के कारण बाहर की ओर उन्मुख। आनन्द से लेकर स्थूल सृष्टि तक सारा परामर्श जो व्यक्त है—विसर्ग है। सारा विसर्ग बराबर रूप होता है। विसर्ग में दो बिन्दु। 'अ' (पर) और २- 'ह' (अपर) अह प्रत्याहार है। विन्दु के साथ यही अशुद्ध अहम् है। आणव विसर्ग स्थूल विसर्ग है। चिति और चेत्य के पार्थक्य की पराकाष्ठा है। कुलेश्वर की कौलिकी शक्ति ही विसर्ग शक्ति है। अभिव्यक्ति ही विसर्ग है।

आनन्द—आ (सोम स्वर) का उल्लास, आनन्द, आह्लाद, (आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना) 'स्वातन्त्र्य' (स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः) महेश्वर के दो रूप—१. चित् और २. आनन्द। 'अ'कार का यामल रूप।

इच्छा—सृजनवृत्ति। एकोऽहं बहुस्याम्। सदाशिव इसी प्रवृत्ति का प्रतीक है। इच्छा की प्रतीक (बीज) ह्रस्व 'इ'। स्वातन्त्र्य के चमत्कार को इच्छाशक्ति कहते हैं। इच्छा शक्ति का प्रतीक द्वितीय परामर्श, सूर्यस्वर, संविद्की इच्छात्मक अनुभूति का उत्स, परमेश्वर की तीन शक्तियों का द्वितीय स्पन्दन,

ई—ईशित्री शक्ति, क्षुभितावस्था, सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) की दशा ऐश्वर्य गत उल्लास, सृष्टि के ऐश्वर्य संस्फुरण से उत्पन्न शक्तियों के बाह्य अवभासन को प्रतीक, विश्वात्मक अदृश्य अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होने वाली शक्ति का ऐश्वर्य बोज, इच्छा की विश्रान्ति।

ईशन—इच्छा में विश्रान्ति। सिसृक्षा की क्षुभितावस्था में अनन्त शक्ति का बहिः अवभासन।

उ—उन्मेष का प्रतीक, सूर्यस्वर, ज्ञान शक्ति के आलोक की प्रथम अनुभूति, आन्तर विजिज्ञासा का प्रथम उल्लास, उन्मेष का आद्य परिस्पन्द।

उच्चार विश्रान्ति—प्राणात्मक उच्चार की वह दशा, जहाँ विमर्श में उसका विलय हो जाता है। वहाँ प्रमेय या वेद्य की पृथग् अनुभूति समाप्त हो जाती है। शान्ति की सुखानुभूति की एक आनन्ददायिनी दशा।

उच्चिचारयिषु—उच्चारण की इच्छा वाला सन्नन्त शब्द।

उन्मिषद्वेद्य—वेद्यवर्ग का प्राथमिक अनुकरण व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग। इस अनुभूति में साधक को सिद्धि की अनुभूति होने लगती है। (उत्+मिष+शतृ+वेद्य)।

उन्मिषितवेद्य—जहाँ पार्थक्य पूरी तरह प्रसरित हो जाता है। यह तीनों लीन रहस्य को गति प्रदान करते हैं तथा अवगम का विषय बनाते हैं। अतः लिङ्ग कहलाते हैं। व्यक्तलिङ्ग। इसी अवस्था से सिद्धि का प्रयास होता है।

उन्मेष—अङ्कुर। परमेश्वर की तीसरी शक्ति। प्रतीक 'उ' पञ्चम बीज का स्वरूप। उन्मेष की प्रथम त्रुटि 'उ' है। आद्य परिस्पन्द। आँख की पलकों का ऊपर उठना, विन्दु से विसर्ग की ओर विकास। वैचारिक उल्लास शक्ति, मनीषा का विमर्श। ज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय रूप का उद्रेक।

उपादेय—ग्रहण करने योग्य, स्वीकार्य—शिव, शक्ति, सद्विद्या ईश्वर, मन्त्र, मन्त्रेश्वर ये छः उपादेय हैं। मा. वि. १.१५ हेयोपादेयविज्ञान मा. वि. १.४० उप+आ+दा+यत् (य)=उपादेय।

उपाधि—प्रकाश की प्रतिबिम्बता, स्वस्वातन्त्र्य शक्ति से उत्पन्न पृथ्वी जल आदि चित्र विचित्र द्रव्यों की स्फुटरूपता। उपाधीयते व्यक्तीक्रियते इत्युपाधिः। पर प्रकाश की दूसरे द्वारा की हुई अभिव्यक्ति। तीक्ष्ण सूर्य का जल में पड़कर दर्शनीय बनना उपाधि का प्रभाव। उपाधेय में रहने वाला गुण।

उपाय—उपाय तीन १—आणव, २—शाक्त, और ३—शाम्भव। जहाँ उपाय अनावश्यक हो जाता है, वह दशा अनुपाय दशा होती है। अणु परिमित वस्तुओं को उपाय मानने लगता है। अन्य की अपेक्षा रखने वाला आणव उपाय।

ऊ—उन्मेष के आनन्त्यके कारण ज्ञेय की ऊनता (अपूर्णता) का प्रतीक, अनन्त की ऊर्मि का प्रतीक, सोम स्वर, क्षुभितात्मक उन्मेष की विश्रान्ति का स्थान।

ऊर्ध्वकुण्डलिनी—सहस्रार, द्वादशान्तों में से एक।

ऊर्मि—उन्मेष में विश्रान्ति। लहर। क्रियाशक्ति का लहराव, ऊनता। ज्ञेय के लहराव में ज्ञान अपूर्ण होने लगता है। कम हो जाता है। इसीलिये ऊर्मियाँ खण्डित होती हैं। तरलता का पृथक् अवभास ही ऊर्मि।

एकाशीतिरूपत्व—अर्द्धमात्रायें कालिका शक्ति हैं। अर्द्धमात्रास्थिता (दुर्गा सप्तशती) क् से म् तक ३३। ह्रस्व १०। दीर्घ ३२। प्लुत ६। एकाशीति पदादेवी ३.१९७ तं. ६.२२५-२२७ शिव के ८१ सूत्रों का उत्स, ६ स्वरात्मक बीज परामर्शों का विकास।

कन्द—आनन्देन्द्रिय (स्वाधिष्ठान)।

कम्प—देहभाव के विलीन होने पर स्वात्मबल की अनुभूति की दशा,

कर्षणी—खींचने वाली। काल का कर्षण करने वाली। विचित्र रचना को शाश्वत रूप से आत्मसात् करने वाली शक्ति।

कलन—गति (गमन), गति (क्षेप), गति (ज्ञान), गति (गणना), गति (प्राप्ति-भोग) गति (शब्दन), गति (स्व में आत्मसात् करना) यह सात अर्थ कलन के हैं। कलन काली शक्ति का व्यापार होता है।

काल—अध्वा की क्रम और अक्रममयी कलना को काल कहते हैं। काल भी परमेश्वर में ही अन्तर्भूत है। काली शक्ति का प्रतीक। क्रमाक्रम विभासमान, काल रूप देवात्मा। वर्ष, मास, पक्ष, घड़ी, पल, विपल, चषक और तुटि रूप प्राण की कलना।

कालाध्वा—क्रिया शक्ति में पहले ही विद्यमान काल का मार्ग। वर्ण, मन्त्र और पद की स्थिति कालाध्वा में होती है।

काली—परमेश्वर में कालरूप से अन्तर्भासित शक्ति, कलन के सामर्थ्य से सम्पन्न महाशक्ति। कल धातु के अर्थ को वहन करने वाली शक्ति। कालक्रम का अवभास कराने वाली शक्ति। परामर्श, उत्पत्ति, विसर्ग और

संहार की शक्ति। काली की दशा में शक्तियाँ—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, काल विकरणी, विकारिका, मथनी और दमनी।

कालोदय—प्राण और हृदय से मूलाधार तक होने वाले स्पन्दन को कालोदय कहते हैं। समान में कालोदय ७ प्रकार का होता है।

कुलेश्वर—अनुत्तर कुल=स्वर व्यञ्जन संहति। कुल विश्व। कुल-वाग्विसर्ग+ईश्वर=कुलेश्वर। बीजयोन्यात्मक विश्वविस्फार।

क्रिया—सर्वाकार योगित्व। शक्ति। जैसे 'अ' से आकार, कवर्ग और ह उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार अनुत्तर से समस्त वाङ्मयरूप परिस्फुरण। उसी प्रकार प्रकाश से विश्व-रूप के उल्लास की प्रक्रिया।

क्षकार—योनि संयोग से उत्पन्न। क्+ष्=क्ष्। चक्रेश्वर। क से लेकर स तक के व्यञ्जनों का प्रत्याहार। कूटबीज। क्षान्तसृष्टि।

गणितविधि—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, लक्ष, नियुत, कोटि अर्बुद, वृन्द, खर्व, निखर्व, पद्म, शङ्कु, समुद्र, अन्त्य, मध्य और परार्ध क्रमशः १०-१० गुना, अठारह बार। संसार की सारी गणित की विधियों में सर्वप्रथम भारत में आविष्कृत।

गलिताशेषवेद्य—गलित=समाप्त। अशेष=सम्पूर्ण। वेद्य=जगत् के सभी पदार्थों का पार्थक्य। जहाँ पृथकता की अनुभूति समाप्त हो जाती है। उच्चार विश्रान्ति का स्पन्दन, अव्यक्त लिङ्ग।

गहनेश—महेश के उस प्रतीक का नाम जिसका एक दिन कंचुकस्थ रुद्रों की आयु के बराबर होता है।

गुरु—गृणाति=बतलाता है विश्वव्यवहार को जो, वह गुरु,

गुरुरुपायः—गुरु ही उपाय है।

घूर्णि—आत्मा में अनात्मभाव के विलय के बाद की दशा, सर्वात्मकता की सत्ता को संविद् कहते हैं। उस अवस्था में पहुँच कर साधक की सत्ता घूर्णन करती है। जैसे संगम में लहरिकायें आवर्त बन जाती हैं। महाव्याप्ति की उदयावस्था।

चण्डी—प्रचण्ड विक्रमवाली शक्ति। पराशक्ति। चामुण्डा। दुर्गा श्री महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का एकीकृत रूप।

चिदानन्द—चित् की चिन्मय भूमि का आनन्द।

चित्स्वभाव—परमेश्वर। बोध में विमर्श वृत्ति है। स्वात्म विमर्श ही चित्त का स्वभाव है। स्वयं प्रकाशमान। किसी अन्य से अप्रकाश्य।

चषक—श्वास क्रम का ५। अंगुल का समय।

चित्—सन् इत्यत्र या सत्ता—उक्ता सैव चित्। सत्तैव सा प्रोक्ता। परम शिव का प्रकाश। कर्तृतामय विमर्श, प्रकाशरूपा, संवित्। सन्—अस्+शतृ=क्रिया+कर्त्ता=भावना+भावक। भवन क्रिया और भवनक्रिया की सत्ता, कर्तृत्व प्रकाश का विमर्श चित् शक्ति है।

चिदानन्द-चित् की चिन्मय भूमि का आनन्द। चित्स्वभाव परमेश्वर। बोध में विमर्श वृत्ति है। स्वात्म विमर्श ही चित् का स्वभाव है। स्वयं प्रकाशमान। किसी अन्य से अप्रकाश्य।

चिन्मात्र—तत्त्व=चिन्मय तत्त्व। समस्त उल्लास ही चिन्मात्र है। यह काल से अकलित है। देश से अपरिच्छिन्न है। समस्त भेदवाद को एकतत्त्व की सीमा में विश्राम देने वाला तत्त्व।

जगदानन्द—छः आनन्द भूमियों के अनुसन्धान से ऊपर का आनन्द।

जप—जननपालन स्वभाव जप। सृष्टि और पालन कर्त्ता। वर्णोच्चारण। यमेवोच्चारयेद् वर्णं स जपः परिकीर्तितः 'कथा जपः' (शिवसूत्र) का च वाक् नोच्यते यया? तव च का किल न स्तुतिरम्बिके? स्तोत्राणि सर्वागिरः, तत्त्व का अन्तः परामर्शन ही जप है। स्वात्म संवित् में परमेश्वर का परामर्श,

जीवन्मुक्तता—जीवन्मुक्ति। शाम्भव समावेश, सतत उदित रहने वाली स्वात्मसंवित् के परामर्श की दशा। परमानन्द-चिदानन्द की उपलब्धि हो जाने पर चेत्यों में भी चिदैकात्म्य प्रतीति की दृढ़ता। निर्विकल्प का प्रकाशन। स्वात्मविमर्श से 'स्व' रूप का उन्मीलन। क्रम कुल और त्रिकदर्शनों के अनुसार शक्तिपात के बाद की सामरस्य दशा।

ज्ञप्ति—सूचना। वस्तु की ज्ञप्ति होती है। ज्ञानोपाय से अणु को आत्मा की ज्ञप्ति होती है। ज्ञप्+क्ति =ज्ञप्+ति=ज्ञप्ति।

ज्ञा—ज्ञानं मोक्षैककारणम् (मोक्ष का एक मात्र कारण) बन्ध के हेतु अज्ञान का प्रतिबन्धक, पूर्णता का बोध, विमर्शात्मक महाभाव का

उल्लास, वस्तुतः ज्ञान मोक्ष में कार्य कारण भाव नहीं है पर अज्ञान विरोधी होने से मोक्षकी कारणता ज्ञान में आ जाती है।

तर्क एवं योगाङ्गम्—तर्क योग का अंग है। हेय और उपादेय का ज्ञापक। स्वरूप विमर्श का साधक।

तालु—स्वर चक्र (विशुद्ध) और सहस्रार के मध्य का क्षेत्र 'इचुयशानां तालु' में पाणिनि ने तालु शब्द का सीमित अर्थ किया है। योगी तालु मूल में जीभ का अनुप्रवेश कर अमृतपान करता है।

तिरोधान—संस्कार रूप से बचे हुए भावों का भी विलीन कर देना तिरोधान कहलाता है। शिव के कृत्यों का यह चौथा कृत्य है।

तुर्यातीतान्त—तुर्य (चतुर्थ)+अतीत (ऊपर) चतुर्थ से परे की दशा। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के बाद चौथी स्थिति में मन क्षीण हो जाता है। तुर्यातीत में शक्ति में लीन हो जाता है। यह ५ अवस्थायें हैं। जाग्रदादि-तुर्यातीतान्त अर्थात् जाग्रत् से शुरूकर तुर्यातीत तक की ये ५ अवस्थायेंहैं।

त्रिकोण—मूलाधार चक्र, स्वयंभूलिङ्ग—V—डाकिनी शक्ति
'लं'बीज,

त्रीशिका—पर, अपर और परापर तथा भेद, अभेद और भेदाभेद रूप त्रिक की ईशिका अर्थात् ईश्वर, त्रिलोक स्वामी, इच्छा, क्रिया और ज्ञान की अधीश्वरी चिति।

दन्तोदक—दन्त+उदक = दन्तोदक। दूसरे लोग इमली या अँचार आदि खाते हों, तो उसे देखकर या उसका अनुसन्धान करने पर मुख में रसेन्द्रिय के अधिष्ठान दाँतों के मूल से मुख में पानी भर आता है। वही दन्तोदक है। रस उस दन्तोदक में प्रतिबिम्बित होता है। आकाश में शब्द प्रतिबिम्बित होता है। उसी प्रकार रसनेन्द्रिय के निर्मल रस के गुण से युक्त अधिष्ठान में रस प्रतिबिम्बित होता है। दन्तोदक में रस स्फुट हो जाता है।

दीक्षा—शाङ्करी दीक्षा से मोक्ष। हेयोपादेय निश्चय पूर्वक, तत्वशुद्धि पूर्वक शिवयोजना। एक संस्कार (मरण समय की दीक्षा अन्त्यसंस्कार रूपा) पुत्रक दीक्षा शिष्य दीक्षा, प्रत्यक्ष दीक्षा, परोक्ष दीक्षा, समस्तपाश वियोजिका दीक्षा, दीक्षक=आध्यात्मिक गुरु। दीक्ष्य शिष्य। योग दीक्षा।

दृक्—ज्ञान, परमशिव की दो शक्तियाँ। १—दृक्, २—क्रिया।

देशाध्वा—तत्व, पुर, कला इन तीनों से युक्त देश का कलन।

द्वादश—स्वर। मन+बुद्धि+१० इन्द्रियाँ। 'अ' और 'अः' स्वरों के द्वादशान्त हैं।

द्वादशान्त—प्राण के निर्गम और प्रवेश के दोनों ओर का उत्स विन्दु।

द्वैतापासन—देह, प्राण और बुद्धि का अनुसन्धान और चिन्तन करने पर 'स्व' की ओर इन तीनों की वास्तविकता का पता चलता है। विकल्पों का संस्कार होने लगता है। अभ्यास के द्वारा द्वैतभाव के हट जाने पर अद्वैत की स्थिति प्राप्त हो जाती है। (द्वैत+अपासन=हटाना)

धारणा—चित्त को एक देश में बाँधकर लगा देना। शुभाश्रय में चित्त का स्थापन।

ध्यान—१—'ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया, न तु ध्यानं शरीरादिमुखहस्तादि कल्पनम्'। निराकार निश्चल निराश्रय चिन्तन की स्थिति ही ध्यान है। मुख आदि वस्तुओं की मानसिक कल्पना नहीं। २—आणव समावेश का तीसरा उपाय, चित्तवृत्ति का ऊर्ध्व की ओर विशिष्ट भाव में समायोजन। ३—निष्कल रूप के उत्कर्ष का आकलन। ४—स्थूल स्थूल को हटाते हुये सूक्ष्म से सूक्ष्म में प्रवेश कर आत्म विमर्श रूप अमृत की सिद्धि। ५—मनोलय। ६—चिन्मयत्व में समावेश। ७—तत्तत्प्रत्यय—प्रवाहो ध्यानम्। उन-उन विशेष प्रतीतियों का आकलन। ७—धारणा में प्रत्यय की एकतानता।

नान्तरीयकता—अन्तर का भाव अन्तरीयक। न+अन्तरीयक=नान्त-रीयक, निरपेक्ष। अन्तरीयस्य भावः आन्तरीयकः। न+अन्तरं=नान्तरम् (अविनाभाव) तत्रभवम् नान्तरीयम् तदेव नान्तरीयकम्। नान्तरीयकस्य भावः नान्तरीयकता (व्याप्ति)।

निजानन्द—प्राण, हृदय, मातृपद, शून्य में विश्रान्ति का आनन्द। संविद् की सामान्य भूमि से पृथक् द्वैत की सृष्टि में आनन्द का उल्लास प्राण को पुलकित करता है। इसमें विस्मय जनक अनुभूति होती है।

नित्योदित—आत्मचेतना की दो स्थिति। १—शान्तोदित और २—नित्योदित। नित्य+उदित। शान्तोदित में आत्मचेतना का तिरोभाव सम्भव है पर नित्योदित अवस्था में आत्मचेतना शाश्वत होती है।

निद्रा—बहिर्मुखता का विलय। अन्तर्मुखता की शान्ति। सुषुप्ति की नींद से इस नींद में अन्तर है। यह ध्यानावस्था की आनन्द भूमि है।

निरानन्द—प्रथम स्तर की बाह्य विश्रान्ति की अवस्था। प्राण का बहिरौन्मुख्य व्यापार। स्थूल प्रमाता का आनन्द।

परनादगर्भ—नाद=शब्द। स्व से अभिन्न विश्व का परामर्श ही परनाद=परावाक्। विश्वात्मक परामर्श के गर्भ में परावाक् शाश्वत रूप से विद्यमान है। परावाक् को 'स्व'अन्तः में स्थित करने वाली शक्ति।

पर भैरव—समस्त विश्व की रसात्मक अनुभूतियों के द्वारा स्वात्म-परमात्म का संयोजन करने वाला साधक।

परानन्द—प्रमेय का आनन्द।

परामर्श—विमर्श। अ—आ, इ—ई, उ—ऊ ये छः परामर्श सृष्टि के बीज हैं। परामर्श क्रम से जीवन्मुक्ति। सविकल्प+निर्विकल्प दो पदार्थ पूर्णाहन्ता परामर्श। सततोदित स्वात्म संवित् की सृष्टि। कलधात्वर्थ, निर्विभाग परामर्श।

पराशक्ति, परापराशक्ति, अपराशक्ति—सर्व में 'स्व' और 'स्व' में 'सर्व' भाव से विमर्शन, दर्शन और अवभासन करनेवाली शक्ति-पराशक्ति, २—भेद और अभेदमयी जैसे दर्पण में रूप दिखाने वाली शक्ति। ३—सारा प्रपञ्च जो अलग-अलग दीख पड़ता है, उसे दिखलानेवाली शक्ति। इन्हीं तीन शक्तियों के कारण प्रत्यभिज्ञादर्शन को षडर्धदर्शन या त्रिक दर्शन कहते हैं। १—इच्छा, २—ज्ञानशक्ति और ३—क्रियाशक्ति।

पश्यन्ती—परमदृष्टि। वाच्य वाचक की अभिन्न अवस्था। अभेद आकलन जिज्ञासा। विशेषता से रहित प्रकृत का परामर्शात्मक पर्यवेक्षण। वाक्शक्ति का दर्शन की ओर प्रसरण। स्वर व्यंजन रहित परामर्श। सद्योजात शिशु के हास्य की मौलिक शक्ति।

पुरुष—पुरे वसति इति पुरुषः। पुरम् ओषति दहति इति पुरुष। १—बुद्धि-प्राण और देह यह पुर है। इसमें रहने वाला। इस शरीर को जलाकर नष्ट करने वाला अग्नि या शिव।

पूजा—'स्व' स्वरूप परामर्श=पूजा। 'स्व' रूप का परामर्श अपना पर्यालोचन ही पूजा है। अपने रूप में परम शिव का विमर्श।

पूजा च स्वात्मभावेन चिद्भूमिविश्रान्तिः। अपने 'स्व' को जानकर चित्त में प्रतिष्ठा, लयपूर्वक परम निरावरण रूप में दृढ़ परामर्श।

> पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।
> निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः।

पूर्णता संवित्—पूर्णता की शक्ति। परमेश्वर पूर्ण है। उसकी सत्ता ही पूर्णता है। इससे पूरी तरह समन्वित शक्ति ही संवित् है। बीज में वृक्ष की पूर्णता संवित् भरी हुई है। जगत् में भी वह शक्ति भरी हुई है।

प्रकाश—परमशिव। प्रकाश की प्रकाशमानता का विमर्श। 'स्व' का उल्लास, स्वात्मा का नित्योदित निरुपाय उल्लास। एक एव प्रकाशः। स एव च संवित्। स्वतंत्र, व्यापक, नित्य, सर्वाकार निराकार स्वभाववान्।

प्रति संचरण—प्रतीप संचरण। अनुत्तर इच्छा की ओर गया तो अ+इ='ए' हो गया। यह उल्टा प्रसार है। अ+उ='ओ' हो गया। अ+ए=ऐ तथा अ+ओ=औ। यह अनुत्तर का त्रिकोण से और अनुत्तर उन्मेष से प्रतीप प्रसरण द्वारा ही सम्पन्न हो पाता है।

प्रतिश्रुत्का—प्रतिध्वनि। आकाश में प्रतिश्रुत्का ध्वनि रूप ही होती है।

प्रत्याहार—१-अन्तः प्ररूढ़ प्रवृत्ति। २—चित्त 'स्व'रूप दशा में चित्त का प्रत्याहृत करना। ३—आदि और अन्त अक्षरों के बीच में आनेवाले अक्षरों के साथ इन दोनों को भी ग्रहण करने की व्याकरण और दर्शन की विधि जैसे व्याकरण में अच्=स्वर और दर्शन में अह=स्वर व्यंजन समुदाय को बताने वाला संकेत। ४—करण भूमि को अतिशय युक्त करने की दशा।

प्रभुशक्ति—प्राण के प्रेरक तत्त्वों में प्रथम।

प्रमाण—वह्नि (अग्नि)। प्रमाण—सूर्य। प्रमेय—सोम।

प्रसरण—फैलाव। अनुत्तर सर्वप्रथम आनन्द फिर इच्छा और फिर ज्ञान और पुनः क्रिया शक्तियों में प्रसरित होता है। अनुत्तर का स्वात्म-परामर्श अ। आनन्द का परामर्श आ। इच्छा का परामर्श इकार, ईशितृ का परामर्श ईकार। उन्मेष का परामर्श उकार और ऊनता का ऊकार। विश्वोत्तीर्णता से विश्वमयता की ओर प्रसार।

प्रागानन्द—पूर्णतांश का प्रथम आनन्द।

प्राण—दो भेद। १—स्थूल और २—सूक्ष्म। स्थूल प्राण उच्चारणात्मक होता है। उच्चारण पाँच प्राणों पर आधारित होता है। सूक्ष्म प्राण वर्णात्मक होता है। प्राण के आयाम।

बाह्यविधि—आणव समावेश। १—उच्चार, २—करण, ३—ध्यान, ४—वर्ण और ५—स्थान प्रकल्पन ये ५ भेद होते हैं। पाचवाँ समावेश।

बिम्ब प्रतिबिम्बभाव—भेद से भासित, दूसरे के व्यामिश्रण से भासित प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण में मुख। दाँतों को दबाकर अगले भाग से वायु को भीतर खींचकर पीये गये जल का स्पर्श। जिसका प्रतिबिम्ब होता है-वही बिम्ब है। परमेश्वर शास्त्र में बिना बिम्ब भी उत्पन्न मान्य।

बैखरी—बिखर=शरीर। विखरात् जायते। स्थान और प्रयत्न से जीभ आदि मुख के अंगों से सार्थक स्वर व्यञ्जन संहति का शब्दानुसंधान और अर्थानुसंधान। विचार विनिमय की माध्यम वाक् शक्ति।

बीज—स्वर और व्यंजन के अविभाग प्रकाश (बिन्दु) के सम्पर्क से उत्पन्न शक्तियों के वर्णात्मक केन्द्र, परनाद गर्भ रहस्यात्मक उल्लास का प्रतीक।

बोधगगन—ज्ञान का आकाश। चिदाकाश। सारा भाव समूह इसमें ही प्रतिबिम्बित, बोध और स्मृति अणु में होती है। शिव तो बोधमय ही है।

ब्रह्मानन्द—प्रमाण और प्रमेयांशों से उत्पन्न आनन्द की उपबृंहित (उफनती बढ़ती) अवस्था।

भाव विसर्ग—विश्व की उत्पत्ति, उल्लिलसिषा का स्थूल रूप। आणव, शाक्त और शाम्भव भेदत्रय संयुक्त विसर्ग।

भैरव—१—भी+रव। भी=संसार का भय। रव=शब्द। संसार के भय से उत्पन्न शब्द तथा शब्द करने वाले प्राणी का संरक्षक शिव।

२—भय से आक्रन्दन ध्वनि करने वाले भावों के स्वामी।

३—भ (नक्षत्र लोक के मुख्य सूर्य चन्द्र (नाड़ी) को इरयति-प्रेरित करने वाला भेर=काल। भेरों को भी (वाययति) शोषित करने वाला भैरव। ४—भरण का 'भ' रमण का 'र' और वसन का 'व' इन तीन सांकेतिक प्रतीकों का देव विज्ञान रूप शिव।

भैरवाग्नि—१२ चक्रों वाली। बुद्धि, मन और १० इन्द्रियों का चक्र। सूर्यसोम अग्नि के सामरस्य का तेज।

भैरव समावेश—जीवन्मुक्ति। चिन्मयता की उपलब्धि, संसारः त्रासः भयं भीः। भिया जनित रवः भैरवः। निर्विकल्प अवस्था में भैरव समावेश में प्रवेश। अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि।

मध्यमा—स्वर व्यंजन की पार्थक्य प्रथा से विशिष्ट वाक् शक्ति। स्फुटता और अस्फुटता के विकास की दशा। सरगम की दशा। वैचारिक वाग्विसर्ग। विवादयिषा। विवक्षा। विचार।

महानन्द—प्राण अपान के आनन्दों से बढकर होनेवाला सुषुम्ना की स्थिति का आनन्द।

महाप्रलय—ईश्वर की आयु×परार्ध=१ सदाशिव दिन। इतनी ही बड़ी रात। यही रात महाप्रलय कहलाती है।

मोक्ष—बन्ध से मुक्ति। शैवदर्शन में वस्तुतः बन्धन ही नहीं मान्य है। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्ष भी किसका? यह बन्ध मोक्ष की बात विकल्पों का विभ्रम है।

वस्तुस्थित्यां न बन्धोऽस्ति, तदभावान्न मुक्तता।
विकल्प-घटितावेतौ उभावपि न किंचन॥

अपने 'स्व' रूप का साक्षात्कार। अपूर्णताख्याति के बाद पूर्णताख्याति की उपलब्धि। परमशिवीभाव।

यत्न—प्रेरणा का प्रेरक तृतीय तत्त्व

यामल—यम, यमल, यामल, शिव शक्ति समावेश मय विमर्श, माता-पिता से उत्पन्न पुत्र भाव। सामरस्यरूप ऐक्य।

योगिनी हृदय—योगिनो=शक्ति। हृदय-प्रतिष्ठास्थान। शक्ति की प्रतिष्ठा का स्थान। अव्यक्त लिङ्ग।

योनि—व्यञ्जन, अनुत्तर से क वर्ग। श्रद्धारूप इच्छा से च वर्ग। सकर्मिका इच्छा से त वर्ग+ट वर्ग। उन्मेष से प वर्ग। पाँच शक्तियों के

योग से ५-५ वर्ग। इच्छा से अन्तःस्थ और ऊष्मा। उन्मेष से 'व' और विसर्ग से 'ह'।

र श्रुति—इच्छा में इष्यमाण कर्म के अनुप्रवेश के कारण प्रकाश प्राधान्य में ऋ+अ='र' की श्रुति (श्रवण) होती है। अग्नि बीज। अस्फुट होने के कारण वर्ण न कह कर श्रुति कहते हैं। व्यंजनवत् स्थिति नहीं

ल श्रुति—ईशन में इष्यमण कर्म के अनुप्रवेश से ऌ+अ=ल श्रुति। धरा बीज

वर्ण रहस्य—स्वर और व्यंजन के पार्थक्य का अनुसन्धान, सभी वर्णों का 'अ' में अनुप्रवेश हो जाता है। प्राण, संवित् और वाक् तीनों में विमर्श का सामरस्य उल्लसित है। आणव समावेश का ४था अंश जो मध्यमा तक विभक्त रहता है।

वर्णोदय—रेखाचित्र पृ० २२४ श्वास के क्रम में प्रहर के आधे-आधे भाग में विषुवत् में होता है। इनका प्राणचार अलग-अलग होता है। यह यत्नज और अयत्नज दो प्रकार का होता है।

वाणी—परावाक्। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ४ भेद

विकल्प—प्रतियोगी के अवभास से उत्पन्न असत्परामर्श (ई० प्र० वि० पृ० २४७) वि+कल्प। वि=विविध, विशिष्ट। कल्प=कल्पना, विषय, विचार। अर्थात् मन की ऊहात्मकता के कारण विचारों, विषयों अथवा कल्पनाओं का पृथक्-पृथक् कृत भावप्रपंच, 'स्वस्थिति प्रतिबन्धक', संस्कृत होनेपर निर्विकल्प। 'शाक्त ज्ञान का आविर्भावक।

विकासोन्मुख विकसत् विकसित—१. विकासोन्मुख—विकास की ओर प्रवृत्त। २. 'विकसत्' से शतृ प्रत्यय वर्त्तमान क्रम-अर्थ में प्रयुक्त है। जो विकसित हो रहा है। ३. विकास हो जाने पर साधक विकसित हो जाता है। विकसित अवस्था।

विघ्न—विघ्नन्ति विलुम्पन्ति कर्त्तव्यम्। कर्त्तव्य का लोप करनेवाले आध्यात्मिक लापरवाही रूपी दोष।

विसर्ग—भगवत्-शक्ति। विश्वोत्पत्ति का कारण। दो बिन्दु अर्थात् द्वैत प्राधान्य दशा।

व्रत—अनुष्ठान, नियम, पुण्य का कर्म। उपवास आदि नियमित काम। शैव महाभाव का रस जिसे मिल चुका है, उसे व्रत आदि चर्या जहर की तरह लगती है। सर्वत्र परमेश्वर का अवलोकन करना ही व्रत है। 'सर्वं साम्यं परं व्रतम्।' स्थूल सूक्ष्म सभी पदार्थों में दृढ़ साम्यानुभूति।

शक्तिपात—शक्ति का पात। साधक (उपासक) या शिष्य के ऊपर शक्तिमान् शिव द्वारा या गुरु द्वारा शक्ति का पात। अनुग्रह। शिव में भक्ति के कारण साधक पर शक्ति स्वतः चू पड़ती है। शक्ति का पातयिता शिव। नव प्रकार। तीव्र, मध्य और मन्द प्रत्येक के उत्कर्ष, माध्यस्थ्य और निकर्ष भेद से। प्रवृत्तिनिमित्त ज्ञानके उदय होने पर शक्तिपात होता है। शक्तिपात का पात्र सद्विद्या की ओर अग्रसर साधक अणु। नयी भूमिका में प्रवेश। गुरु की कृपा से भी शक्तिपात होता है। शक्तिपात से नित्योदित समावेश।

शाक्त विसर्ग—चित्त संबोधरूप। भेदाभेद प्रधान। विश्व की उन्मुखता आत्मसंवित् शक्ति की ओर होती है। शक्ति+अणु। संकुचित ज्ञानात्मक चित्त की संवित्ति (ज्ञान) में विश्रान्ति की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यही चित्त संबोध है।

शाम्भव विसर्ग—चित्तप्रलय रूप। इसमें चित्तका लय हो जाता है। कौलिकी विसर्ग शक्ति (शम्भोः अयम्) शाम्भव भाव में लीन हो जाती है। यह उच्च अवस्था है। अभेदप्रधान। स्वात्मसंवित् में विश्रान्ति।

शिव—अनवच्छिन्नप्रकाश, स्वतन्त्र। उपायके विना स्वात्म प्रकाशन में समर्थ। शैवतन्त्र का सर्वोच्च शक्तिमान् तत्त्व। विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण। वह सबमें है। सब कुछ उसमें शयन करता है और सब में वह।

शुद्धविद्या—शुद्ध अध्वाका ५ वाँ तत्त्व। इदम् इदम्—अहम् अहम् की विमर्श भूमि।

शुद्धि—तन्मयी भाव से अप्रच्युति 'शिव में स्थिति' १—सापेक्ष शुद्धि वस्तु की जल अग्नि आदि के स्पर्श से शुद्धि। २—शिवात्मिका शुद्धि (भाव शुद्धि)। शुद्धि वस्तु का धर्म नहीं।

श्रीकाली—परा, अपरा, परापरा और मातृसद्भावकर्षणी इन चार शक्तियों की सृष्टि, स्थिति संहार अवस्थाओं के संयोजन से १२ शक्तियाँ होती

हैं। इन १२ शक्तियों के चक्रमें ही सारा विश्व घूमता है। शिव से लेकर धरापर्यन्त यह प्रत्याहार बनता है। इस चक्र के ईश्वर शिव है। शिव के स्वातन्त्र्य को पुष्ट करने वाली ये शक्तियाँ ही श्री काली कहलाती हैं।

श्रीकालिका—कल धतु का शब्द, क्षेप, संख्या, गति, विसर्ग, संहार, गणना, जानना, आकलन करना आदि आदि अर्थ होते हैं। यही अर्थमयी शक्तियाँ काली हैं या श्री कालिका कहलाती हैं। प्रमातृप्रमेयात्म जगत् का आकलन करने वाली शक्ति।

षट्त्रिंशत्तत्त्वस्वरूपज्ञ—पृथ्वी से शिवपर्यन्त ३६ तत्त्व इस दर्शन में माने जाते हैं। इन तत्त्वों का जानने वाला तत्त्वज्ञ। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नभ, ५ तन्मात्र, १० इन्द्रिय, अहङ्कार, मन, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष, माया, कला, विद्या, राग, काल और नियति, सद्विद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव। इन ३६ तत्त्वों का ज्ञाता शैव साधक।

सत्तर्क—सच्चा तर्क। शुद्ध विकल्प। दुर्भेद्य भेदवाद को काटने वाला कुठार। जागतिक तर्कों से विलक्षण। पशुत्त्व को नष्ट करने वाली भावना रूपी कामधेनु। पाशबद्धता पर गिरने वाला वैचारिक वज्र।

सदागम—सच्चा आगम। शैवागम। हेय और उपादेयके विज्ञानसे परिपूर्ण आगम। आगम=परम्परा से आने वाला शास्त्र।

सद्गुरूपदेश—शैव शास्त्र रूप सद्गुरु परमेश्वर का उपदेश। शैवागम के सिद्धान्त।

समाधि—वेद्य-वेदक भावका विगलन। अन्तिम योगाङ्ग। संप्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। निमीलन समाधि जब वेद्य का विगलन हो जाय।

संवित्—चेतना शक्ति, प्राण का पूर्वरूप (प्राक् संवित् प्राणे परिणता) 'अर्थप्रकाशरूपा' मध्य (संविदेव भगवती मध्यम्) अवरोह क्रममें बुद्धि देहादि सहस्राधिक नाडीचक्र में अनुस्यूत। पलाश के पते की बीच की रेखा की तरह विश्व-पत्रके बीच में विद्यमान। सभी वृत्तियों की उत्स तथा सभी का विश्रान्ति स्थल।

संस्कार—दो प्रकार का १—उपायान्तर सापेक्ष २—अन्य उपयों से निरपेक्ष। सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट दो प्रकार के उपाय आणव ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। विकल्पों को शुद्ध करने के संस्कार आवश्यक हैं। दर्पण

की धूलिको साफ करना संस्कार है। मनके मालिन्य को साफ करना संस्कार है।

सर्वज्ञ ज्ञानवर्जित—सर्वज्ञ=सर्व ज्ञातृत्व सम्पन्न शिव। सर्वज्ञान शिव का वास्तविक बोध। उससे रहित वैष्णव आदि सम्प्रदायवादी। परमतत्त्व के ज्ञान से रहित। पारमार्थिकतत्त्व से अपरिचित।

सातिशय—अतिशय के सहित। बढ़ाचढ़ा हुआ। मूल स्वरूप से अतिशय अवस्थाको प्राप्त। बलवान्। विशिष्ट।

सामर्थ्य—शक्ति। स्वातन्त्र्य। क्षमता, सहिष्णुता, स्व में सर्वका उल्लास ही सामर्थ्य है।

सांसिद्धिकता—(सं+सिद्ध+(इक)=तस्) स्वप्रत्ययात्मक। स्वतः संसिद्ध होने के कारण गुरु और शास्त्रकी अपेक्षा नहीं। स्वतः उद्भूतता, स्वयं प्रवृत्त तर्क सांसिद्धिक होता है। संसिद्धि से जन्म से आया हुआ। १—गुरु आचार्य ७ प्रकार के होते है। सांसिद्धिक ४ थी कोटि है।

> गुरुशास्त्रानपेक्षं च यस्यैतत् स्वयमुद्भवेत्।
> स सांसिद्धिक इत्युक्तः तत्त्वनिष्ठो महामुनिः॥

सूर्यात्मक परामर्शत्रय—'अ', 'इ' और 'उ'। अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष तीन शक्तियों से क्रमशः 'अ', 'इ' और 'उ' का परामर्श। सोमात्मक परामर्शत्रय 'आ', 'ई' और 'ऊ'

अनुत्तर में	विश्रन्ति	आनन्द। आनन्द का	परामर्श	'आ'
इच्छा में	,,	ईशन। ईशन का	,,	'ई'
उन्मेष में	,,	ऊर्मि। ऊर्मि का	,,	'ऊ'

स्थान प्रकल्पन—प्राण, शरीर और बाह्यविस्तार यह सब स्थान है। इसी का प्रकल्पन स्थान प्रकल्पन है। यह सक्रम होता है।

स्पन्द—विमर्श, लहराव, स्फुरण, जीवन का उत्स। 'स्व' के विमर्श का उन्मेष। विकास और संकोच का आदि कारण, अर्थ किया।

स्वरूपाख्याति—स्व+रूप+अ+ख्याति। द्वैत में अधिवास के कारण 'स्व' रूप की ख्याति नहीं होती। 'स्व' रूप की ख्याति हो जाने पर द्वैत में अधिवास समाप्त हो जाता है। ग्राह्य-ग्राहक का ज्ञान ही अख्याति है।

अख्याति—शिवकी संकोच शक्ति। संकोच शक्ति के द्वारा शिव अपने 'स्व' को विस्मृत कर देता है। यही 'स्व' रूप की अख्याति है। अख्याति अवरोह क्रम में होती है।

स्वभाव—सर्व (स्व) भाव परमेश्वर के तेज से परिपूर्ण संविद् अग्निमें हवन करना ही स्वभाव को प्राप्त करने का उपाय है। (स्+उ+अ+भू+इ)स्=विसर्ग, सृष्टि का सीत्कार। उ=उन्मेष। अ=अनुत्तर। भू=उत्पत्ति का उल्लास) इन समस्त रहस्यात्मक वर्णों का पुंजीभूत अर्थ=सृष्टि के उन्मेष से समन्वित अमृततत्त्व का उल्लास=स्वभाव।

स्वातन्त्र्य—ऐश्वर्य। परमेश्वर की पराशक्ति। चिद् का रहस्यज्ञान स्वातन्त्र्य के अभाव में नहीं हो सकता। सर्वकर्तृत्व सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व नित्यत्व और सर्वव्यापकत्व की शक्ति का उत्स। स्वतंत्रका भाव। संकोच विकास की स्वेच्छा शक्ति। प्रकाश के स्वातन्त्र्य को आनन्द शक्ति कहते हैं।

हेय—मल, कर्म, माया, अखिल मायीय प्रपंच ये सभी हेय हैं। मा. वि. १।१६ छोड़ने योग्य। हा धातु=त्याग+यत् (य)=ईद्यति ६।४।६५=हेय।

होम—हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना-स्रुचा।

चेतना की स्रुवा से मानस यज्ञ। याग=स्वात्मविलय।

> यत्रेन्धनं द्वैतवनं, मृत्युरेव महापशुः।
> अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे॥

द्वैत के इन्धन को चित् की आग से जला देना तथा मृत्यु महापशु की बलि देना ही वास्तविक होम है।